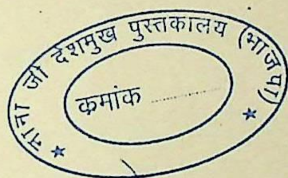


समर्पण

का० प्र० जायसवालकी स्नेह-पूर्ण स्मृतिमें
जिनके शब्द पुस्तक लिखते वक्त
बराबर कानोंमें गूँजते थे, और
जिन्हें सुनानेकी उत्कंठा-
में कितनी ही बार मैं
भूल जाता था, कि
सुनने वाला
चिर-निद्रा-
विलीन
है।



भूमिका

मानवका अस्तित्व पृथ्वीपर यद्यपि लाखों वर्षोंसे है, किन्तु उसके दिमाग की उड़ानका सबसे भव्य-युग ५०००-३००० ई० पू० है, जब कि उसने खेती, नहर, सौर-पंचांग आदि आदि कितने ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा समाजकी कायापलट करनेवाले आविष्कार किए। इस तरहकी मानव-मस्तिष्ककी तीव्रता हम फिर १७६० ई० के बादसे पाते हैं, जब कि आधुनिक आविष्कारोंका सिलसिला शुरू होता है। किन्तु दर्शनका अस्तित्व तो पहिले युगमें था ही नहीं, और दूसरे युगमें वह एक बूढ़ा बुजुर्ग है, जो अपने दिन बिता चुका है; बूढ़ा होनेसे उसकी इज़्ज़त की जाती ज़रूर है, किन्तु उसकी बातकी ओर लोगोंका ध्यान तभी खिंचता है, जब कि वह प्रयोग-आश्रित चिन्तन––साइंस––का पल्ला पकड़ता है। यद्यपि इस बातको सर राधाकृष्णन् जैसे पुराने ढर्रेके "धर्म-प्रचारक' माननेके लिए तैयार नहीं हैं, उनका कहना है—

"प्राचीन भारतमें दर्शन किसी भी दूसरी साइंस या कलाका लग्गू-भग्गू न हो, सदा एक स्वतंत्र स्थान रखता रहा है।"[१] भारतीय दर्शन साइंस या कलाका लग्गू-भग्गू न रहा हो, किन्तु धर्मका लग्गू-भग्गू तो वह सदासे चला आता है, और धर्मकी गुलामीसे बदतर गुलामी और क्या हो सकती है ?

३०००-२६०० ई० पू० मानव-जातिके बौद्धिक जीवनके उत्कर्ष नहीं अपकर्षका समय है; इन सदियोंमें मानवने बहुत कम नए आविष्कार किए। पहिलेकी दो सहस्राब्दियोंके कड़े मानसिक श्रमके बाद १०००-७०० ई० पू० में, जान पड़ता है, मानव-मस्तिष्क पूर्ण विश्राम लेना चाहता

---

[१] Indian Philosophy, vol. I., p. 22

था, और इसी स्वप्नावस्थाकी उपज दर्शन है; और इस तरहका प्रारंभ निश्चय ही हमारे दिलमें उसकी इज़्ज़त को बढ़ाता नहीं घटाता है। लेकिन, दर्शनका जो प्रभात है, वही उसका मध्याह्न नहीं है। दर्शनका सुवर्णयुग ७०० ई० पू० से बादकी तीन और चार शताब्दियाँ हैं, इसी वक्त भारतमें उपनिषद्से लेकर बुद्ध तकके, और यूरोपमें थेल्से लेकर अरस्तू तकके दर्शनोंका निर्माण होता है। यह दोनों दर्शन-धाराएँ आपसमें मिलकर विश्वकी सारी दर्शन-धाराओंका उद्गम बनती हैं—सिकन्दरके बाद किस तरह यह दोनों धाराएँ मिलती हैं, और कैसे दोनों धाराओंका प्रतिनिधि नव-अफलातूनी दर्शन आगे प्रगति करता है, इसे पाठक आगे पढ़ेंगे।

दर्शनका यह सुवर्णयुग, यद्यपि प्रथम और अन्तिम आविष्कारयुगोंकी समानता नहीं कर सकता, किन्तु साथ ही यह मानव-मस्तिष्ककी निद्राका समय नहीं था। कहना चाहिए, इस समयका शक्तिशाली दर्शन अलग-थलग नहीं बल्कि एक बहुमुखीन प्रगतिकी उपज है। मानव-समाजकी प्रगतिके बारेमें हम अन्यत्र[१] बतला आए हैं, कि सभी देशोंमें इस प्रगतिके एक साथ होनेका कोई नियम नहीं है। ६०० ई० पू० वह वक्त है, जब कि मिश्र, मसोपोतामिया और सिन्धु-उपत्यकाके पुराने मानव अपनी आसमानी उड़ानके बाद थककर बैठ गए थे; लेकिन इसी वक्त नवागंतुकोंके मिश्रणसे उत्पन्न जातियाँ—हिन्दू और यूनानी—अपनी दिमागी उड़ान शुरू करती हैं। दर्शन-क्षेत्रमें यूनानी ६००-३०० ई० पू० तक आगे बढ़ते रहते हैं, किन्तु हिन्दू ४०० ई० पू०के आसपास थककर बैठ जाते हैं। यूरोपमें ३००ई०पू० मेंही अँधेरा छा जाताहै, और १६०० ई० में १९ शताब्दियोंके बाद नया प्रकाश (पुनर्जागरण) आने लगता है, यद्यपि इसमें शक नहीं इस लंबे कालकी तीन शताब्दियों—९००-१२०० ई०—में दर्शनकी मशाल बिल्कुल बुझती नहीं, बल्कि इस्लामिक दार्शनिकोंके हाथमें वह बड़े जोरसे जलती रहती है, और पीछे उसीसे आधुनिक यूरोप अपने दर्शनके प्रदीपको

---

[१] "मानव-समाज"।

जलानेमें सफल होता है। उधर दर्शनकी भारतीय शाखा ४०० ई० पू०की बादकी चार शताब्दियोंमें राखकी ढेरमें चिंगारी बनी पड़ी रहती है। किन्तु ईसाकी पहिलीसे छठी शताब्दी तक—विशेषकर पिछली तीन शताब्दियोंमें—वह अपना कमाल दिखलाती है। यह वह समय है, जब कि पश्चिममें दर्शनकी अवस्था अब्तर रही है। नवींसे बारहवीं सदी तक भारतीय दर्शन इस्लामिक दर्शनका समकालीन ही नहीं समकक्ष रहता है, किन्तु उसके बाद वह ऐसी चिर-समाधि लेता है, कि आजतक भी उसकी समाधि खुली नहीं है। इस्लामिक दर्शनके अवसानके बाद यूरोपीय दर्शनकी भी यही हालत हुई होती, यदि उसने सोलहवीं सदीमें[१] धर्मसे अपनेको मुक्त न किया होता।—सोलहवीं सदी यूरोपमें स्कोलास्तिक—धर्मपोषक—दर्शनका अन्त करती है, किन्तु भारतमें एकके बाद स्कोलास्तिक दाकतर पैदा होते रहे हैं, और दर्शनकी इस दासताको वह गर्वकी बात समझते हैं। यह उनकी समझमें नहीं आता, कि साइंस और कलाका सहयोगी बननेका मतलब है, जीवित प्रकृति—प्रयोग—का जबर्दस्त आश्रय ग्रहण कर अपनी सृजनशक्तिको बढ़ाना; जो दर्शन उससे आज़ादी चाहता है, वह बुद्धि, जीवन और खुद आज़ादीसे भी आज़ादी चाहता है।

विश्वव्यापी दर्शनकी धाराको देखनेसे मालूम होगा, कि वह राष्ट्रीयकी अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय ज़्यादा है। दार्शनिक विचारोंके ग्रहण करनेमें उसने कहीं ज़्यादा उदारता दिखलाई, जितना कि धर्मने एक दूसरे देशके धर्मोंको स्वीकार करनेमें। यह कहना गलत होगा, कि दर्शनके विचारोंके पीछे आर्थिक प्रश्नोंका कोई लगाव नहीं था, तो भी धर्मोंकी अपेक्षा वह बहुत कम एक राष्ट्रके स्वार्थको दूसरेपर लादना चाहता रहा; इसीलिए हम जितना गंगा, आमू-दजला और नालंदा-बुखारा-बगदाद-कार्दोवाका स्वतंत्र स्नेह-पूर्ण समागम दर्शनोंमें पाते हैं, उतना साइंसके क्षेत्रसे अलग कहीं नहीं पाते। हमें अफसोस है, समय और साधनके अभावसे हम चीन-जापानकी दार्शनिक

---

[१] देखिए परिशिष्ट "दार्शनिकोंका काल-क्रम"।

धाराको नहीं दे सके; किंतु वैसा होनेपर भी इस निष्कर्षमें तो कोई अन्तर नहीं पड़ता कि दर्शनक्षेत्रमें राष्ट्रीयताकी तान छेड़नेवाला खुद धोखेमें है और दूसरोंको धोखेमें डालना चाहता है ।

मैंने यहाँ दर्शनको विस्तृत भूगोलके मानचित्रपर एक पीढ़ीके बाद दूसरी पीढ़ीको सामने रखते हुए देखनेकी कोशिश की है, मैं इसमें कितना सफल हुआ हूँ, इसे कहनेका अधिकारी मैं नहीं हूँ । किन्तु मैं इतना ज़रूर समझता हूँ, कि दर्शनके समझनेका यही ठीक तरीका है, और मुझे अफसोस है कि अभी तक किसी भाषामें दर्शनको इस तरह अध्ययन करनेका प्रयत्न नहीं किया गया है ।——लेकिन इस तरीकेकी उपेक्षा ज़्यादा समय तक नहीं की जा सकेगी, यह निश्चित है ।

पुस्तक लिखनेमें जिन ग्रंथोंसे मुझे सहायता मिली है, उनकी तथा उनके लेखकोंकी नामावली मैंने पुस्तकके अन्तमें दे दी है । उनके ग्रंथोंका मैं जितना ऋणी हूँ, उससे कृतज्ञता-प्रकाशन द्वारा मैं अपनेको उऋण नहीं समझता——और वस्तुतः ऐसे ऋणके उऋण होनेका तो एक ही रास्ता है, कि हिन्दीमें दर्शनपर ऐसी पुस्तकें निकलने लगें, जिससे "दर्शन-दिग्दर्शन"को कोई याद भी न करे । प्रत्येक ग्रंथकारको, मैं समझता हूँ, अपने ग्रंथके प्रति यही भाव रखना चाहिए ।—अमरता ? बहुत भारी भ्रमके सिवा और कुछ नहीं है ।

पुस्तक लिखनेमें पुस्तकों तथा आवश्यक सामग्री सुलभ करनेमें भदन्त आनंद कौसल्यायन और पंडित उदयनारायण तिवारी, एम० ए०, साहित्य-रत्नने सहायता की है, शिष्टाचारके नाते ऐसे आत्मीयोंको भी धन्यवाद देता हूँ ।

सेंट्रल जेल, हजारीबाग
२५-३-१९४२

राहुल सांकृत्यायन

दर्शन-दिग्दर्शन

विषय-सूची

१. यूनानी दर्शन

प्रथम अध्याय

२. इस्लामिक दर्शन

द्वितीय अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

पूर्वी इस्लामी दार्शनिक (२)

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

३. यूरोपीय दर्शन

दशम अध्याय

एकादश अध्याय

द्वादश अध्याय

पंचदश अध्याय

षोडश अध्याय

अनीश्वरवादी दर्शन

एकोनविंश अध्याय

गौडपाद और शंकर

पूर्वार्ध

१—यूनानी दर्शन

दर्शन-दिग्दर्शन

प्रथम अध्याय

१—यूनानी दर्शन

यूनान या यवन एक प्रदेशके कारण पड़ा सारे देशका नाम है, जिस तरह कि सिन्धुसे हिन्दुस्तान और पारससे पारस्य (ईरान)। वस्तुतः इवन या यवन उन पुरियों (अथेन्स आदि)का नाम था, जो कि क्षुद्र-एसिया (आधुनिक एसियाई तुर्की) और युरोपके बीचके समुद्रमें पड़ती थीं। इन पुरियोंके नागरिक नाविक-जीवन और व्यापारमें बहुत कुशल थे; और इसके लिये वे दूर-दूर तककी सामुद्रिक और स्थलीय यात्रायें करते रहते थे। ईसापूर्व छठीं-सातवीं शताब्दियोंमें इन यवनी पुरियोंकी यह सरगर्मी ही थी, जिससे बाहरी दुनियाको इनका पता लगा और उन्हींके नामपर सारा देश यवन या यूनान कहा जाने लगा।

यूनान उस वक्त व्यापारके लिये ही नहीं, शिल्प और कलाके लिये भी विख्यात था और उसके दक्ष कारीगरोंके हाथोंकी बनी चीजोंकी बहुत माँग थी। यवन व्यापारी दूसरे देशोंमें जाकर, सिर्फ सौदेका ही परिवर्तन नहीं करते थे, बल्कि विचारोंका भी दान-आदान करते थे, जो कि ईसा-पूर्वकी तीसरी-दूसरी सदियोंके 'कार्ला' आदि गुफाओंमें अंकित उनके बौद्ध मठोंके लिये दिये दानोंसे सिद्ध है। किन्तु यह पीछेकी बात है, जिस समयकी बात हम कह रहे हैं, उस समय मिश्र, बाबुलकी सभ्यतायें बहुत पुरानी और सम्माननीय समझी जाती थीं। यवन सौदागरोंने इन पुरानी

सभ्यताओंसे प्राकृतिक-विज्ञान, ज्योतिष, रेखा-गणित, अंक-गणित, वैद्यककी कितनी ही बातें सीखीं और सीखकर एक अच्छे शिष्यकी भाँति उन्हें आगे भी विकसित किया। इसी विचार-विनिमयका दूसरा परिणाम था यूनानी-दर्शनकी सबसे पुरानी शाखा-युनिक सम्प्रदाय (थेल, अनक्सिमन्दर, अनक्सिमन, आदि)का प्रादुर्भाव।

§१—तत्त्वजिज्ञासु युनिक दार्शनिक (६०० से ४०० ई० पू०)

युनिक दार्शनिकोंकी जिज्ञासाका मुख्य लक्ष्य था उस मूलतत्त्वका पता लगाना, जिससे विश्वकी सारी चीजें बनी हैं। वे सिर्फ कल्पनाके ही आकाशमें उड़नेवाले नहीं थे, बल्कि उनमें, **अनक्सिमन्दरको** हम उस वक्तकी ज्ञात दुनियाका नकशा बनाते देखते हैं, यही नकशा बहुत समय तक व्यापारियोंके लिये पथ-प्रदर्शकका काम देता रहा। इस प्रकार हम देखते हैं, कि ये दार्शनिक व्यवहार या वैज्ञानिक प्रयोगोंसे अपनेको अलग-थलग रखना नहीं चाहते थे।

उपनिषद्के दार्शनिकोंको भी हम इससे एक सदी पहले यह बहस करते पाते हैं कि 'विश्वका मूल उपादान क्या है—जिस एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान होता है।' हमारे यहाँ[1] किसीने अग्निको मूलतत्त्व कहा, किसीने आकाशको, किसीने वायुको, और किसीने आत्मा या ब्रह्मको। युनिक दार्शनिक थेल, (६४०-५२५ ई० पू०)का कहना था, कि "पानी ही प्रथम तत्त्व[2] है। अनक्सिमन्दर (६१०-५४५ ई० पू०)का कहना था, कि भूतोंके जिन स्थूल सान्त-रूपको हम देखते हैं, मूलतत्त्वको उनसे अत्यन्त सूक्ष्म होना चाहिए। उसने इसका नाम 'अनन्त' और 'अनिश्चित' रखा। इसी 'अनन्त' और 'अनिश्चित' तत्त्वसे आग, हवा, पानी, मिट्टी—मूलतत्त्व बने हैं। अनक्सिमन (५९०-५२५ ई० पू०) भी पानीको मूलतत्त्व मानता था।

---

[1] देखो पृष्ठ ४५२ (अग्नि), ४८० (वायु)। [2] (आप एव अग्र आसन्)

इन पुराने युनिक दार्शनिकोंमें हम एक खास बात यह देखते हैं, कि वह यह प्रश्न नहीं उठाते, कि इन तत्त्वोंको किसने बनाया ! उनका प्रश्न है 'ये कैसे बने ?' भारतमें इनके समकालीन **चार्वाक** और **बुद्धको** भी किसी बनानेवाले विधाताके प्रश्नको नहीं छेड़ते देखते हैं। इन युनिक दार्शनिकोंके लिए जीवन महाभूतसे अलग चीज़ न थी, जिसके लिए कि एक पृथक् **चालक** चेतनशक्तिकी ज़रूरत हो। गरजते-बादल, चलती-नदी, लहराता-समुद्र, हिलता-वृक्ष, काँपती-पृथ्वी, उनकी निर्जीवता नहीं, सजीवताको साबित करती हैं। इसीलिए भूतोंसे परे किसी **अन्तर्यामी**को जाननेका सवाल उन्होंने नहीं उठाया।

ये थे युनिक दार्शनिक, जिन्होंने पाश्चात्य दर्शनके विकासमें पहिला प्रयास किया।

§ २–बुद्धिवाद

पिथागोर (५७०-५०० ई० पू०)—युनिक दार्शनिकोंके बाद अगले विकासमें हम विचारकोंको और सूक्ष्म तर्क-वितर्ककी ओर लगे देखते हैं। युनिक दार्शनिक महाभूतोंके किनारे-किनारे आगे बढ़ते हुए मूल-तत्त्वकी खोज कर रहे थे। अब हम पिथागोर जैसे दार्शनिकोंको किनारेसे छलाँग मारकर आगे बढ़ते देखते हैं। पिथागोर भी केवल दार्शनिक न था, वह अपने समयका श्रेष्ठ गणितज्ञ था। कहते हैं, वह भारत आया—या यहाँके विचारोंसे प्रभावित हुआ था और यहींसे उसने पुनर्जन्मका सिद्धान्त (और शायद शारीरक ब्रह्मको भी) लिया था। जो भी हो, उपनिषद्के ऋषियोंकी भाँति वह भी ठोस विश्वको छोड़कर कल्पना-जगत्में उड़ना चाहता था, यह उसके दर्शनसे स्पष्ट है। इस प्रकारके दर्शनको भारतीय परम्परामें **विज्ञानवाद** कहते हैं। पिथागोर मूलतत्त्वको ढूँढ़ते हुए, स्थूल व्यक्तिको छोड़ **आकृति**की ओर दौड़ता है। उसका कहना था, महाभूत मूलतत्त्व नहीं है, न उनके सूक्ष्म रूप ही। मूलतत्त्व—पदार्थ—है आकृति या आकार। वीणाके तारकी लम्बाई और उसके स्वरका खास सम्बन्ध है।

अंगुलीसे दबाकर जितनी लम्बाई या आकारका हम इस्तेमाल करते हैं, उसीके अनुसार स्वर निकलता है। वीणाके तारकी लम्बाईके दृष्टान्तका पिथागोरके दर्शनमें बहुत ज्यादा उपयोग किया गया है। शरीरके स्वास्थ्य-के बारेमें भी उसका कहना था, "वह **आकृति** (लम्बाई, चौड़ाई, मोटाईके खास परिमाण)पर निर्भर है।" इस तरह पिथागोर इस निष्कर्षपर पहुँचा, कि 'मूलतत्त्व आकृति है।' आकृति (लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई) चूँकि संख्या (गिनती)में प्रकट की जा सकती है, इसीलिए महावाक्य प्रसिद्ध हुआ, "सभी चीजें संख्यायें हैं" और इस प्रकार हमारे यहाँके वैयाकरणोंके 'शब्द-ब्रह्म'की भाँति, पिथागोरका 'संख्या-ब्रह्म' प्रसिद्ध हुआ। उस समयके यूनानी संख्या-संकेत भी कई विन्दुओंको खास आकृतिमें रख-कर लिखे जाते थे—यही बात हमारे यहाँकी ब्राह्मी-लिपिकी संख्याओंपर भी लागू थी, जिसमें कि पाइयों की संख्या बढ़ाकर संख्या-संकेत होता था। इससे भी 'संख्या-ब्रह्म'के प्रचारमें पिथागोरके अनुयायियोंको आसानी पड़ी। विन्दु, रेखाओंको बनाते हैं; रेखायें, तलको; और तल, ठोस पदार्थ को; गोया विन्दु या संख्या ही सबकी जड़ है।

युनिक दार्शनिकोंकी विचार-धारा अगली चिन्तन-धाराको गति देकर विलीन हो गई, किंतु पिथागोरकी विचार-धाराने एक दर्शन-सम्प्रदाय चलाया, जो कई शताब्दियों तक चलता रहा और आगे चलकर अफलातूँ—अरस्तूके दर्शनका उज्जीवक हुआ।

१—अद्वैतवाद

ईरानके शहंशाह **कोरोश्** (५५०-५२९ ई० पू०)ने क्षुद्र-एसियाको जीतकर जब युनिक पुरियोंपर भी अधिकार कर लिया, तो उस वक्त कितने ही यूनानी इधर-उधर भाग गये, जिनमें पिथागोरके कुछ अनु-यायी एलिया (दक्षिणी इताली)में जा बसे। पिथागोरकी शिक्षा सिर्फ दार्शनिक ही नहीं थी, बल्कि बुद्ध और बर्द्धमानकी भाँति वह एक धार्मिक सम्प्रदायका संस्थापक था, जिसके अपने मठ और साधक होते थे। किंतु

एलियाके विचारक शुद्ध दार्शनिक पहलूपर ज्यादा जोर देते थे। इनका दर्शन **स्थिरवाद** था, अर्थात् परिवर्तन केवल स्थूल-दृष्टिसे दीखता है, सूक्ष्म-दृष्टिसे देखनेपर हम स्थिर-तत्त्वों, या तत्त्वोंपर ही पहुँचते हैं।

(१) **क्सेनोफेन्** (५७०-४८० ई० पू०)—एलियाके दार्शनिकोंमें क्सेनोफेन्‌का देवताओंके विरुद्ध यह वाक्य बहुत प्रसिद्ध है—"मर्त्य (मनुष्य) विश्वास करते हैं कि देवता उसी तरह अस्तित्वमें आये जैसे कि हम, और देवताओंके पास भी इंद्रियाँ, वाणी, काया है, किंतु यदि बैलों या घोड़ोंके पास हाथ होते, तो बैल, देवताओंको बैलकी शकलके बनाते; घोड़े, घोड़ेकी तरह बनाते। इथोपिया (अबीसीनिया) वाले अपने देवताओंको काले और चिपटी नाकवाले बनाते हैं और थ्रेसवाले अपने देवताओंको रक्तकेश, नील-नेत्र वाले।" क्सेनोफेन् ईश्वरको साकार, मनुष्य जैसा माननेके बिल्कुल विरुद्ध था, तथा बहुदेववादको भी नहीं चाहता था, वह मानता था, कि "एक महान् ईश्वर है, जो काया और चिन्तन दोनोंमें मर्त्य जैसा नहीं है।" वह उपनिषद्‌के ऋषियोंकी भाँति कहता था—"सब एकमें है और एक ईश्वर है।" इस वाक्यके प्रथम भागमें एकेश्वरवाद आया है और दूसरेमें ब्रह्म-अद्वैत। वह अपने ब्रह्म-वादके बारेमें स्पष्ट कहता है—"ईश्वर जगत् है, वह शुद्ध (केवल) आत्मा नहीं है, बल्कि सारी प्राणयुक्ति प्रकृति (वही) है।" अर्थात् वह रामानुजसे भी ज्यादा स्पष्ट शब्दोंमें ईश्वर और जगत्‌की अभिन्नताको मानता था, साथ ही शंकरकी भाँति प्रकृतिसे इन्कार नहीं करता था।

(२) **परमेनिद्** (५४०-४८० ई० पू०)—एलियाके दार्शनिकोंमें दूसरा प्रसिद्ध पुरुष परमेनिद् हुआ। 'न सत्‌से असत् हो सकता है और न असत्‌से सत्‌की उत्पत्ति कभी हो सकती'; गोया इसी वाक्यकी प्रति-ध्वनि हमें वैशेषिक[१] और भगवद्‌गीता[२]में मिलती है। इस तरह वह इस परिणामपर पहुँचा, कि जगत् एक, अ-कृत, अ-विनाशी, सत्य वस्तु है।

[१] **"नासदः सदुत्पत्तिः"**। [२] **"नासतो विद्यते भावः"** (गीता २।१६)

गति या दूसरे जो परिवर्तन हमें जगत्में दिखलाई देते हैं, वह भ्रम हैं।

(३) ज़ेनो (४९०-३० ई० पू०)—एलियाका एक राजनीतिज्ञ दार्शनिक था। सभी एलियातिक दार्शनिकोंकी भाँति वह स्थिर अद्वैत-वादी था। बहसमें वाद, प्रतिवाद, संवाद या द्वन्द्ववादका प्रयोग पहिले-पहिल ज़ेनोहीने किया था (यद्यपि उसका वैसा करना स्थिरवादकी सिद्धिके लिये था, क्षणिक-वादके लिये नहीं), इसलिए ज़ेनोको द्वन्द्ववादका पिता कहते हैं।

सारे एलियातिक दार्शनिक, इन्द्रिय-प्रत्यक्षको वास्तविक ज्ञानका साधक नहीं मानते थे, उनका कहना था कि सत्यका साक्षात्कार चिन्तन—विज्ञान-से होता है, इंद्रियाँ केवल भ्रम उत्पादन करती हैं। वास्तविकता एक अद्वैत है, जिसका साक्षात्कार इन्द्रियों द्वारा नहीं, चिन्तन-द्वारा ही किया जा सकता है।

एलियातिकोंका दर्शन स्थिर-विज्ञान-अद्वैतवाद है।

२—द्वैतवाद

अद्वैतवादी एलियातिक चाहे स्वतः इस परिणामपर पहुँचे हों, अथवा बाहरी (भारतीय) रहस्यवादी प्रभावके कारण; किन्तु अपनेसे पहिलेवाले 'थेल' आदि दार्शनिकोंकी स्वदेशी धारासे वह बहुत भिन्नता रखते थे, इसमें संदेह नहीं। इन अद्वैतवादियोंके विरुद्ध एक दूसरी भी विचारधारा थी, जो स्थिरवादी होते हुए भी परिवर्तनकी व्याख्या अपने द्वैतवादसे करती थी—अर्थात् मूलतत्त्व, अनेक, स्थिर, नित्य हैं, किन्तु उनमें संयोग-वियोग होता रहता है, जिसके कारण हमें परिवर्तन दिखलाई पड़ता है।

(१) हेराक्लितु (५३५-४७५ ई० पू०)—हेराक्लितुका वही समय है, जो कि गौतम बुद्धका। हेराक्लितु भी बुद्धकी भाँति ही परिवर्तनवाद, क्षणिक-वादको मानता था। हेराक्लितुके ख्यालके अनुसार जगत्की सृष्टि और प्रलयके युग होते हैं। हर बार सृष्टि बनकर अन्तमें आग द्वारा उसका नाश होता है। भारतीय परम्परामें भी जल और अग्नि-प्रलयका

ज़िक्र आता है। यद्यपि उपनिषद् और उससे पहिलेके साहित्यमें उसका नाम नहीं है। बुद्धके उपदेशोंमें इसका कुछ इशारा मिलता है और पीछे वसुबन्धु आदि तो 'अग्नि-संवर्त्तनी'[1]का बहुत ज़ोरसे ज़िक्र करते हैं।

युनिक दार्शनिकोंकी भाँति ही हेराक्लितु भी एक अंतिम तत्त्व अग्निकी बात करता है; लेकिन उसका जोर परिवर्तन या परिणामवाद-पर बहुत ज़्यादा है। दुनिया निरन्तर बदल रही है, हर एक 'चीज़' दीप-शिखाकी भाँति हर वक्त नष्ट, और उत्पन्न हो रही है। चीजोंमें किसी तरहकी वास्तविक स्थिरता नहीं। स्थिरता केवल भ्रम है, जो परिवर्तनकी शीघ्रता तथा सदृश-उत्पत्ति (उत्पन्न होनेवाली चीज़ अपनेसे पहिलेके समान होती है)के कारण होता है। परिवर्तन विश्वका जीवन है। इस प्रकार हेराक्लितु एलियातिकोंसे बिलकुल उलटा मत रखता था। वह अद्वैती नहीं, द्वैती; स्थिरवादी नहीं, परिवर्तनवादी था।

हेराक्लितुका जन्म एफेसु[2]के एक रईस घरानेमें हुआ था, लेकिन वह समय ऐसा था, जब कि पुराने रईसोंकी प्रभुताको हटाकर, यूनानी व्यापारी वहाँके शासक बन चुके थे। हेराक्लितुके मनमें "ते हि नो दिवसा गताः"[3] की आग लगी हुई थी और वह इस स्थितिको सहन नहीं कर सकता था और समयके परिवर्तनकी जबर्दस्त हवाने उसे एक जबरदस्त परिवर्तन-वादी दार्शनिक बना दिया। शायद, यदि रईसोंका राज्य होता, तो हेराक्लितु परिवर्तनके सत्यको देख भी न पाता। हेराक्लितुने एक क्रान्ति-कारी दर्शनकी सृष्टि की, किन्तु व्यवहारमें उसकी क्रान्ति, व्यापारियोंके राज्यको उलटना भर चाहती थी। वह आजीवन रईसमिज़ाज रहा और जनतंत्रताको अत्यन्त घृणाकी दृष्टिसे देखता था, आखिर इसी जनतंत्रताने तो उसके अपने वर्गको सिंहासनसे खींचकर धूलिमें ला पटका था।

---

[1] **अभिधर्म-कोश (वसुबंधु)।** [2] Ephesus. [3] **हाय! वे हमारे दिन चले गये।**

हेराक्लितुके लेखोंके बहुत थोड़ेसे अंश मिले हैं। जगत्के निरन्तर परिवर्तनशील होनेके बारेमें वह उदाहरण देता है––"तुम उसी नदी में दो बार नहीं उतर सकते; क्योंकि दूसरे, और फिर दूसरे पानी वहाँ से सदा बह रहे हैं। जगत्की सृष्टि उसका नाश (=प्रलय) है, उसका नाश उसकी सृष्टि है। कोई चीज़ नहीं है, जिसके पास स्थायी गुण हों। संगीतका समन्वय निम्न और उच्च स्वरोंका समागम––**विरोधियोंका समागम**[1] है।"

जगत् चल रहा है, संघर्षसे; "युद्ध सबका पिता और सबका राजा है––उसके बिना जगत् खतम हो जायेगा, गति-शून्य हो मर जायेगा।"

अनित्यता या परिवर्तनके अटल नियमपर जोर देते हुए हेराक्लितु कहता है––"यह एक ऐसा नियम है, जिसे न देवताओंने बनाया, न मनुष्योंने; वह सदासे रहा है और रहेगा––एक सदा जीवित अग्नि (बनकर) निश्चित मानके अनुसार प्रदीप्त होता, और निश्चित मान के अनुसार बुझता।" **निश्चित मान** (मात्रा) या नापपर हेराक्लितुका वैसे ही बहुत जोर था, जैसा कि उसके सामयिक बुद्धका।

हेराक्लितु अनजाने ही दुनियाके ज़बर्दस्त क्रान्तिकारी दर्शन––द्वन्द्वात्मक (क्षणिक–) भौतिकवाद (मार्क्सवादीय दर्शन)का विधाता बना। बुद्ध-दर्शनका भी वही लक्ष्य था, किंतु मज़हबी भूल-भुलैयोंमें वह इतना उलझ गया कि आगे विकसित न हो सका। हेगेल्ने उसे अपने दर्शनका आधार बनाकर एक सांगोपांग गंभीर आधुनिक दर्शनका रूप दिया।

हेराक्लितुके लिए मन और भौतिक तत्त्वमें किसी एकको प्रधानता देनेकी ज़रूरत न थी। हेगेल्ने मनको प्रधानता दी––भौतिक तत्त्व नहीं, मन या विज्ञान असली तत्त्व––परिवर्तित होते हुए भी––है, और इस प्रकार वह जगत्से मनकी ओर न जाकर मनसे जगत्की ओर बढ़नेका प्रयास करते हुए द्वन्द्वात्मकवादको विज्ञानवाद ही बना शीर्षासन करा

---

[1] Unity of opposites.

रहा था। मार्क्सने उसे इस सासतसे बचाया, और दोनों पैरोंके बल, ठोस पृथ्वीपर ला रखा—भौतिकतत्त्व, 'आसमानी' विज्ञान (मन)के विकास नहीं हैं, बल्कि विज्ञान ही भौतिक-तत्त्वोंका चरम-विकास है, ऊपरसे नीचे आनेकी ज़रूरत नहीं; बल्कि नीचेसे ऊपर जानेमें बात ज्यादा दुरुस्त उतरती है।

(२) **अनक्सागोर्** (५००-४२८ ई० पू०) अनक्सागोर्ने द्वैतवाद-का और विकास किया। उसने कहा कि हेराक्लितुकी भाँति, आग जैसे किसी एक तत्त्वको मूलतत्त्व या **प्रधान** माननेकी ज़रूरत नहीं। ये **बीज** (मूल कारण) अनेक प्रकारके हो सकते हैं और उनके मिलनेसे ही सारी चीजें बनती हैं।

(३) **एम्पेदोकल्** (४८३-३० ई० पू०) अनक्सागोर्के समकालीन एम्पेदोकल्ने मूल-तत्त्वोंकी संख्या अनिश्चित नहीं रखनी चाही, और युनिक दार्शनिकोंकी शिक्षासे फायदा उठाकर अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी—ये चार "बीज" निश्चित कर दिये। यही चारों तरहके बीज एक दूसरेके संयोग और वियोगसे विश्व और उसकी सभी चीज़ोंको बनाते और बिगाड़ते रहते हैं। संयोग, वियोग कैसे संभव है; इसके लिये एम्पे-दोकल्ने एक और कल्पना की—"जैसे शरीरमें राग, द्वेष मिलने और हटनेके कारण होते हैं, उसी तरह इन बीजोंमें राग और द्वेष मौजूद हैं।" एम्पेदोकल्की ख्याली उड़ानने इस सिलसिलेमें और आगे बढ़कर कहा कि—"मूल बीज ही नहीं खुद शरीरके अंग भी पहिले अलग-अलग थे, और फिर एक दूसरेसे मिलकर एक शरीर बन गए।" उसने यह भी कहा कि—"भिन्न-भिन्न अंगोंसे मिलकर जितने प्रकार के शरीर बनते हैं, उनमें सबसे योग्यतम ही बच रहते हैं, बाकी नष्ट हो जाते हैं—" ये विचार **सेल** और **विकास**के सिद्धान्तोंकी पूर्व झलक हैं।

(४) **देमोक्रितु** (४६०-३७० ई० पू०)—देमोक्रितु यूनानी द्वैतवादी दार्शनिकोंमें ही प्रधान स्थान नहीं रखता, बल्कि अपने **परमाणुवाद**के कारण, पौरस्त्य पाश्चात्त्य दोनों दर्शनोंमें उसका बहुत ऊँचा स्थान है। भारतीय दर्शन में परमाणुवादका प्रवेश यूनानियोंके संपर्कसे ही हुआ,

इसमें संदेहकी गुंजाइश नहीं; जब कि उपनिषद् और उससे पहिलेके ही साहित्यमें नहीं, बल्कि जैन और बौद्ध **पिटकों**में भी हम उसका पता नहीं पाते। वैशेषिकदर्शन यूनानी दर्शनका भारतीय संस्करण है। क्या जाने अथेन्सका पुर-चिह्न उल्लू ही, वैशेषिकके 'औलूक्य-दर्शन' नाम पड़नेका कारण हुआ हो। इसपर आगे हम और कहेंगे। २०० ई० पू० के आस-पास जब वैशेषिकने परमाणुवादको अपनाकर भारतीय-दर्शन-क्षेत्र-में अपनी धाक जमानी चाही; तो उसके बाद किसी भी दर्शनको उसके बिना रहना मुश्किल हो गया। मध्यकालके सभी भारतीय बुद्धिवादी-दार्शनिक—न्याय, वैशेषिक, बौद्ध और जैन—परमाणुको निजी व्याख्याके साथ अपना अंग बनाते हैं। परमाणुवादको दर्शनमें ऊँचा स्थान यद्यपि देमोक्रितु[1]की लेखनीने दिलाया, किन्तु सबसे पहिले उसका ख्याल उसके गुरु लेउकिप्पू[2] (५००-४३० ई० पू०)को आया था। देमोक्रितुका जन्म ४६० ई० पू० में (बुद्धके निर्वाणके २३ साल बाद) थ्रेसके समुद्रीतट-पर स्थित अब्देराके व्यापारी नगरमें हुआ था।

परमाणुवादी देमोक्रितु एलियातिकोंसे द्वैतवादमें भेद रखता है, किन्तु वह चरम-परिवर्तनको नहीं मानता। वास्तविकता, नित्य, ध्रुव, अपरि-वर्तनशील है। साथ ही परिवर्तन भी जो दीख रहा है, वह वस्तुओंके निरंतर गतिके कारण होता है। हाँ वास्तविक तत्त्व एक अद्वैत नहीं, बल्कि अनेक—द्वैत हैं और ये मूलतत्त्व एक दूसरेसे अलग-अलग हैं, जिनके बीचकी जगह खाली—आकाश है। मूलतत्त्व अ-तो मो न् अ-छेद्य, अ-वेध्य हैं—अ-तोमोन्से ही अंग्रेजी ऐटम् (=परमाणु) शब्द निकला है।

परमाणु—परमाणु अतिसूक्ष्म अविभाज्य तत्त्व है, किन्तु वह रेखा-गणितका विन्दु या शक्ति-केन्द्र नहीं है, बल्कि उसमें परिमाण या विस्तार है; गणित द्वारा अविभाज्य नहीं, बल्कि कायिक तौरसे अविभाज्य है; अर्थात् परमाणुके भीतर आकाश नहीं है। सभी परमाणु एक आकार

---

[1] Democritus. [2] Leucippus.

परिमाण—अर्थात् एक लंबाई, चौड़ाई, मुटाई—के नहीं होते। परमाणुओंसे बने पिंडोंके आकारोंमें भेद है। परमाणुओंके आकार उनके स्थान और क्रमके कारण हैं। परमाणु-जगत्की आरम्भिक इकाइयाँ, ईंटें या अक्षर हैं। जैसे २, ३ का भेद **आकार**में है; ३, ६ का भेद **स्थिति**के कारण है—अगर ३का मुँह दूसरी ओर फेर दें तो वही ६ हो जायगा; ३६, ६३ का अंतर अंकके क्रम-भेदके कारण है। परमाणु गतिशून्य तत्त्व नहीं है, बल्कि उनमें स्वाभाविक गति होती है। परमाणु निरन्तर हरकत करते रहते हैं। इस तरह हरकत करते रहनेसे उनका दूसरोंके साथ संयोग होता है और इस तरह जगत् और उसके सारे पिंड बनते हैं। किसी-किसी वक्त ये पिंड आपसमें टकराते हैं, फिर कितने ही परमाणु उनसे टूट निकलते हैं। इस तरह देमोक्रितुका परमाणु-सिद्धान्त पिछली शताब्दीके यांत्रिक भौतिकवादसे बहुत समानता रखता है, और विश्वके अस्तित्वकी व्याख्या भौतिकतत्त्वों और गतिके द्वारा करता है। देमोक्रितु शब्द, वर्ण, रस, गन्धकी सत्ताको व्यवहारके लिये ही मानता है; नहीं तो "वस्तुतः न मीठा है न कडुवा, न ठंडा है न गरम। वस्तुतः यहाँ है परमाणु और शून्य।" इस तरह परमाणुवादी दार्शनिक बाह्य जगत् और उसकी वस्तुओंको एक भ्रम या इंद्रजालसे बढ़कर नहीं मानते।

३—सोफीवाद

कोरोश् और दारयोशके समय युनिक नगर जब ईरानियोंके हाथमें चला गया, तो कितने ही विचारके लोग इधर-उधर चले गये, यह हम बतला आये हैं। जिस तरह इस वक्त पिथागोरके अनुयायियोंने भागकर एलियामें अपना केन्द्र बनाया, उसी तरह और विचारक भी भगे, मगर उन्होंने एक जगह रहनेके बदले घुमन्तू या परिव्राजक होकर रहना पसन्द किया। इन्हें सोफी[१] या ज्ञानी कहते हैं। यद्यपि इस्लामी परिभाषामें प्रसिद्ध सूफी

---

[१] Sophist.

(अद्वैतवादी सम्प्रदाय) इसी शब्दसे निकला है, किन्तु प्राचीन यूनानके इन सोफियों और इस्लामी सूफियोंका दार्शनिक सम्प्रदाय एक नहीं है, इसलिए हम उसे यहाँ सूफी न लिख सोफी लिख रहे हैं। सोफी एक अशान्त, तितर-बितर होते समाज तथा राज्य-क्रान्तिकी उपज थे, इसलिए पहिलेसे चली आती बातोंपर उनका विश्वास कम था, उनमें ज्ञानकी बड़ी प्यास थी। वह खुद ज्ञानका संग्रह करते थे, साथ ही उसका वितरण करना भी अपना कर्त्तव्य समझते थे। उनके प्रयत्नसे ज्ञानका बहुत विस्तार हुआ, चारों ओर ज्ञानकी चर्चा होने लगी। "पुराणमित्येव न साधु सर्वं" (पुराना है इसीलिए ठीक है, यह नहीं मानना चाहिए) यह एक तरह उनका नारा था। सत्यके अन्वेषणके लिए बुद्धिको हर तरहके बन्धनोंसे मुक्त करके इस्तेमाल करनेकी बात उन्होंने लोगोंको समझाई। सोफियोंने भी अपनेसे कुछ समय पहिले गुजर गये बुद्धकी भाँति सत्यके दो भेद रूढ़ि और वास्तविक किये। रूढ़ि-सत्य ही बुद्धका संवृति (शंकरका व्यवहार) सत्य है, और वास्तविक सत्य परमार्थ-सत्य है। सोफियोंका एक महावाक्य था—"मनुष्य वस्तुओंका नाप या माप (कसौटी) है।"

सोफियोंके ज़मानेमें ही अथेन्स यूनानी दर्शनके पठन-पाठनका केन्द्र बन गया और उसने सुक्रात, अफलातूँ और अरस्तू जैसे दार्शनिक पैदा किये।

§ ३—यूनानी दर्शनका मध्याह्न

ईसा-पूर्व चौथी सदी यूनानी दर्शनका सुवर्ण-युग है। थोड़ा पहिले सुक्रातने अपने मौखिक उपदेशों द्वारा अथेन्सके तरुणोंमें तहलका मचाया था, किन्तु उसके अधूरे कामको उसके शिष्य अफलातूँ और प्रशिष्य अरस्तू-ने पूरा किया। इस दर्शनको दो भागोंमें बाँटा जा सकता है, पहिला सुक्रात गुरु-शिष्यका यथार्थवाद और दूसरा अरस्तूका प्रयोगवाद।

१—यथार्थवादी सुक्रात (४६९—३९९ ई० पू०)

सोफियोंके कितने ही विचार सुक्रात मानता था। सोफियोंकी भाँति मौखिक शिक्षा और आचार द्वारा उदाहरण देना उसे भी पसन्द थे।

वस्तुतः उसके समसामयिक भी सुक्रातको एक सोफी समझते थे। सोफियों-की भाँति साधारण शिक्षा तथा मानव-सदाचारपर वह जोर देता था और उन्हींकी तरह पुरानी रूढ़ियोंपर प्रहार करता था। लेकिन उसका प्रहार सिर्फ अभावात्मक नहीं था। वह कहता था, सच्चा ज्ञान सम्भव है बशर्तेकि उसके लिये ठीक तौरपर प्रयत्न किया जावे; जो बातें हमारी समझमें आती हैं या हमारे सामने आई हैं, उन्हें तत्सम्बन्धी घटनाओंपर हम परखें, इस तरह अनेक परखोंके बाद हम एक सच्चाईपर पहुँच सकते हैं। "ज्ञानके समान पवित्रतम कोई चीज नहीं है;"[१] वाक्यमें गीताने सुक्रातकी ही बातको दुहराया है। "ठीक करनेके लिये ठीक सोचना ज़रूर है" सुक्रातका कथन था।

बुद्धकी भाँति सुक्रातने कोई ग्रन्थ नहीं लिखा, किन्तु बुद्धके शिष्योंने उनके जीवनके समयमें कंठस्थ करना शुरू किया था, जिससे हम उनके उपदेशोंको बहुत कुछ सीधे तौरपर जान सकते हैं; किन्तु सुक्रातके उप-देशोंके बारेमें वह भी सुभीता नहीं। सुक्रातका क्या जीवन-दर्शन था, यह उसके आचरणसे ही मालूम हो सकता है, लेकिन उसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न लेखक भिन्न-भिन्न ढंगसे करते हैं। कुछ लेखक सुक्रातकी प्रसन्न मुखता और मर्यादित जीवन-उपभोगको दिखलाकर बतलाते हैं कि वह भोगवादी[२] था। **अन्तिस्थेन** और दूसरे लेखक उसकी शारीरिक कष्टोंकी ओरसे बे-पर्वाही तथा आवश्यकता पड़नेपर जीवन-सुखको भी छोड़नेके लिये तैयार रहनेको दिखलाकर उसे सादा जीवनका पक्षपाती बतलाते हैं।

सुक्रातको हवाई बहस पसंद न थी। "विश्वका स्वभाव क्या है, सृष्टि कैसे अस्तित्वमें आई या नक्षत्र जगत्‌के भिन्न-भिन्न प्राकट्य किन शक्तियोंके कारण होते हैं," इत्यादि प्रश्नोंपर बहस करनेको वह मूर्ख-क्रीड़ा कहता था।

---

[१] **"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।"** (गीता ४।३८)

[२] Hedonist.

सुक्रात अथेन्सके एक बहुत ही गरीब घरमें पैदा हुआ था। गंभीर विद्वान् और ख्याति-प्राप्त हो जानेपर भी उसने वैवाहिक सुखकी लालसा न की। ज्ञानका संग्रह और प्रसार यही उसके जीवनके मुख्य लक्ष्य थे। तरुणोंके बिगाड़ने, देवनिन्दक और नास्तिक होनेका झूठा दोष उसपर लगाया गया था और इसके लिए उसे ज़हर देकर मारनेका दंड मिला था। सुक्रातने ज़हरका प्याला खुशी-खुशी पिया और जान दे दी।

२–बुद्धिवादी अफलातूँ (४२७–३४७ ई० पू०)

अफलातूँ अथेन्सके एक रईस-घरमें पैदा हुआ था। अपने वर्गके दूसरे मेधावी लड़कोंकी भाँति उसने भी संगीत, साहित्य, चित्र और दर्शनका आरम्भिक ज्ञान प्राप्त किया। ४०७ ई० पू०में जब वह २० सालका था, तभी सुक्रातके पास आया और अपने गुरुकी मृत्यु (३९९ ई० पू०) तक उसके ही साथ रहा।

कोई भी दर्शन शून्यमें नहीं पैदा होता; वह जिस परिस्थितिमें पैदा होता है, उसकी उसपर छाप होती है। अफलातूँ रईस-घरानेका था और उस वर्गकी प्रभुताका उस वक्तके यूनानमें ह्रास हो चुका था; उसकी जगह व्यापारी शक्तिशाली बन चुके थे; इसलिए उस समयके समाजकी व्यवस्थासे अफलातूँ सन्तुष्ट नहीं हो सकता था, और जब अपने निरपराध गुरु सुक्रातको जनसम्मत शासकोंद्वारा मारे जाते देखा तो उसके मन-पर इसका और भी बुरा असर पड़ा। इस बातका प्रभाव हम उसके लोकोत्तरवादी दर्शनमें देखते हैं; जिसमें एक वक्त अफलातूँ एक रहस्यवादी ऋषि-की तरह दिखाई पड़ता है और दूसरी जगह एक दुनियादार राजनीतिककी भाँति। वह तत्कालीन समाजको हटाकर, एक नया समाज कायम करना चाहता है—यद्यपि उसका यह नया समाज भी इस लोकका नहीं, एक बिल्कुल लोकोत्तर समाज है। वह अपने समयके अथेन्ससे कितना असन्तुष्ट था, वह इस कथनसे मालूम होता है—"हालमें अथेन्समें जनतंत्रता चलाई गई। मैंने समझा था, यह अन्यायके शासनके स्थानपर न्यायका शासन

होगा। इसलिए मैं इसकी गति-विधिको बड़े ध्यानसे देखता रहा। किन्तु थोड़े ही समयके बाद मैंने इन सज्जनोंको ऐसी जनतंत्रता बनाते देखा, जिसके सामने पहिलेका शासन सुवर्णयुग था। उन्होंने मेरे बूढ़े मित्र—जिसे अत्यन्त सच्चा आदमी कहनेमें मुझे कोई संकोच नहीं—को एक ऐसे नागरिकको पकड़वानेका हुक्म दिया, जिसे कि, अपने रास्तेसे वह दूर करना चाहते थे। उनकी मंशा थी कि चाहे सुक्रात पसन्द करे या न करे, लेकिन वह नये शासनकी कार्रवाइयोंमें सहयोग दे। उसने उनकी आज्ञा माननेसे इन्कार कर दिया और इनके पापोंमें सम्मिलित होनेकी बनिस्बत वह मरनेके लिये तैयार हो गया। जब मैंने खुद यह और बहुत कुछ और देखा, तो मुझे सख्त घृणा हो गई और मैंने ऐसी शोचनीय सरकारसे नाता तोड़ लिया। पहिले मेरी बहुत इच्छा थी कि राजनीतिमें शामिल होऊँ, लेकिन जब मैंने इन सब बातोंपर विचार किया तो देखा कि राजनीतिक परि-स्थिति कितनी दुर्व्यवस्थित है" इस तरह सोचकर अफलातूँने इस लोकके समाजके निर्माणमें तो भाग नहीं लिया, किंतु उसने एक उटोपियन—दिमागी या हवाई—प्रजातन्त्र ज़रूर तैयार करना चाहा और घोषित किया—"मानव-जाति बुराइयोंसे तबतक बच नहीं सकती, जबतक कि वास्तविक दार्शनिकोंके हाथमें राजनीतिक शक्ति नहीं चली जाती अथवा कोई योजना (चमत्कार) ऐसा नहीं होता जिसमें कि राजनीतिज्ञ ही दार्शनिक बन जायें[1]।"

अफलातूँ किस तरहका समाज चाहता था, इसे हम अन्यत्र[2] कह आये हैं, यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अफलातूँका दर्शन उस समाज-की उपज है, जिसमें जीवनोपयोगी सामग्रीका उत्पादन अधिकतर दास या कम्मी करते थे। अफलातूँका वर्ग या तो उसी तरहकी राजनीतिमें संलग्न था, जिसकी कि अफलातूँ शिकायत कर चुका है, अथवा संगीत साहित्य और दर्शनका आनन्द ले रहा था।

---

[1] Plato: Seventh Letter.   [2] **मानव-समाज, पृष्ठ ११६-२२**

अफलातूँका दर्शन––दर्शनमें अफलातूँकी प्रवृत्ति हम पहिलेके परस्पर-विरोधी दार्शनिक विचारोंके समन्वयकी ओर देखते हैं। वह सुक्रातकी इस बातसे सहमत था कि ठीकतौरसे प्रयत्न करनेपर ज्ञान (या तत्त्व-ज्ञान) सम्भव है। साथ ही वह हेराक्लितुकी रायसे भी सहमत था कि साधारण तौरसे जिन पदार्थोंका साक्षात्कार हम करते हैं वे सभी सदा बदलती, सदा बहती धारा हैं और उनके बारेमें किसी महासत्यपर नहीं पहुँचा जा सकता। वह एलियातिकोंकी भाँति एक परिवर्तनशील-जगत् (विज्ञान-जगत्)को मानता था, परमाणुवादियोंके बहुत्व (द्वैत)-वादको समर्थन करते हुए कहता था कि मूलतत्त्व––विज्ञान––बहुत हैं। इस तरह वह इस परिणामपर पहुँचा कि––"ज्ञानका यथार्थ विषय सदा––परिवर्तनशील, जगत्––प्रवाह और उसकी चीज़ें नहीं हैं, बल्कि उसका विषय है लोकातीत, अचल, एक-रस, इंद्रिय-अगोचर, पदार्थ, **विज्ञान** (=मन)" जो कि पिथागोरकी आकृतिसे मिलता-जुलता था। इस तरह पिथागोर, हेराक्लितु और सुक्रात तीनोंके दार्शनिक विचारोंका समन्वय अफलातूँके दर्शनने करना चाहा।

अफलातूँके लिये इंद्रिय-प्रत्यक्षका ज्ञानमें बहुत कम महत्त्व था। इंद्रिय-प्रत्यक्ष वस्तुओंकी वास्तविकताको नहीं प्रकट करता, वह हमें सिर्फ उनकी बाहरी झाँकी कराता है––राय सच्ची भी हो सकती है, झूठी भी; इसलिए सिर्फ राय कोई महत्त्व नहीं रखती, वास्तविक ज्ञान बुद्धि या चिन्तनसे होता है। इन्द्रियोंकी दुनिया एक घटिया-दर्जेकी 'नकली' वास्तविकता है, वह वास्तविकताका मोटा सा अटकल भर है।

ज्ञानकी प्राप्ति दो प्रकारके चिन्तनपर निर्भर है––(१) **विज्ञान**[१] (=मन) में बिखरे हुए **विशेषों**[२]का ख्यालमें लाना, (२) विज्ञानका **जाति**[३] या सामान्यके रूपमें वर्गीकरण करना। यह **सामान्य, विशेष** भारतीय न्याय वैशेषिक दर्शनमें बहुत आता है। वैशेषिक सूत्रोंके छ

---

[१] Idea. [२] Particular. [३] Archtype.

पदार्थोंमें सामान्य, विशेष, चौथे-पाँचवें पदार्थ हैं और उनका उद्गम इसी यूनानी दार्शनिक अफलातूँसे हुआ था। अफलातूँ यह भी मानता था कि जो चिन्तन ज्ञानका साधन है, उसे **विज्ञान**के रूपमें होना चाहिए; बाह्यजगत्के जो प्रतिबिंब या वेदना जिसको इन्द्रियाँ लाती हैं, उसपर चिन्तन करके हम सत्य तक नहीं पहुँच सकते।

अफलातूँ कुछ पदार्थोंको स्वतःसिद्ध[1] कहता था, इनमें गणित-संबंधी ज्ञान—संख्या, तथा तर्क-संबंधी पदार्थ—भाव, अभाव, सादृश्य, भेद, एकता, अनेकता—शामिल हैं। इनमेंसे कितने ही पदार्थोंका वर्णन वैशेषिकमें भी आता है।

ज्ञानकी परिभाषा करते हुए अफलातूँ कहता है—"विज्ञान और वास्तविकताका सामंजस्य ज्ञान है, वास्तविकता निर्विषय नहीं हो सकती, उसका अवश्य कोई विषय होना चाहिए और वही विषय एक-रस विज्ञान है।

भाव पदार्थके बारेमें वह कहता है—सच्चा भाव स्थिर, अपरिवर्तन-शील, अनादि है, इसलिए वास्तविक ज्ञानके लिए हमें वस्तुओंके इसी स्थिर अपरिवर्तनशील सारको जानना चाहिए।

सामान्य, विशेष—जब हम इंद्रियोंसे प्राप्त प्रतिबिंबों या वेदनाओं-से नहीं, बल्कि उनसे परे शुद्ध विज्ञानसे ज्ञानको प्राप्त करते हैं, तो वस्तुओं-में हमें सार्वत्रिक (सामान्य) अपरिवर्तनशील, सारतत्त्वका ज्ञान होता है, और यही सच्चा-ज्ञान (=तत्त्वज्ञान) है। भारतमें **सामान्य**के जबर्दस्त दुश्मन बौद्ध रहे हैं, क्योंकि इसमें उन्हें नित्यवादकी स्थापनाकी छिपी कोशिश मालूम होती थी। नैयायिक, व्यक्ति, आकृति, जाति तीनोंको पदार्थ[2] मानते थे। प्रत्यक्षवादी कहते थे कि सत्ता व्यक्तियोंकी ही है, दिमागसे बाहर विज्ञान या जातिकी तरहकी किसी चीजका अस्तित्व नहीं पाया जाता; अन्तस्थेननें कहा था—"मैं एक अश्व (=घोड़ा) तो देखता

---

[1] A priory. [2] **व्यक्तयाकृतिजातयस्तु पदार्थाः—न्यायसूत्र २।२।६७**

हूँ, किंतु अश्वता (सामान्य) को नहीं देखता।" पिथागोर "आकृति"पर जोर देता था, यह हम बतला चुके हैं; अफलातूँ सामान्यका पक्षपाती था। वह परिवर्तनशील विश्वकी तहमें अपरिवर्तनशील एक-रस-तत्त्वको साबित करना चाहता था, जिसके लिये सामान्य एक अच्छा हथियार था। इस रहस्यसे बौद्ध नैयायिक अच्छी तरह वाकिफ थे, इसीलिये धर्मकीर्तिको हम सामान्यकी बुरी गति बनाते देखेंगे। अफलातूँ कहता था—वस्तुओंका आदिम, अनादि, अगोचर, मूल-स्वरूप[१] वस्तुओंसे पहिले उनसे अलग तथा स्वतंत्र मौजूद था। वस्तुओंमें परिवर्तन होते हैं, किंतु इस मूल-रूपपर उसका कोई असर नहीं पड़ता। अश्व एक खास पिंड है, जिसको हम आँखोंसे देखते, हाथोंसे छूते या दूसरी इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष करते हैं; किंतु वर्तमान, भूत और भविष्यके लाखों, अनगिनत अश्वोंके भीतर अश्वपन (=अश्व-सामान्य) एक ऐसी चीज पाई जाती है, जो अश्व-व्यक्तियोंके मरनेपर भी नष्ट नहीं होती, वह अश्व-व्यक्तिके पैदा होनेसे पहिले भी मौजूद रही। अफलातूँ इस अश्वता या अश्वसामान्यको अश्व-वस्तुका आदिम, अनादि, अगोचर मूल-स्वरूप, अश्ववस्तुसे पहिले, उससे अलग, स्वतंत्र, वस्तु; परिवर्तनसे अप्रभावित, एक नित्य-तत्त्व सिद्ध करना चाहता है। वह कहता है—व्यक्तिके रूपमें जिन वस्तुओंको हम देखते हैं, वह इन्हीं अनादि मूल-स्वरूपों—सामान्यों (अश्वता, गोता) के प्रतिबिंब या अपूर्ण नकल हैं। व्यक्तियाँ आती-जाती रहेंगी, किंतु विज्ञान या मूलस्वरूप (=सामान्य) सदा एक-रस बने रहेंगे, मनुष्य व्यक्तिगत तौरसे आते-जाते रहेंगे, किन्तु मनुष्यसामान्य—मनुष्य-जाति—सदा मौजूद रहेगी।

विज्ञान[२]—एक-दूसरेसे सम्बद्ध हो विज्ञान एक पूर्ण काया बनाते हैं, जिसमें भिन्न-भिन्न विज्ञानोंके अपने स्थान नियत हैं। अफलातूँका समाज दासों और स्वामियोंका समाज था, जिसमें अपने स्वार्थोंके कारण जबर्दस्त

[१] Archtype. [२] Idea.

आन्तरिक विरोध था। ऐसे विरोधोंको मौखिक काव्यमयी व्याख्या द्वारा अफलातूँने दूर ही नहीं करना चाहा था, बल्कि उससे कुछ सदियों पहिले भारतके ऋषियोंने भी उसी अभिप्रायसे **पुरुषसूक्त** बनाकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रकी सिर, बाहु, जाँघ, पैरसे उपमा दे, सामाजिक शान्ति कायम करनी चाही थी। दर्शन-क्षेत्रमें इस तरहकी उपमासे अफलातूँ विज्ञानोंके ऊँचे-नीचे दर्जे कायम करना चाहता है। सबसे श्रेष्ठ (=उच्चतम) विज्ञान, ईश्वर-विज्ञान है; जो कि बाकी सभी विज्ञानोंका स्रोत है। यह विज्ञान महान् है, इससे परे और कोई दूसरा महान् विज्ञान नहीं है।

दो संसार—संसारमें दो प्रकारके तत्त्व हैं, एक विज्ञान (=मन) दूसरा भौतिक तत्त्व। किन्तु इनमें विज्ञान ही वास्तविक तत्त्व है, वही अनर्घतम पदार्थ है; हर एक चीजका रूप और सार अन्तमें जाकर इसी तत्त्व (=विज्ञान) पर निर्भर है। विश्वमें वही नियमन और नियंत्रण करता है। दूसरे भौतिक तत्त्व, मूल नहीं, कार्य; चमत्कारक नहीं, सुस्त; चेतन नहीं, जड़; स्वेच्छा-गति नहीं, अनिच्छित-गतिकी शक्तियाँ हैं, वे इच्छा बिना ही विज्ञानके दास हैं; विज्ञानकी आज्ञापर नाचते हैं, और किसी तरह भी हो, विज्ञानकी छाप उनपर लगती है। यही **मूल-स्वरूप** (विज्ञान) सक्रिय कारण है, भौतिक तत्त्व सहयोगी कारण हैं।

ईश्वर—उच्चतम **विज्ञान** ईश्वर (विधाता=देमीउर्ग) है, यह कह आये हैं। अफलातूँ विधाताकी उपमा मूर्तिकारसे देता है। विधाता मानव-मूर्तिकारकी भाँति विज्ञान-जगत् (मानसिक दुनिया)में मौजूद नमूने (मूल-स्वरूप, सामान्य)के अनुसार भौतिक-विश्वको बनाता है। विज्ञानके अनुसार जहाँ तक ईश्वर उसके लिये सम्भव है, वह एक पूर्ण विश्व बनाता है; इतनेपर भी यदि विश्वमें कुछ अपूर्णता दिखाई पड़ती है, तो मूर्तिकारको दोष न देना चाहिए, क्योंकि आखिर उसे भौतिक तत्त्वोंपर काम करना है, और भौतिक तत्त्व विधाताकी कृतिमें बाधा डालते हैं। पीछे आनेवाले हमारे नैयायियोंकी भाँति विधाता (=देमीउर्ग) जनक नहीं इंजीनियर (वास्तुशास्त्री) है। वह स्वयं उच्चतम विज्ञान है, किन्तु साथ ही भौतिक

तत्त्व भी पहिलेसे मौजूद हैं—भौतिक-जगत् और विज्ञान-जगत्—यह दो दुनियाएँ पहिलेसे मौजूद हैं। इन दोनोंमें संबंध जोड़ने—विज्ञानके रूपमें मौजूद **मूल-स्वरूपों** (=सामान्यों)के अनुसार भौतिक तत्त्वोंको गढ़नेके लिये एक हस्तीकी ज़रूरत थी, विधाता वही हस्ती है। वही बाह्य और अन्तर-जगत्की संधि कराता है। अफलातूँका विधाता 'शिव' (=अच्छा) है, उसकी वह सूर्यसे उपमा देता है—सूर्य वस्तुओंके बढ़ने (बनने)का भी स्रोत है और उस प्रकाशका भी जिससे उनका ज्ञान होता है। इसी तरह 'शिव' सभी वस्तु—सत्यों, और तत्संबंधी हमारे ज्ञानका भी स्रोत है।

दर्शनकी विशेषता—अफलातूँका दर्शन बुद्धिवादी है, क्योंकि वह ज्ञानके लिये इन्द्रिय-प्रत्यक्षपर नहीं, बुद्धिपर जोर देता है; प्रत्यक्ष जगत्से अलग, बुद्धिगम्य विज्ञान-जगत् उसका वास्तविक जगत् है। विज्ञानवादी तो अफलातूँ है ही, क्योंकि विज्ञान-जगत्, (=मूलस्वरूप)—ही उसके लिये एकमात्र सार है। बाह्यार्थवादी भी उसे कह सकते हैं, क्योंकि बाहरी दुनियाको वह निराधार नहीं, एक वास्तविक जगत् (=विज्ञान-जगत्)का बाहरी प्रकाश कहता है। सारी दुनियाको मिलानेवाले महा-विज्ञान (=ईश्वर)की सत्ताको स्वीकार कर वह ब्रह्मवादी भी है; किन्तु वह भौतिकवादी बिलकुल नहीं है, क्योंकि भौतिक तत्त्व और उससे बनी दुनियाको वह प्रधान नहीं गौण मानता है।

अफलातूँके सामाजिक, राजनीतिक विचारोंके बारेमें 'मानव-समाज'में कहा जा चुका है। वह समाजमें परिवर्तन चाहता था, किन्तु परिवर्तन ठोस मौजूदा समाजको लेकर नहीं, बल्कि **मूल-स्वरूप**के आधारपर।

३—वस्तुवादी अरस्तू[1] (३८४-३२२ ई० पू०)

अरस्तू बुद्ध (५६३-४८३ ई० पू०)से एक सदी पीछे स्तगिरामें पैदा हुआ था। उसका पिता निकोमाचु[2] सिकन्दरके बाप तथा मकदूनियाके

[1] कृतियाँ दे० पृष्ठ ११५, २२१-३, २७०-१ [2] Nicomachus.

राजा फिलिपका राजवैद्य था। उसके बाल्य-कालमें अफलातूँकी ख्याति खूब फैली हुई थी। १७ वर्षकी उम्रमें (३६७ ई० पू०) अरस्तू अफलातूँकी पाठशालामें दाखिल हुआ और तबतक अपने गुरुके साथ रहा, जब तक कि (बीस वर्ष बाद) अफलातूँ (३४७ ई० पू० में) मर नहीं गया। फिलिपको अपने लड़के सिकन्दर (३५३-३२३ ई० पू०)की शिक्षाके लिये एक योग्य शिक्षककी ज़रूरत थी। उसकी दृष्टि अरस्तूपर पड़ी। विश्व-विजयी सिकन्दरके निर्माणमें अरस्तूका खास हाथ था और इसका बीज ढूँढ़नेके लिये हमें उसके गुरु अफलातूँ तथा परमगुरु सुक्रात तक जाना पड़ेगा। सुक्रात अपने स्वतंत्र विचारोंके लिये अथेन्सके जननिर्वाचित शासकोंके कोपका भाजन बना। अफलातूँ अपने समयके समाजसे असन्तुष्ट था, इसलिए उसमें परिवर्तन करके एक साम्यवादी समाज कायम करना चाहता था; लेकिन इस समाजकी बुनियाद वह धरतीपर नहीं डालना चाहता था। वह उसे 'विज्ञान-जगत्' से लाना चाहता था, और उसका शासन लौकिक-पुरुषोंके हाथमें नहीं, बल्कि लोकसे परे ख्याली दुनियामें उड़नेवाले दार्शनिकोंके हाथमें देना चाहता था। यदि अफलातूँको पता होता कि उसके साम्यवादी समाजकी स्थापनामें एक विश्व-विजेता सहायक हो सकता है, तो १८वीं १९वीं सदीके युरोपियन समाजवादियों—प्रूधों (१८०९-६५) आदिकी भाँति वह भी साम्यवादी राजाकी तलाश करता। अरस्तू बीस साल तक अपने गुरुके विचारोंको सुनता रहा, इस-लिए उनका असर उसपर होना ज़रूरी था। कोई ताज्जुब नहीं, यदि अफलातूँका साम्यवादी राज्य अरस्तू द्वारा होकर सिकन्दरके पास, विश्व-राज्य या चक्रवर्ती-राज्यके रूपमें पहुँचा। बुद्ध अपने साधुओंके संघमें पूरा आर्थिक साम्यवाद—जहाँ तक उपभोग सामग्रीका सम्बन्ध है—कायम करना चाहते थे, यदि वह संभव समझते तो शायद विस्तृत समाजमें भी उसका प्रयोग करते, किन्तु बुद्धकी वस्तु-वादिता उन्हें इस तरहके तजर्बे से रोकती थी। ऐसे विचारोंको रखते भी बुद्ध, चक्रवर्तीवाद—सारे विश्वका एक धर्मराजा होना—के बड़े प्रशंसक थे। हो सकता

है अरस्तूने भी अपने शिष्य सिकन्दरमें बाल्य-कालहीसे अपने और अपने गुरुके स्वप्नोंको सत्य करनेके लिये चक्रवर्तीवाद भरना शुरू किया हो। अरस्तूने अथेन्स आदिके प्रजातंत्र ही नहीं देखे थे, बल्कि वह तीन महाद्वीपोंमें राज्य रखनेवाले ईरान के चक्रवर्तियोंसे भी परिचित था। सवाल हो सकता है, यदि अरस्तूने सिकन्दरमें ये भाव पैदा किये, तो उसने विश्व-विजयके साथ दूसरे स्वप्नोंका भी क्यों नहीं प्रयोग किया? उत्तर यही है कि सिकन्दर दार्शनिक स्वप्नचारी नहीं था, वह अपने सामने यूनानियोंको अपने ठोस भालों, तलवारोंसे सफलता प्राप्त करते देख रहा था, इसलिये वह अपने स्वप्नचारी परमगुरुकी सारी शिक्षायें माननेके लिये बाध्य न था।

अरस्तू सिर्फ दार्शनिक ही नहीं, राजनीतिक विचारक भी था, यह तो इसीसे पता लगता है, कि ३२३ ई० पू०में सिकन्दरकी मृत्युके समय अथेन्समें मकदूनिया और मकदूनिया-विरोधी जो दो दल हो गये थे, अरस्तू उनमें मकदूनिया-विरोधी दलका समर्थक था। शायद अब उसे अपनी गलती मालूम हुई और तलवारके एकाधिपत्यसे अथेन्सका पहिलेवाला जनतांत्रिक बनिया-राज्य ही उसे पसन्द आने लगा। इस विरोधसे अथेन्सके स्वामी उसके विरुद्ध हो गये और अरस्तूको जान बचाकर युबोइया भाग जाना पड़ा, जहाँ उसी साल (३२२ ई० पू०) उसकी मृत्यु हुई।

(१) दार्शनिक विचार—अरस्तूकी कृतियाँ विशाल हैं। अपने समय तक जितना ज्ञान-भंडार समाजमें जमा हो चुका था, अरस्तूके ग्रन्थ उसके लिये विश्व-कोषका काम देते हैं। यही नहीं उसने खुद भी मनुष्यके ज्ञान-भंडार-को बहुत बढ़ाया। अरस्तू अफलातूँके दार्शनिक विचारोंसे बिलकुल असहमत था, यह तो नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह विज्ञान-जगत्से इन्कार नहीं करता था। सुक्रात और अफलातूँकी तरह, ज्ञानके लिये **विज्ञान**के महत्त्वको वह मानता था, किन्तु वह भौतिक-जगत्से अलग-थलग तथा एक मात्र प्रधान जगत् है; इसे वह माननेके लिये तैयार न था। बाहरी दुनिया (प्रत्यक्ष-जगत्)को समझनेके लिये, उसकी व्याख्याके लिये, अमर-जगत्

(विज्ञान-जगत्)की ज़रूरतको वह स्वीकार करता था। युनिक दार्शनिक सिर्फ भौतिक पहलूपर जोर देते थे, पिथागोर और अफलातूँ **मूलस्वरूप** या **विज्ञान** ('आकृति' या 'मूलस्वरूप')पर जोर देते थे; किन्तु अरस्तू दोनोंको अभिन्न अंग मानता था—'मूलस्वरूप' (विज्ञान) भौतिक तत्त्वों-में मौजूद है, और भौतिक तत्त्व 'मूलस्वरूपों' (विज्ञानों)में; सामान्य (=जाति) व्यक्तियोंमें मौजूद है, इन दोनोंको अलग समझा जा सकता है, किंतु अलग नहीं किया जा सकता। अफलातूँ दार्शनिकके अतिरिक्त गणितशास्त्री भी था और गणितकी काल्पनिक विन्दु, रेखा, संख्या आदिकी छाप उसके दर्शनपर भी मिलती है। अरस्तू प्राणिशास्त्री भी था इसलिए **विज्ञानों** और भौतिक-तत्त्वोंको अलग करके नहीं देख सकता था। विज्ञान और भौतिक-तत्त्व, स्थिरता (एलियातिक) और परिवर्तनशीलता (हेरा-क्लितु)का वह समन्वय करना चाहता था। वह सभी चीज़ोंमें **विज्ञान** (=मूलस्वरूप) और भौतिक तत्त्वोंको देखता था। मूर्तिमें संगमर्मर भौतिक तत्त्व है और उसके ऊपर जो आकृति लादी गई है, वह **विज्ञान** है, जो कि मूर्तिकारके दिमागसे निकला है। वनस्पति, पशु या मनुष्यमें शरीर भौतिक तत्त्व है, और पाचन, वेदना आदि **विज्ञान-तत्त्व**। आकृतिके बिना कोई चीज़ नहीं है; पृथ्वी, जल, आग और हवा भी बिना आकृतिके नहीं हैं; ये भी मूल गुण—रुक्षता, नमी, उष्णता, सर्दी—के भिन्न-भिन्न योगोंसे बने हैं। सांख्यके विद्यमान संस्करणमें इन्हीं मूलगुणोंको तन्मात्रा कहकर उन्हें भूतोंका कारण कहा गया, और यह अरस्तूके इसी ख्यालसे लिया गया मालूम होता है। भौतिक तत्त्व वह है जिनमें वृद्धि या विकास हो सकता है; यद्यपि यह वृद्धि या विकास एक सीमा रखता है। पत्थरका खंड किसी तरहकी मूर्ति बन सकता है, किन्तु वृक्ष नहीं बन सकता। एक पौधा या अमोला बढ़कर पीपल बन सकता है, किन्तु पशु नहीं बन सकता। इस विचार-धाराने अरस्तूको **जाति-स्थिरता**के सिद्धान्तपर पहुँचा दिया और वह समझने लगा कि जातियोंमें परिवर्तन नहीं होता। इस धारणा-ने अरस्तूको प्राणिशास्त्रमें और आगे नहीं बढ़ने दिया और वह, उन्नी-

सवीं सदीके महान् प्राणिशास्त्रीय आविष्कार **जाति-परिवर्तन**[1] तक नहीं पहुँच सका। इतना होते हुए भी एक पाँतीमें न सही अलग-अलग पाँतियों-में हुए विकास और उनके सादृश्यकी ओर ध्यान दिये बिना वह नहीं रह सकता था। छोटी-छोटी प्राणि-जातियोंकी पाँतीसे क्रमशः आगे बढ़ती प्राणि-जातियोंके उच्च-उच्चतर विकासको उसने देखा। विज्ञान (**=मूलस्वरूप**)-रहित भौतिक तत्त्वोंका विकास उतना गहरा नहीं है, जितना कि विज्ञान-युक्त तत्त्वोंका। इस विकासका उच्चतम रूप वह है जिससे आगे विकासकी गुंजाइश नहीं। अतएव जो भौतिक तत्त्वकी परिभाषामें आ नहीं सकता, वह ईश्वर है। वह अफलातूँका अपरिवर्तनशील **विज्ञान** सिर्फ यही ईश्वर है, जो कि अरस्तूके विचारसे विधाता (कर्ता) नहीं है; क्योंकि विज्ञान और भौतिक तत्त्व हमेशासे वहाँ मौजूद थे। तो भी, जैसे भी हो, सभी वस्तुओंका खिचाव ईश्वरकी ओर है। दुनियाकी चाह वह है और उसकी उपस्थिति मात्रसे वस्तुएँ ऊँचे विकासकी ओर अग्रसर होती हैं।[2] वह विश्वका अचल चालक है, "यह उसका प्रेम ही है, जो जगत्को चला रहा है।"

अरस्तू चार प्रकारके कारण मानता है—(१) **उपादान कारण**—जैसे घड़ेके लिये मिट्टी; (२) **मूल-स्वरूप** या विज्ञान कारण—जिन नियमोंके अनुसार कार्य (=घड़ा) बनता है, (३) **निमित्त कारण**[3]—जिसके द्वारा उपादान कारण कार्यकी शकल लेता है, जैसे कुम्हार आदि; (४) **अंतिम कारण** या प्रयोजन—जिसके लिये कि कारण बना। पहिले और तीसरे कारणोंको भारतीय नैयायिकोंने ले लिया है। अरस्तूका यह भी कहना है कि हर कार्यको चारों तरहके कारणोंकी ज़रूरत नहीं, कितनोंके लिये उपादान और निमित्त कारण ही काफी होते हैं।

---

[1] देखो "विश्वकी रूपरेखा"।

[2] यह कल्पना सांख्यके पुरुषसे मिलती जुलती है, यद्यपि अनीश्वरवादी सांख्य एककी जगह अनेक पुरुष मानता है। [3] Efficient cause.

(२) **ज्ञान**—अरस्तूका कहना था—ज्ञानकी प्राप्तिके लिये यह ज़रूरी है कि हम अपनी बुद्धिसे ज़्यादा अपनी इन्द्रियोंपर विश्वास रक्खें, और अपनी बुद्धिपर उसी वक्त विश्वास करें जब कि उसका समर्थन घटनायें करती हों। सच्चा ज्ञान सिर्फ घटनाओंका परिचय ही नहीं बल्कि यह भी जानना है कि किन वजहों, किन कारणों या स्थितियोंसे वैसा होता है। जो विद्या या दर्शन आदिम या चरम कारणपर विचार करता है, उसे अरस्तू **प्रथम दर्शन** कहता है, आज-कल उसे ही अध्यात्मशास्त्र कहते हैं। अरस्तू तर्कशास्त्रके प्रथम आचार्योंमें है। उसके अनुसार तर्कका काम वह तरीका बतलाना है, जिससे हम ज्ञान तक पहुँच सकें। इस तरह तर्क, दर्शन तक पहुँचनेके लिये सोपान (=सीढ़ी) है। चिन्तन या जिस प्रक्रियासे हम ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसका विश्लेषण तर्कका मुख्य विषय है। तर्क वस्तुतः शुद्ध चिन्तनकी विद्या है। हमारे चिन्तनका आरम्भ सदा इंद्रिय-प्रत्यक्षसे होता है। हम पहिले विशेषको जानते हैं, फिर उससे सामान्यपर पहुँचते हैं—अर्थात् पहिले अधिक ज्ञातको जानते हैं, फिर उससे और अधिक ज्ञात और अधिक निश्चितको। हम पहिले अलग-अलग जगह रसोई-घरमें, श्मशानमें (इंजनमें भी) धुएँके साथ आगको देखते हैं, फिर हमारी सामान्य धारणा बनती है—जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग होती है।

अरस्तूने अपने तर्क-शास्त्रके लिये दस और कहीं आठ प्रमेय[1] (ज्ञानके विषय) माने हैं—(१) वह क्या है, यानी **द्रव्य** (मनुष्य); (२) किनसे बना है यानी **गुण**; (३) वह कितना बड़ा है यानी **परिमाण** (३॥ हाथ); (४) क्या **संबन्ध** रखता है यानी सम्बन्ध (बृहत्तर, दुगना); (५) वह कहाँ है, **दिशा** या देश (सड़क पर); (६) कब होता है यानी **काल**; (७) किस तरह है, यानी **आसन** (लेटा या बैठा); (८) किस तरह है यानी **स्थिति** (कपड़े पहिने या हथियार-बन्द);

[1] Category.

(९) वह क्या करता है यानी **कर्म** (पढ़ता है); (१०) क्या परिणाम है यानी **निष्क्रियता** (कुछ नहीं करता)। इनमें द्रव्य, गुण, कर्म, वैशेषिकके छः पदार्थोंमें मौजूद हैं; काल, दिशा उसके नौ द्रव्योंमें हैं; बाकीमेंसे भी कितनोंका ज़िक्र वैशेषिक और न्याय करते हैं। सिकन्दरके आक्रमणसे पहिलेके किसी भारतीय ग्रंथमें इन बातोंका विवेचन नहीं आया है; जिससे कहना पड़ता है कि यह हमारे दर्शनपर यवनआचार्योंका ऋण है। इसपर हम आगे कहेंगे।

अरस्तू **व्यक्ति** या विशेषको वास्तविक द्रव्य मानता है, हाँ यह व्यक्ति बदलता या जीर्ण होता रहता है—सभी चीजें जिनका हम साक्षात्कार कर सकते हैं, परिवर्तनशील होती हैं। भूत या विज्ञान दोनों न नये उत्पन्न होते हैं और न सदा के लिये लुप्त होते हैं, वे वस्तुओंके अनादि सनातन मूलतत्त्व हैं। परिवर्तन या वृद्धि शून्यमें नही हो सकती, इनका कोई आश्रय या आधार होना चाहिए। वही परिवर्तन-रहित कूटस्थ आधार भूत और विज्ञान ('मूलस्वरूप') हैं। भूत और विज्ञानके मिलनेसे ही परिवर्तन और गति (=हरकत) होती है। अरस्तू गतिके चार भेद बतलाता है—(१) द्रव्य-संबन्धी गति—उत्पादन, विनाश; (२) परिमाण-संबन्धी गति—संयोग, विभागसे पिंडके परिमाणमें परिवर्तन; (३) गुण-संबन्धी गति—एक चीज़का दूसरी चीज़में परिवर्तन—दूधका दही, पानीका बर्फ बनना; (४) देश-संबन्धी गति—एक जगहसे दूसरी जगह जाना।

अरस्तू दार्शनिक होनेके अतिरिक्त एक बहुत बड़ा प्राणि-शास्त्री भी था, यह बतला आये हैं। उसका पिता स्वयं वैद्य था और वैद्योंका प्राणिशास्त्रसे परिचय होना ज़रूरी है। हिप्पोक्रात[१] और उसके अनुयायियोंने प्राणिशास्त्र-संबन्धी गवेषणाओं को ई० पू० पाँचवीं सदीमें आरंभ किया था। अरस्तूने उन्हें बहुत आगे बढ़ाया और एक तरह जीवन-विकास सिद्धान्तका उसे प्रवर्तक कहना चाहिए। अरस्तूके प्राणिशास्त्रीय

[१] Hippocrates.

कार्यको उसके शिष्य थ्योफ़ास्तु[1] (३९०-२८५ ई० पू०) ने जारी रखा, किन्तु आगे फिर दो सहस्र शताब्दियोंके लिये वह रुक गया। डार्विनने अरस्तूकी प्राणिशास्त्रीय गवेषणाओंकी बहुत दाद दी है।

यूनानी दार्शनिकोंका ऋणी होना हमारे यहाँके कितने ही विद्वानोंको बहुत खटकता है। वह साबित करना चाहते हैं कि भारतने बिना दूसरी जातियोंकी सहायताके ही अपने सारे ज्ञान-विज्ञानको विकसित कर लिया; और इसीलिए जिन सिद्धान्तोंके विकासके प्रवाहकी हमारे तथा यूनानियोंके सम्पर्कसे पहिले लिखे गये भारतीय साहित्यमें गन्ध तक नहीं मिलती, उसके लिये भी जबर्दस्त खींचा-तानी करते हैं। हमें याद रखना चाहिए कि जब सिकन्दर भारतमें (३२३ ई० पू०) आया था तब यूनान दर्शन, कला, साहित्य आदिमें उन्नतिके शिखरपर पहुँचा हुआ था। उस समय, और बादमें भी लाखों यूनानी हमारे देशमें आकर सदाके लिये यहीं रह गये और आज वह हमारे रक्त-मांसमें इस तरह घुल-मिल गये हैं कि उसका पता आँखसे नहीं इतिहासके ज्ञानसे ही मिलता है। जिस तरह चुपचाप यूनानियोंका रुधिर-मांस हमारा अभिन्न अंग बन गया, उसी तरह उनके ज्ञानका बहुत सा हिस्सा भी हमारे ज्ञानमें समा गया। गंधार-मूर्तिकलामें जिस तरह यवन-कलाकी स्पष्ट और गुप्त मूर्ति-कलामें अ-स्पष्ट छाप देखते हैं, उसी तरह हमें यह स्वीकार करनेसे इन्कार नहीं करना चाहिए कि हमारे मठोंमें साधु-भिक्षु और हमारी पाठशालाओंमें अध्यापक बनकर बैठे शिक्षित सभ्य यूनानी हमारे लिए अपने विद्वानोंका भी कोई तोहफा लाये थे।

§ ४—यूनानी दर्शनका अन्त

शेरोनियाके युद्ध (३३८ ई० पू०)में यूनानने मकदूनियासे हार खाकर अपनी स्वतन्त्रता गँवाई। इसने यूनानकी आत्माको इतना चूर्ण कर दिया

---

[1] Theophrastus.

कि वह फिर न सँभल सका। अरस्तू यद्यपि ३२२ ई० पू० तक जीता रहा, किन्तु उसके वहुतसे महत्त्वपूर्ण दार्शनिक चिन्तन पहिले ही हो चुके थे। पराजित यूनान हेराक्लितु, देमोक्रितु, अफलातूँ, अरस्तूके जैसे स्वच्छन्द सजीव दर्शनको नहीं प्रदान कर सकता था—अरथीके साथ "राम-नाम-सत" ही निकलता है। यद्यपि अरस्तूकी मृत्युके बाद कई शताब्दियों तक यूनानी दर्शन प्रचलित रहा किन्तु वह "राम-नाम-सत" का दर्शन था। विपतामें पड़े लोग अपने अवसादको धर्म या आचार-सम्बन्धी शिक्षासे हटाना चाहते हैं। चाहे बुद्धिवादी स्तोइकोंको ले लीजिए या भौतिकवादी एपीकुरीयोंको अथवा सन्देहवादियोंको, सभी जीवनकी आचार और धर्म-संबन्धी समस्याओंमें उलझे हुए हैं; और उनका अवसान चित्तकी शान्ति या बाहरी बंधनोंसे मुक्तिके उपाय सोचनेके साथ होता है।

१—एपीकुरीय भौतिकवाद

एपीकुरीयोंके अनुसार दर्शनका लक्ष्य मनुष्यको सुखी जीवनकी ओर ले जाना है। इनका दर्शन देमोक्रितुके यांत्रिक परमाणुवादपर आधारित था—विश्व असंख्य भौतिक परमाणुओंकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाका परिणाम है। उसके पीछे कोई प्रयोजन या ज्ञानशक्ति काम नहीं कर रही है। हर वक्त चलते रहते एक दूसरेसे मिलते अलग होते इन्हीं परमाणुओंके योगसे मनुष्य भी बना, वह सदा परिवर्तित होता एक प्रवाह है। जीवनके अन्तमें ये परमाणु फिर बिखर जायँगे; इसलिए मनुष्यको सुख या आनन्द प्राप्त करनेका अवकाश इस जीवनसे परे नहीं मिलेगा, जिसके लिए कि उसे इस जीवनको भुला देना चाहिए। अतएव मनुष्य को आनन्द प्राप्त करनेकी कोशिश यहाँ करनी चाहिए और जो तरीके, नियम, संयम उसके जीवनको सुखमय बना सकते हैं; उन्हें स्वीकार करना चाहिए। एपीकुरीय दार्शनिक, इस प्रकार भोगवादी थे, किन्तु उनका भोगवाद सिर्फ व्यक्तिके लिये ही नहीं, समाजके लिये भी था; इसलिए उसे संकीर्ण वैयक्तिक स्वार्थ नहीं कहा जा सकता। यदि दूसरोंके

सुखवाद और इनके सुखवादमें फर्क था तो यही, कि जहाँ दूसरे परलोक—परजन्ममें वैयक्तिक सुखके चाहक थे, वहाँ एपीकुरीय इसी लोक, इसी जन्ममें मनुष्य—व्यक्ति और समाज दोनों—को सुखी देखना चाहते थे।

एपीकुरु (३४१-२७० ई० पू०)—यूनानी भोगवादका संस्थापक एपीकुरु, समोस् द्वीपमें अथेन्स-प्रवासी माँ-बापके घरमें पैदा हुआ था। अध्ययनकालमें उसका परिचय देमोक्रितुके दर्शन—परमाणुवादसे हुआ, जिसके आधारपर उसने अपने दर्शनका निर्माण किया और उसके प्रचारके लिये ३०६ ई० पू०में (बुद्धके निर्वाणसे पौने दो सौ वर्ष बाद) अथेन्समें अपना विद्यालय कायम कर मृत्यु (२७० ई० पू०) तक अध्ययन-अध्यापन करता रहा। अपने जीवनमें ही उसके बहुतसे मित्र और अनुयायी थे, और पीछे तो उनकी संख्या और बढ़ी। उनमें अपने सुखसे सुख माननेवाले भी हो सकते हैं, जिनके कि उदाहरणको लेकर दूसरोंने एपीकुरीयवादको भी चार्वाककी भाँति "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्" माननेवाला कहकर बदनाम करना शुरू किया।

एपीकुरुका कहना था कि, "यदि अपनी इंद्रियोंपर विश्वास न करें, तो हम किसी ज्ञानको नहीं प्राप्त कर सकते। इन्द्रियाँ कभी-कभी गलत खबरें देती हैं, किंतु उन गलतियोंको पुनः-पुनः प्रयोग करके अथवा दूसरोंके तजर्बेसे दूर किया जा सकता है। इस प्रकार एपीकुरु हमारे यहाँके चार्वाक-दर्शनकी भाँति प्रत्यक्ष-प्रमाणपर बहुत अधिक जोर देता था।

२—स्तोइकोंका शारीरिक(ब्रह्म)वाद

स्तोइकोंका दर्शन, क्सेनोफेन (५७०-४८० ई० पू०)के जगत्-शारीरिक-ब्रह्मवादकी ही एक शाखा थी। हम कह आये हैं कि पिथागोर स्वयं भारतीय दर्शनसे प्रभावित हुआ था, और खेनोफेन उसीका उत्तराधिकारी था; इस प्रकार स्तोइकोंकी शिक्षामें भारतीय दर्शनकी छाप हो, यह कोई अचरजकी बात नहीं। ३३२ ई० पू०में सिकन्दरने मिश्रमें सिकन्दरिया नगर बसाया था, जो पीछे तीनों महाद्वीपोंका जबर्दस्त व्यापारिक

केन्द्र ही नहीं बन गया, बल्कि वह तीनों द्वीपोंकी उच्चतम संस्कृति, दर्शन, तथा दूसरे विचारोंके आदान-प्रदानका भी केन्द्र बन गया। सिकन्दरिया स्तोइकोंका एक केन्द्र था, इसलिए पूर्वीय विचारोंसे परिचित होनेके लिये यहाँ उन्हें बहुत सुभीता था।

अरस्तू द्वैतवादी था, विज्ञान और भूत दोनोंको अनादि मानता था। ईश्वर उसके लिये निमित्त कारण था। स्तोइकोंने द्वैतवादमें परिवर्तन किया और रामानुजके दर्शनकी भाँति माना कि ब्रह्म (ईश्वर) अभिन्न-निमित्त-उपादान-कारण है, अर्थात् ब्रह्म और जगत् दो नहीं हैं; जगत् भगवान्‌का शरीर, एक सजीव शरीर है। भगवान् विश्वका आत्मा (लोगो[1]) है। जीवनके सभी बीज या कीट उसमें मौजूद हैं। उसीके भीतर सृष्टिकी सारी शक्ति निहित है।

ज़ेनो (३३६-२६४ ई० पू०)—एलियातिक ज़ेनो (४९०-३० ई० पू०)के १०६ वर्ष बाद साईप्रेसमें स्तोइक दर्शनका आचार्य दूसरा ज़ेनो पैदा हुआ था। साईप्रेस युरोपसे ज़्यादा एसियाके नज़दीक है, उसी तरह ज़ेनोका स्तोइक-दर्शन भी एसियाके ज़्यादा नज़दीक है। ३०४ ई० पू० में ज़ेनोने अपना विद्यालय 'स्तोआ पोईकिले'[2] (=नुकीली अटारी) पर खोला, जिसकी वजहसे उसके सम्प्रदायका नाम ही 'स्तोइक' (नुकीला) पड़ गया। ज़ेनोके बाद स्तोइक दर्शनका आचार्य क्लियन्थ[3] (२६४-२३२ ई० पू०) हुआ। वह अशोकका समकालीन था।

स्तोइक तर्कके जबर्दस्त पक्षपाती थे। उनका कहना था—"दर्शन एक खेत है; जिसकी रक्षाके लिए तर्क एक काँटोंकी बाड़ है, भौतिक-शास्त्र खेतकी मिट्टी और आचार-शास्त्र फल है।" तर्ककी बाड़का ख्याल हमारे न्यायने स्तोइकोंसे ही लेकर कहा है—"तर्क तत्त्व-निश्चयकी रक्षाके लिये काँटेकी बाड़[4] है।"

---

[1] Logos. [2] Stoa Poikile. [3] Cleanthes.

[4] **"तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्।" न्यायसूत्र ४।२।५०**

स्तोइक एपीकुरीयोंसे इस बातमें एकमत थे कि हमारे सभी ज्ञानका आधार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है।—हमारा ज्ञान या तो प्रत्यक्षसे आता है या उससे प्राप्त साधारण विचार या ज्ञानसे। किसी बातको सच तभी मानना चाहिए, जब कि वस्तुएँ उसकी पुष्टि करती हैं। साइंस (=विद्या) सच्चे निर्णयोंका एक ऐसा सुसंगठित ज्ञान है, जो एक सिद्धान्तका दूसरे सिद्धान्तसे सिद्ध होना ज़रूरी कर देता है।

स्तोइक उसी वस्तुको सच्ची मानते हैं, **जो** क्रिया करती है या जिसपर क्रिया होती है। जो क्रिया-शून्य है उसकी सत्ताको वह स्वीकार नहीं करते। इसीलिए **शुद्ध विज्ञान** (=ईश्वर)को वह अरस्तूकी भाँति निष्क्रिय नहीं मानते। ईश्वर और जगत् जब शरीर और शारीरके तौरपर अभिन्न हैं तो शरीर (=जगत्)की क्रिया शारीर (=ईश्वर)की अपनी ही क्रिया है। भौतिक तत्त्वोंके बिना शक्ति नहीं और शक्तिके बिना भौतिक तत्त्व नहीं मिल सकते, इसलिए भौतिक-तत्त्वको सर्वत्र शक्ति (=ईश्वर)से व्याप्त मानना चाहिए। यह ख्याल उपनिषद्के 'अंतर्यामीवाद'से कितना मिलता है, इसे हम आगे देखेंगे। स्तोइकोंका यह अंग-अंगी अवयव-अवयवी वाला सिद्धान्त वेदांतके सूत्रों, उसकी बोधायनवृत्ति तथा रामानुज-भाष्यमें भी पाया जाता है। इसका यह मतलब नहीं कि शरीर-शरीरी भाव उपनिषद्में है ही नहीं। यह भाव वहाँ था, किन्तु उसे स्तोइकोंने और तर्क-सम्मत बनानेके लिये जो युक्तियाँ दीं, उनसे बादरायण, बौधायन आदिने फायदा उठाया—ऐसा मालूम होता है।

क्षुद्रसे क्षुद्र वस्तुएँ भी भगवान्के अंग हैं; वह एक और सब है। प्रकृति, ईश्वर, भाग्य, भवितव्यता एक ही हैं। जब प्रकृति ईश्वरसे अभिन्न है, तो हमारे जीवनके लिये सबसे अच्छा आदर्श प्रकृति ही हो सकती है, इसीलिए स्तोइक प्राकृतिक जीवनके पक्षपाती थे। सभी प्राणी चूँकि ईश्वर-प्रकृति-अद्वैतकी ही सन्तानें या अंग हैं, इसलिए स्तोइक विश्व-भ्रातृभावके मानने वाले थे—"सभी मनुष्य भाई-भाई हैं और ईश्वर सबका पिता है।"—एपिक्तेतुने कहा था।

स्तोइक दर्शनका प्रचार कई शताब्दियों तक रहा। रोमन सम्राट् मर्कस् ओरेलियस् (१२१–१८० ई०)—जो नागार्जुनका समकालीन था—स्तोइकोंका एक बहुत बड़ा दार्शनिक समझा जाता है। ईसाई-धर्मके आरम्भिक प्रचारके समय उपरले वर्गमें स्तोइकवादका बहुत प्रचार था, किन्तु ऐसे गम्भीर तर्क-कंटक-शाखा-रक्षित दर्शनको हटाकर ईसाइयतकी बच्चोंकी कहानियाँ अपना अधिकार जमानेमें कैसे सफल हुईं, इसका कारण यही था कि कहानियाँ पृथ्वीके ठोस पुत्रों—निम्न श्रेणीके मज़दूरों, गुलामों—में फैलकर शक्ति बन, उनके हाथों और हृदयको संघर्ष करनेके लिए मज़बूत कर रही थीं; जब कि हवामें उड़नेवाले राजाओं और अमीरोंका ब्रह्म-दर्शन गरीबोंके पसीनेकी कमाईको खाकर मोटे हुए उनके शरीरके लिए लवण-भास्करका काम दे रहा था। ख्याली जगत् और वास्तविक जगत्का जहाँ आपसमें मुकावला होता है, वहाँ परिणाम ऐसा ही देखा जाता है।

३—सन्देहवाद

"हम वस्तुओंके स्वभावको नहीं जान सकते। इन्द्रियाँ हमें सिर्फ इतना ही बतलाती हैं कि चीज़ें कैसी देख पड़ती हैं, वह वस्तुतः क्या हैं इसे जानना सम्भव नहीं है।"

पिर्हो (३६५-२७० ई० पू०)—पिर्हो एलिस् (यूनान) में अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०) से उन्नीस साल बाद पैदा हुआ था। ज़ेनोकी भाँति पिर्होको भी देमोक्रितुके ग्रन्थोंने दर्शनकी ओर खींचा। जब सिकन्दरने पूर्वकी दिग्विजय-यात्रा की, तो पिर्हो भी उसकी फौजके साथ था। ईरानमें उसने पारसी धर्माचार्योंसे शिक्षा प्राप्त की थी। भारतमें भी वह कितने ही साल रहा और यहाँके एक दार्शनिक सम्प्रदाय—जिसे यूनानी लेखक गिम्नो-सोफी[1] नाम देते हैं—का उसने अध्ययन किया था। गिम्नो जिनसे मिलता-जुलता शब्द मालूम होता है। बौद्ध और

[1] Gymno-sophist.

जैन दोनों अपने धर्म-संस्थापकको जिन (=विजेता) कहते हैं। लेकिन जहाँ तक पिर्‌होके विचारोंका सम्बन्ध है, वह बौद्ध सिद्धान्तोंका एकांगीन विकास मालूम होता है, जिन्हें कि हम ईसाकी दूसरी सदीके नागार्जुनमें पाते हैं। नागार्जुनका शून्यवाद पुराने वैपुल्यवादियोंसे विकसित हुआ है, और वैपुल्यवादियोंके होनेका पता अशोकके समय तक लगता है। अशोक पिर्‌होकी मृत्यु (२७० ई० पू०)से एक साल बाद (२६९ ई० पू०) गद्दीपर बैठा था। इस तरह पिर्‌होके भारत आनेके समय वैपुल्यवादी मौजूद थे। भारतसे पिर्‌हो एलिस् लौट गया। उसका विचार था—वस्तुओंका अपना स्वभाव क्या है, इसे जानना असम्भव है। कोई भी सिद्धान्त पेश किया जावे, उतनी ही मजबूत युक्ति (=प्रमाण)के साथ ठीक उससे उल्टी बात कही जा सकती है; इसलिए अच्छा यही है कि अपना अन्तिम बौद्धिक निर्णय ही न दिया जावे; जीवनको इसी स्थितिमें रखना ठीक है। नागार्जुनके वर्णनमें हम इसकी समानताको देखेंगे, किन्तु इसमें नागार्जुनको पिर्‌होका ऋणी न मानकर यही मानना अच्छा होगा कि दोनोंका ही उद्‌गम वही वैपुल्यवाद, हेतुवाद या उत्तरापथकवाद थे।

पिर्‌हो ज्ञानको असाध्य साबित करनेके लिए कहता है—किन्तु किसी चीज़को ठीक साबित करनेके लिए या तो उसे स्वतः प्रमाण मान लेना होगा; जो कि ग़लत तर्क है, या दूसरी चीज़को प्रमाण मानकर चलना होगा; जिसके लिये कि फिर प्रमाणकी ज़रूरत होगी। नागार्जुनने "विग्रह-व्यावर्तनी"में ठीक इन्हीं युक्तियों द्वारा प्रमाणकी प्रामाणिकताका खंडन किया है।

ईश्वर-खंडन—पिर्‌होके अनुयायी स्तोइकोंके ब्रह्म (=ईश्वर)वादका खंडन करते थे। स्तोइक कहते थे—"जगत्‌की सृष्टिमें खास प्रयोजन मालूम होता है और वह प्रयोजन तभी हो सकता है, जब कि कोई चेतनशक्ति उसे सामने रखकर संसारकी सृष्टि करे। इस तरह **प्रयोजनवाद** ईश्वरकी हस्तीको सिद्ध करता है।" संदेहवादियोंका कहना था—"जगत्‌में कोई ऐसा प्रयोजन नहीं दीख पड़ता, वहाँ न बुद्धिपूर्वकता दिखाई पड़ती है, और न वह शिव सुन्दर ही है। बुद्धिपूर्वकता होती तो ग़लती कर-कर-

के—हज़ारों ढाँचोंको नष्ट कर-करके—नये स्वरूपोंकी अस्थायी हस्तीके आनेकी ज़रूरत नहीं होती; और दुनियाको शिव सुन्दर तो वही कह सकते हैं जो सदा स्वप्नकी दुनियामें विचरण करते हैं। यदि दुनियामें यह बातें भी नहीं होतीं, तो भी उससे ईश्वर नहीं, स्वाभाविकता ही सिद्ध होती। स्तोइक (और वेदान्ती भी) ईश्वरको विश्वात्मा मानते हैं। पिर्‌होके अनुयायी कहते थे कि "तब उसका मतलब है कि वह वेदना या अनुभव करता है। जो वेदना या अनुभव करता है, वह परिवर्तनशील है; जो परिवर्तनशील है, वह नित्य एक-रस नहीं हो सकता। यदि वह अपरिवर्तनशील एकरस है, तो वह एक कठिन निर्जीव पदार्थ है। और विश्वात्माको शरीरधारी माननेपर मनुष्यकी भाँति उसे परिवर्तनशील—नाशवान् तो मानना ही होगा। यदि वह शिव (अच्छा) है, तो वह मनुष्यकी भाँति आचारकी कसौटीके अन्दर आ जाता है, और यदि शिव नहीं, तो घोर है और मनुष्यसे निम्नश्रेणीका है। इस प्रकार ईश्वरका विचार परस्पर-विरोधी दलीलोंसे भरा हुआ है। हमारी बुद्धि उसे ग्रहण नहीं कर सकती, इसलिए उसका ज्ञान असम्भव है।"

पिर्‌होके बाद उसके दार्शनिक सम्प्रदायके कितने ही आचार्य हुए, जिनमें मुख्य थे—अर्कोसिलो[१] (३१५-२४१ ई० पू०), कर्न्योद[२] (२१३-१२९ ई० पू०), अस्कालोन्‌का अन्तियोक[३] (६८ ई०), लारिस्साका फिलो[४] (८० ई०), क्लितोमाछु[५] (११० ई०)।

संदेहवादके अनुयायी कितने ही अच्छे-अच्छे दार्शनिक विद्वान् होते रहे, किन्तु सभी स्तोइकोंकी भाँति आकाशविहारी थे; इनका काम ज़्यादातर निषेधात्मक या ध्वंसात्मक था, और सामने कोई रचनात्मक प्रोग्राम नहीं था। इसलिए ईसाइयतने स्तोइकोंके साथ इन कोरे फिलासफरोंका भी खातमा कर दिया।

---

[१] Arcosilaus. [२] Carneodes. [३] Antiochus of Ascalon. [४] Philo of Larissa. [५] Clitomachus.

४—नवीन-अफ़लातूनी दर्शन

पश्चिममें यूनानी दर्शनने अपने अन्तिम दिन नव-अफलातूनी दर्शनके रूपमें देखे। यह पाश्चात्य दर्शन और पौरस्त्य योग, रहस्यवाद, अध्यात्म-शास्त्रका एक अजीब मिश्रण था और यवन-रोमन सभ्यताके पतन और बुढ़ापेको प्रकट करता था। यूनानी दर्शनोंमें हम देख चुके हैं कि अफलातूँका लोकोत्तर विज्ञानवाद धर्म और अध्यात्मविद्याके सबसे अधिक नज़दीक था।

ईसा-पूर्व पहिली सदीमें रोम-साम्राज्यमें दो बड़े-बड़े शहर थे, एक तो राजधानी **बिजन्तिउम्** या आधुनिक इस्तांबोल (कुस्तुन्तुनिया) और दूसरा मिश्रका सिकन्दरिया। दोनों पूर्व और पश्चिमके वाणिज्य ही नहीं, संस्कृति, धर्म, दर्शन, कला सबके विनिमयके स्थान थे। बिजन्तिउम् था युरोपकी भूमिपर, किन्तु उसपर पश्चिमकी अपेक्षा पूरबकी छाप ज़्यादा थी। सिकन्दरियाके बारेमें कह चुके हैं कि वह व्यापारका केन्द्र ही नहीं था बल्कि विद्याके लिये पश्चिमकी नालन्दा थी। ईसा-पूर्व पहिली सदीमें लंकाके '**रत्न-माल्य** चैत्य (**रुवन्वेलि स्तूप**, **अनुराधपुर**)के उद्घाटन-उत्सवमें सिकन्दरियाके बौद्ध भिक्षु **धर्मरक्षित**के आनेका ज़िक्र[1] आता है, वह यही सिकन्दरिया हो सकती है; और इससे मालूम होता है कि ईसापूर्व तीसरी सदीमें अशोककी सहायतासे जो भिक्षु विदेशों और यवनलोक (यूनानी साम्राज्य)में भेजे गये थे, उन्होंने सिकन्दरियामें भी अपना मठ कायम किया था। धर्म व्यापारका अनुगमन करता है, यह कहावत उस वक्त भी चरितार्थ थी। जहाँ-तहाँ विदेशोंमें भारतीय व्यापारी बस गये थे, जिनसे उनके धर्म-प्रचारकोंको उस देशके विचार तथा समाजके बारेमें जाननेका ही अधिक सुभीता न होता था, बल्कि ये व्यापारी उनके मठोंके बनाने और शरीर-निर्वाहके लिये मदद देते थे। यूनानके राष्ट्रीय अधःपतन और

---

[1] **महावंश २६।३६ (भदंत आनंद कौसल्यायनका हिन्दी-अनुवाद, पृष्ठ १३६)।**

निराशाके समय पूर्वीय साधुओं, योगियोंकी योग-तपस्या, संसारकी असारता परलोकवादकी ओर लोगोंका ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक था, और हम देखते हैं कि हजारों शिक्षित, संस्कृत रोमक और यवन 'सत्य और निर्वाण'के साक्षात्कारके लिए सिकन्दरियासे रेगिस्तानका रास्ता लेते हैं। वहाँ वे दरिद्रता, उपवास, योग और भजनमें अपने दिन गुजारते हैं। दुनिया छोड़कर भागनेवाले इस समुदायमें सैनिक, व्यापारी, दार्शनिक, महात्मा सभी शामिल थे। यद्यपि सिकन्दरियामें अफलातूँ ही नहीं, अरस्तूका यथार्थवादी दर्शन भी पढ़ा-पढ़ाया जाता था, किन्तु जो दुनियासे ऊब गये थे और जिन्हें सुधारका कोई रास्ता नहीं दिखाई पड़ता था, वे अफलातूँके विज्ञानवादको ही सबसे ज़्यादा पसन्द करते।

पश्चिमी जगत्का, उस समय भारतकी ही नहीं, ईरानकी भी पुरानी संस्कृतिसे सम्बन्ध था, बल्कि पासका पड़ोसी होनेसे ईरानका सम्बन्ध ज़्यादा नज़दीकका था। ईरान, दर्शनकी उड़ानमें हमेशा भारतसे पीछे रहा। पिथागोर (५७०-५०० ई० पू०) और सिकन्दर (३५६-२३ ई० पू०)के समयसे ही भारत अपनी सम्पत्तिके लिये ही नहीं, दार्शनिकों और योगियोंके लिये भी मशहूर था। इसीलिए यूनानी दर्शनको नवीन अफलातूनीय दर्शनके रूपमें परिणत करनेका श्रेय भारतीय दर्शनको ही है। निराशावाद, रहस्यवाद, दुःखवाद, लोकोत्तरवाद वहीं उठते हैं, जहाँकी भूमि वहाँके समाजके नायकोंको असन्तुष्ट कर देती है—या तो बराबरके युद्ध, राज्यक्रान्ति और उनके कारण होनेवाले दुर्भिक्ष, महामारी जीवनको कड़ुवा बना देते हैं, अथवा समाजके भीतरकी विषमता—गन्दगी, समृद्धि भोगोंको 'चंचला लक्ष्मी' बना असन्तोषकर बना देती हैं। सातवीं-छठवीं सदी ई० पू०में भारतमें उपनिषत्का निराशावाद, रहस्यवाद, इन्हीं परिस्थितियोंमें पैदा हुआ था और समाजको बदलनेकी जगह स्थिरता प्रदान कर भारतने इन विचार-धाराओंको भी स्थिरता प्रदान की। पीछे आनेवाले बौद्ध-जैन तथा दूसरे दर्शन उसी निराशावाद और रहस्यवादके नये संस्करण हैं, आखिर सामाजिक विकासके रुक जानेपर भी बौद्धिक विकास

तो भारतीयोंका कुछ होता ही रहा, जिसकी वजहसे निराशावाद और रहस्यवादको भी नये रूप देनेकी ज़रूरत पड़ी। भारतने समाजको नया करनेमें तो सिर खपाना नहीं चाहा, क्योंकि सदियाँ बीतती गईं और गंदगियाँ जमा होती रहीं—बढ़ते कर्जको मुलतवी करनेवाले ऋणीकी भाँति उनका सफाया करना और मुश्किल हो गया। ऐसी विषम परिस्थितिमें बिल्लीके सामने कबूतरके आँख मूँदने या शुतुर्मुर्गके बालूमें मुँह छिपानेकी नीति आदमीको ज़्यादा पसन्द आती है। भारतने निराशावाद-रहस्यवादको अपनाकर उसके उपनिषद्, जैन, बौद्ध, योग, वेदान्त, शैव, पाँचरात्र, महायान, तंत्र-यान, भक्तिमार्ग, निर्गुणमार्ग, कबीरपन्थ, नानकपन्थ, सखी-समाज, ब्रह्म-समाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज, राधावल्लभीय, राधास्वामी आदि नये संस्करणोंको करके उसी बिल्ली-कबूतर-नीतिका अनुसरण किया।

भारतकी तरहकी परिस्थितिमें जब दूसरे देश और समाज भी आ पड़ते हैं, उस समय यही आजमूदा नुस्खा वहाँ भी काम आता है। आज युरोप, अमेरिकामें जो बौद्ध, वेदान्त, थ्योसोफी, प्रेतविद्याकी चर्चा है, वह भी वही शुतुर्मुर्गी नीति है—समाजके परिवर्तनकी जगह लोकसे 'भागने'का प्रयत्न है।

ईसापूर्व पहिली सदीका यवन-रोमका नायक-शासक समाज, भोग समृद्धिमें नाक तक डूबा, सामाजिक विषमता और गंदगीके कारण अनिश्चित भविष्य तथा अजीर्णका शिकार था। वह भी इस परिस्थितिसे जान छुड़ाना चाहता था, इसके लिये उसका स्वदेशीय नुस्खा अफलातूँका दर्शन काफी न था, उसके लिए और कड़ी बोतल ज़रूरी थी, जिसके लिए उन्होंने भारतीय रहस्यवाद-निराशावादको अफलातूनी दर्शनमें मिला दिया। इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष सारी दुनिया माया, भ्रम, इन्द्र-जाल है, मानस (विज्ञान) जगत् ही सच्चा है। सत्य और मानसिक शान्ति तभी मिल सकती है, जब कि मनुष्य जीवनसे अलग हो। एक लम्बे संयम-यम-नियमके साथ, इसी जन्मकी नहीं, अनेक जन्मकी संसिद्धिके साथ उस अकथ,

अज्ञेय, रहस्यमयी दुनियाको जाननेपर, हृदयकी गाँठें टूट जाती हैं; सारे संशय छिन्न हो जाते हैं, लाखों जन्मके दोष (कर्म) क्षीण हो जाते हैं; उस पर-अपर (परले-उरले)को देख कर।"

नवीन-अफलातूनीय दार्शनिकोंमें सिकन्दरियाका फिलो यूदियो (ई० पू० २५ से ५० ई०) बहुत महत्त्व रखता है। उसने अफलातूँ और भारतीय दर्शनके साथ यहूदी शिक्षाका समन्वय करना चाहा; इसके लिए उसने यहूदी फरिश्तोंको भगवान् और मनुष्यके बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाले अफलातूनी विज्ञानका आलंकारिक रूप बतलाया।

लेकिन यह आलंकारिक व्याख्या उतनी सफल नहीं हुई; जिसपर इस कामको प्लोतिन[१] (२०५-७१ ई० पू०) ने अपने हाथमें लिया। नाशोन्मुख भव्य प्रासादके कंगूरे, मीनार, छत और दीवारें एक-एक ईंट करके गिरते हैं, वही हालत पतनोन्मुख संस्कृतिकी भी होती है। ईसाकी तीसरी सदीके आरम्भमें रोमन संस्कृति भी इस अवस्थामें पहुँच गई थी। प्लोतिन उसका ही प्रतीक था। प्लोतिन और उसके जैसे दूसरे विचारक भी वस्तु-स्थितिसे मुकाबिला करनेसे जी चुराना चाहते हैं। वह दुनियाकी सारी व्यवस्था—समाजकी गंदगियों—को जाननेकी काफी समझ रखते हैं, किन्तु अज्ञान, कायरपन या अपने समृद्धवर्गके स्वार्थके ख्यालसे उस व्यवस्थाके उलटनेमें योगदान नहीं करना चाहते उन्हें इससे अच्छी वह ख्याली-दुनिया मालूम होती है, जिसका निर्माण बड़े यत्नके साथ अफलातूँने किया था। नवीन-अफलातूनीय दर्शनकी शिक्षा थी—"सभी चीजें एक अज्ञेय परमतत्त्व[२], अनादि विज्ञान[३]से पैदा हुई हैं। परमात्मासे उनका सम्बन्ध वस्तुके तौरपर नहीं, बल्कि कल्पनाके तौर-पर है, यही कल्पना करना उस परमतत्वके अस्तित्वका परिचायक है। परमतत्त्वके किसी गुणको समझनेके लिये हमारे पास कोई इन्द्रिय या साधन नहीं है। इस परमतत्वसे एक आत्मा पैदा होता है, जिसे ईश्वर

---

[१] Plotinus.　[२] Absolute.　[३] Intelligence.

कहते हैं और जो विश्वका सृष्टिकर्ता है। शंकरके वेदान्तमें भी ईश्वर (परमात्मा)को परमतत्त्व मानते हैं। यह ईश्वर या "दिव्य विज्ञान" ध्यान करके[1] अपने शरीरसे विश्व-आत्माको पैदा करता है, जो कि विश्वका भी आत्मा है, दुनियाके अनगिनत जीवात्माओंका भी। दुनिया अब तैयार हो गई। किन्तु दिव्य-विज्ञानका काम इतनेसे समाप्त नहीं होता; वह लगातार आत्माओंको प्रकटकर इस देखनेकी दुनियामें भेज रहा है और जिन्होंने अपने सांसारिक कर्तव्यको पालन कर लिया है, उन्हें अपनी गोदमें वापस ले रहा है।

अफलातूँने प्रयोग या अनुभवसे ऊपर, बुद्धिको माना था; किन्तु नवीन-अफलातूनी समाधिके साक्षात्कार, आत्मानुभूति[2]को बुद्धिसे भी ऊपर मानते थे। प्लोतिनुने कहा—"उस सर्व महान् (परमतत्त्व)को बुद्धिके चिन्तनसे नहीं बल्कि अचिन्तनसे, बुद्धिसे परे जाकर जाना जा सकता है।"

इस रहस्यवादने ईसाई-धर्म और खासकर ईसाई सन्त अगस्तिन् (३५४-४३० ई०) पर बहुत प्रभाव डाला। आज भी पूर्वीय ईसाई चर्च (स्लावदेशोंकी ईसाइयत)पर भारतीय नवीन-अफलातूनीय दर्शनकी जबर-दस्त छाप है, योग, ज्ञान, वैराग्यका दौर दौरा है। पश्चिमी रोमन कैथ-लिक चर्चको सन्त तामस् अक्विना (१२२५–७४ ई०)ने जमीनपर लानेकी कुछ कोशिश की, मगर रहस्यवादसे धर्मका पिंड छूट ही कैसे सकता है?

४७ ई० पू०में रोमनोंने सिकन्दरियापर अधिकार किया। उसके बाद उसका वैभव क्षीण होने लगा। आमतौरसे दर्शनकी ओर उनकी विशेष रुचि न थी तो भी कुछ रोमनोंने यूनानी दर्शनके अध्ययन-अध्यापनमें सहायता की। सिसरो (१०६-४३ ई० पू०)का नाम इस बारेमें विशेषतः उल्लेखनीय है, इसके ग्रंथोंने पीछे भी यूनानी दर्शनको जीवित रखनेमें बहुत काम किया। लुक्रेशियो (९८-५५ ई० पू०)ने देमोक्रितुके परमाणु-वादको हम तक पहुँचानेमें बड़ी सहायता की। स्तोइक दार्शनिक सम्राट्

---

[1] "सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात्"—मनु० १।८ [2] Intuition.

मर्कस् औरेलियस् (१२१-८० ई०)का जिक्र पहले आ चुका है। यूनानी दर्शनके बारेमें अंतिम लेखनी बोयथेऊ[1] (४८०-५२४)की थी, जो कि दिग्नाग (४५० ई०) और धर्मकीर्ति (६०० ई०)के बीचके कालमें पैदा हुआ था और जिसने "दर्शनके-सन्तोष"[2] नामक ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रंथने बहुत दिनों तक विद्यार्थियोंके लिये प्रकरण या परिचय-ग्रंथका काम दिया।

ईसाई-धर्मपर पीछे नवीन-अफलातूनीय दर्शनका असर पड़ा जरूर, किंतु शुरूमें ईसाई-धर्म प्रचारक दर्शनको घृणाकी दृष्टिसे देखते थे और ईसाके सीधे-सादे जीवन तथा गरीबोंके प्रेमकी कथायें कहकर साधारण जनताको अपनी ओर खींच रहे थे। उनका जोर, ज्ञान और वैयक्तिक प्रयत्नपर नहीं बल्कि विश्वास और आत्मसमर्पणपर था। आदिम ईसाई नेता दर्शनको खतरनाक समझते थे। ३६० ई० में लाटपादरी थेवफिलने धर्म-विरोधी पुस्तकोंका भंडार समझकर सिकन्दरियाके सारे पुस्तकालयोंको जलवा दिया। ४१५ ई० में सिकन्दरियाके ज्योतिषी थ्योन[3]की लड़की तथा स्वयं गणितकी पंडिता हिपाशिया[4]का ईसाई धर्मान्धों-ने बड़ी निर्दयताके साथ बध किया। ऐसे कितने ही पाशविक बधों और अत्याचारोंसे ईसाके धर्मान्धोंको संतोष नहीं हुआ और अन्तमें ५२९ ई० में—जिस शताब्दीमें भाव्य, चन्द्रकीर्ति, प्रशस्तपाद उद्योतकर जैसे दार्शनिक तथा बराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त जैसे ज्योतिषी हमारे यहाँ स्वतन्त्र चिन्तनमें लगे थे—ईसाई राजा जस्तीनियनने राजाज्ञा निकाल दर्शनके सभी विद्यालयोंको बन्द कर दिया। तबसे युरोपमें सात सौ वर्षोंकी काल-रात्रि शुरू होती है, जिसमें दर्शन विस्मृत सा हो जाता है।

५—अगस्तिन् (३५३-४६० ई०)

यूनानी दर्शनके साथ शुरूमें ईसाइयतका बर्ताव कैसा रहा? इसका जिक्र हम कर चुके हैं। लेकिन तलवारसे ज्ञानकी चोट जबरदस्त होती

---

[1] Boetheus. [2] Consocations. [3] Theon. [4] Hipatia.

है। जिस समय (३९०) लाट-पादरी थेवफिल सिकन्दरियाके पुस्तकालयोंको जला रहा था, उस समय ओरोलियो अगस्तिन ४७ वर्षका था, और यद्यपि वह अब ईसाई साधु था, किंतु पहिलेके पढ़े दर्शनको वह भूल नहीं सकता था; इसीलिये उसने दर्शनको ईसाई-धर्मकी खिदमतमें लगाना चाहा।

अगस्तिन तगस्तेर (उत्तरी अफ़्रीका) में ईसाई माँ (मोनिका) और काफिर बापसे पैदा हुआ था। साधु होनेके बाद तीन साल (३८४-८६) तक वह मिलन (इताली) में पादरी रहा। उसने यूनानी दार्शनिकोंकी भाँति युक्तिद्वारा ईसाई-धर्मका मंडन करना चाहा—ईश्वरने दुनियाको 'असत्'से नहीं पैदा किया। अपने विकासके वास्ते यह बात उसके लिए जरूरी नहीं है। ईश्वर लगातार सृष्टि करता रहता है। ऐसा न हो तो संसार छिन्न-भिन्न हो जाय। संसार बिलकुल ही ईश्वरके अवलंबनपर है। संसार काल और देशमें बनाया गया—यह हम नहीं कह सकते, क्योंकि जब ईश्वरने संसार बनाया उससे पहिले देश-काल नहीं थे। संसार-को बनाते हुए उसने देश-कालको बनाया! तो भी ईश्वरकी सृष्टि सदा रहनेवाली सृष्टि नहीं है। संसारका आदि है; सृष्टि सान्त, परिवर्तन-शील और नाशमान है। ईश्वर सर्व शक्तिमान् है, उसने भौतिक तत्त्वों-को भी पैदा किया।

२—इस्लामिक दर्शन

द्वितीय अध्याय

२—इस्लामिक दर्शन

पैगंबर मुहम्मद और इस्लामकी सफलता

§ १—इस्लाम

ईसाकी छठीं सदी वह समय है, जब कि भारतमें एक बहुत शक्तिशाली राज्य—गुप्त साम्राज्य—खतम होकर छोटे-छोटे राज्योंमें बँटने लगा था, तो भी अन्तिम बिखरावके लिए अभी एक सदीकी देर थी। गुप्तोंके बाद उत्तरी भारतके एक विशाल केन्द्रीकृत राज्यको पहिले मौखरियोंने और फिर अन्तमें काफी सफलताके साथ हर्षवर्द्धनने हस्तावलम्ब दिया था। जिस वक्त इस्लामके संस्थापक पैगंबर मुहम्मद अपने धर्मका प्रचार कर रहे थे, उस वक्त भारतमें हर्षवर्द्धनका राज्य था, और दर्शन-नभमें धर्मकीर्त्ति जैसा एक महान् नक्षत्र चमक रहा था।

छठीं सदीका अरब हाल तकके अरबकी भाँति ही छोटे-छोटे स्वतन्त्र कबीलोंमें बँटा हुआ था। आजकी भाँति ही उस वक्त भी भेड़-ऊँटका पालना और एक दूसरेको लूटना अरबोंकी जीविकाके "वैध" साधन थे। हाँ, इतना अन्तर कमसे कम पिछले महायुद्ध (१९१४-१८ ई०)के बादसे जरूर है, कि इब्न-सऊदके शासनमें कुछ हद तक कबीलोंकी निरंकुशताको अरबके बहुतसे भागोंमें कम किया गया। पैगंबर मुहम्मदके समय अरबके कुछ भाग तथा लाल-सागरके उस पार अबीसीनियाका ईसाई राज्य था। उसके ऊपर मिश्र रोमनोंके हाथमें था। उत्तरमें सिरिया

(दमिश्क) आदि रोमन कैसर (राजधानी बिजन्तियुम् कस्तुन्तुनिया, वर्तमान इस्ताम्बूल)के शासनमें था। पूर्वमें मेसोपोतामिया (इराक) और आगे ईरानपर सासानी (पारसी) शाहंशाह शासन कर रहे थे। अरब बद्दू (खानाबदोश) कबीलोंका रेगिस्तानी इलाका था। उसके पश्चिमी भागमें मक्का (बक्का) और यस्रिब् (मदीना)के शहर वाणिज्य-मार्गपर होनेसे खास महत्त्व रखते थे। यस्रिबका महत्त्व तो उसकी तिजारत और यहूदी सौदागरोंके कारण था, किन्तु मक्का सारी अरब जातिका महान् तीर्थ था, जहाँपर सालमें एक बार लड़ाकू अरब भी हथियार हाथसे हटा रोजा रख श्रद्धापूर्वक तीर्थ करने आते थे, और इसी वक्त एक महीनेके लिए वहाँ व्यापारिक मेला भी लग जाता था।

१—पैगंबर मुहम्मद

(१) जीवनी—अरबोंका सर्वश्रेष्ठ तीर्थ होनेके कारण मक्काके काबा-मन्दिरके पुजारियों (पंडों)को उससे काफी आमदनी ही नहीं थी, बल्कि वह कुल और संस्कृतिमें अरबोंमें ऊँचा स्थान रखते थे। पैगंबर मुहम्मदका जन्म ५७० ई०में मक्काके एक पुजारी वंश—कुरैश—में हुआ। उनके माता-पिता बचपनहीमें मर गये, और बच्चेकी परवरिशका भार दादा और चाचापर पड़ा।

मक्काके पुजारी पूजा-पंडापनके अतिरिक्त व्यापार भी किया करते थे। एक बार उनके चाचा अबूतालिब जब व्यापारके लिये शामकी ओर जा रहे थे, तो बालक मुहम्मदने ऊँटकी नकेल पकड़कर ले चलनेका इतना जबर्दस्त आग्रह किया, कि उन्हें साथ ले जाना पड़ा। इस तरह होश सँभालनेसे पहिले ही इस्लामके भावी पैगंबरने आस-पासके देशों, उनकी उर्बर और मरु-भूमियों, वहाँके भिन्न-भिन्न धार्मिक रीति-रवाजोंको देखा था। जवान होनेपर व्यापार-निपुणताकी बात सुनकर उनकी भावी पत्नी तथा मक्काकी एक धनाढ्य विधवा खदीजाने उन्हें अपने कारवाँका मुखिया बनाकर व्यापार करनेके लिए भेजा। पैगंबर मुहम्मद आजन्म

अनपढ़ (उम्मी) रहे, यह बात विवादास्पद है—खासकर एक बड़े व्यापारी कारवाँके सरदारके लिए तो भारी नुकसानकी चीज हो सकती है। यदि ऐसा हो तो भी अनपढ़का अर्थ अबुद्धि नहीं होता। तरुण मुहम्मद एक तीव्र प्रतिभाके धनी थे, इसमें सन्देह नहीं, और ऐसी प्रतिभाके साथ पुस्तकोंसे भी ज़्यादा वह देश-देशान्तरके यातायात तथा तरह-तरहके लोगोंकी संगतिसे फ़ायदा उठा सकते थे, और उन्होंने फायदा उठाया भी।

पैगंबर मुहम्मदके अपने वंशका धर्म अरबकी तत्कालीन मूर्तिपूजा थी, और काबाके मन्दिरमें लाल, वक्क जैसे ३६० देवता और साथ ही किसी टूटे तारेका भग्न भाग एक कृष्ण-पाषाण (हज्र असवद्) पूजे जाते थे। पत्थरके देवता प्रकृतिकी सर्वश्रेष्ठ उपज मानवकी बुद्धिका खुल्लमखुल्ला उपहास कर रहे थे, किन्तु पुरोहित-वर्ग अपने स्वार्थके लिए हर तरहकी बुद्धि सुलभ चालाकियोंसे उसे जारी रखना चाहता था। मुहम्मद साहेब उन आदमियोंमें थे, जो समाजमें रूढ़िवश मानी जाती हर एक बातको बिना ननु-नचके मानना नहीं पसन्द करते। साथ ही अपनी वाणिज्य-यात्राओंमें वह ऐसे धर्मवालोंसे मिल चुके थे, जिनके धर्म अरबोंकी मूर्ति-पूजाकी अपेक्षा ज़्यादा प्रशस्त मालूम होते थे। खासकर ईसाई साधुओं और उनके मठोंकी शान्ति तथा बौद्धिक वातावरण, और यहूदियोंकी मूर्ति-रहित एक-ईश्वर-भक्ति उन्हें ज़्यादा पसंद आई थी। यह तो इसीसे साबित है कि कुरानमें यहूदी पैगंबरों और ईसाको भी भगवान्की ओरसे भेजे गये (रसूल) और उनकी तौरात (पुरानी बाइबल) और इंजीलको ईश्वरीय पुस्तक माना गया है। उनकी महिमाको बीसियों जगह दुहराया गया, और बार-बार यह बात साबित करनेका प्रयत्न किया गया है, कि उनमें एक पैगंबरके आनेकी भविष्यवाणी है, जो कि और दूसरा नहीं बल्कि यही मुहम्मद अरबी है। तत्कालीन अरब घोर मूर्तिपूजक और बहुदेव-विश्वासी ज़रूर थे, किन्तु साथ ही यहूदी, ईसाई तथा आस-पासके दूसरे धर्मानुयायियोंके सम्पर्कमें आनेसे यह बात भी स्वीकार करते थे, कि इन सब देवताओंके ऊपर एक ईश्वर (यह नहीं अल्लाह) है।

कहा जा सकता कि इस अल्लाहको वह यहूदियोंके यहोवाकी भाँति बिलकुल यहूदी पुरुषोंकी भाँति लंबी सफेद दाढ़ी, नूरानी पेशानी और लंबे चोगे वाला स्वर्गस्थ व्यक्ति मानते थे, अथवा ईसाइयों—खासकर नस्तोरी ईसाइयों (जिनकी संख्या कि उस समय शाम आदि देशोंमें अधिक थी)—के निराकार-साकार-मिश्रित भगवान् पिताकी तरह। हाँ, वह इस अल्लाहकी तरफसे भेजे खास व्यक्तियों (रसूलों) और किताबोंको नहीं मानते थे—अथवा वह स्थायी रसूलों और किताबोंकी जगह कुछ समयके लिए सिर पर देवता ले आने वाले ओझों—सयानोंको रसूल और उनके भाषणोंको आस्मानी किताबका स्थान देते थे। दोनों तरहके "रसूलों" और "किताबों"के फायदे भी हैं और नुकसान भी, किन्तु यह तो साफ है कि कबीलों-कबीलोंको मिलाकर एक बड़ी अरब कौम तथा कौमों-कौमोंको मिलाकर एक बड़ी धार्मिक सल्तनत कायम करनेके लिए ओझा—सयाने जैसे रसूल और उनके इलाही वचन बिलकुल अपर्याप्त थे। मुहम्मद साहेबने व्यापारी जीवनमें देखा होगा कि अरबके कबीलोंके इलाकेमें पद-पदपर लूट-मार तथा चुँगी-करकी आफतके मारे व्यापारी परेशान थे; यदि एक कबीलेके इलाकेसे अल्ला-अल्ला करके किसी तरह जान-माल बचाकर निकल भी गये, तो आगे ही दूसरा कबीला चुँगी या भेंट उगाहने तथा मौका पाते ही छापा मारनेके लिए तैयार दिखाई पड़ता था। इसके विरुद्ध जहाँ वह रोमके कैसर या ईरानके शाहके राज्यमें प्रवेश करते, वहाँ एक बार केन्द्रीय सर्कारके फ़र्माबरदार चुँगी-कर्मचारियोंको महसूल चुकाते ही रात-दिन भयके मारे दबे जाते उनके दिलपरसे एक भारी बोझ यकायक हट जाता दिखाई पड़ता था। इस तरहके चिरव्यापी तजर्बेके बिनापर हज़रत मुहम्मद यदि सभी कबीलोंको मिलाकर एक राज्य और छापा—लूटमार एवं जंगलके कानून—जिसकी लाठी उसकी भैंस—की जगह इस्लाम (=शान्ति)का विधान चाहते हों, तो आश्चर्य ही क्या है। एक शासन और शान्ति (=इस्लाम)स्थापनको अपना लक्ष्य बनाते हुए भी मुहम्मद साहेब जैसा मानव प्रकृतिका गंभीर परख रखनेवाला व्यक्ति

सिर्फ आँख मूँदकर स्वप्न देखनेवाला नहीं हो सकता था। वह भलीभाँति समझते थे कि जिस शान्ति, व्यापार और धर्म-प्रचारमें सशस्त्र बाधाको रोकना वह चाहते हैं, वह निश्चेष्ट ईश्वर, प्रार्थना तथा हथियार रख निहत्थे बन जानेसे स्थापित नहीं हो सकती। उसके लिए एक उद्देश्यको लेकर आदमियोंकी सुसंगठित सशस्त्र गिरोहकी जरूरत है, जो कि अपने दृढ़ संकल्प और सुव्यवस्थित शस्त्रबलसे इस्लाम (=शान्ति)-स्थापनामें बाधा देनेवालोंको नष्ट या पराजित करनेमें सफल हो।

हाँ, तो मुहम्मद साहेबके विस्तृत तजर्बेने उन्हें बतला दिया था, कि कबीलोंको एक विस्तृत राज्य बनाने, उस विस्तृत राज्यको अपनी सीमा तथा शक्ति बढ़ानेके लिए किन-किन बातोंकी आवश्यकता है। पुरोहितोंके मारे मक्काके समाजमें उनके धर्मका विरोध करते हुए एक नये धर्मका पैगंबर बनना आसान काम न था। मुहम्मद साहेब काफी आत्मसंयमी व्यक्ति थे, ईसाई साधुओंकी भाँति हेराकी गुफाओंमें भी उन्होंने कितनी ही बार एकान्तवास किया था।

(२) नई आर्थिक व्याख्या—चाहे वह तिब्बतकी हो, अरब, या हमारे सीमा प्रान्तकी, सभी कबीला-प्रथा रखने वाली जातियोंमें पशुपालन, कृषि या वाणिज्यके अतिरिक्त लूटकी आमदनी (=माले-ग़नीमत) भी वैध जीविका मानी जाती रही है। माले-ग़नीमतको बिलकुल हराम कर देनेका मतलब था, अरबोंके पुराने भावपर ही नहीं, उनके आर्थिक आयके ज़रियेपर हमला करना—चाहे इस तरहकी आयसे सारे अरब-परिवारोंको फायदा न पहुँचता हो, किन्तु जूयेके पाशेकी भाँति कभी अपनी किस्मतके पलटा खानेकी आशाको तो वह छोड़ नहीं सकते थे। हजरत मुहम्मदने "माले-ग़नीमत" नाम रखते हुए भी उसे ईरान और रोमके देशविजयकी "भेटों" जैसे, किन्तु उससे विस्तृत अर्थमें बदलना चाहा, तो भी मालूम होता है, अरब-प्रायद्वीपमें यह प्रयत्न कभी सफल नहीं हुआ। वहाँके लोगोंने माले-ग़नीमतका वही पुराना अर्थ समझा और ऊपरसे उसे अल्लाहके आदेशके ऐन मुताबिक समझ लिया, जिसका ही परिणाम यह था, कि

अरबसे बाहर अन्-अरबी लोग जहाँ लूट-छापाके धर्मको हटाकर शान्ति (=इस्लाम) स्थापन करनेमें बहुत हद तक समर्थ हुए, वहाँ अरबी कबीले तेरह सौ वर्ष पहिलेके पुराने दस्तूरपर आज भी करीब-करीब कायम मालूम होते हैं। जो कुछ भी हो, माले-गनीमतकी नई व्याख्या—विजयसे प्राप्त होने वाली आमदनी, जिसमेंसे $\frac{1}{5}$ सरकारी खजाने (बैत्-उल्-माल) को मिलना चाहिए और बाकी योद्धाओंमें बराबर-बराबर बाँट देना चाहिए—विस्तृत राज्य-स्थापन करनेकी इच्छावाले एक व्यवहार-कुशल दूरदर्शी शासककी सूझ थी; जिसने आर्थिक लाभकी इच्छाको जागृत रखकर, पहिले अरबी रेगिस्तानके कठोर जीवन-वाले बद्दू तरुणों और पीछे हर मुल्कके इस्लाम-लाने वाले समाजमें प्रतारित तथा कठोर-जीवी लोगोंको इस्लामी सेनामें भरती होनेका भारी आकर्षण पैदा किया; और साथ ही बढ़ते हुए बेत्-उल्-मालने एक बलशाली संगठित शासनकी बुनियाद रक्खी। माले-गनीमतके बाँटनेमें समानता तथा खुद अरबी कबीले वाले व्यक्तियोंके भीतर भाई-चारे बराबरीके ख्यालने इस्लामी "समानता"का जो नमूना लोगोंके सामने रखा, वह बहुत अंशमें कुछ समय तक और पिछले अंशमें बहुत कुछ सदा एक भारी संगठन पैदा करनेमें सफल हुआ है।

माले-गनीमतकी इस व्याख्याने आर्थिक वितरणके एक नये जबर्दस्त क्रान्तिकारी रूपको पेश किया, जिसने कि अल्लाहके स्वर्गीय इनाम तथा अनन्तजीवनके ख्यालसे उत्पन्न होने वाली निर्भीकतासे मिलकर दुनियामें वह उथल-पुथल की, जिसे कि हम इस्लामका सजीव इतिहास कहते हैं। यह सच है, कि माले-गनीमतकी यह व्याख्या कितने ही अंशोंमें दारयोश (दारा), सिकन्दर, चन्द्रगुप्त मौर्य ही नहीं दूसरे साधारण राजाओं-के विजयोंमें भी मानी जाती थी; किन्तु वह उतनी दूर तक न जाती थी। वहाँ साधारण योद्धाओंमें वितरण करते वक्त उतनी समानताका ख्याल नहीं रखा जाता था; और सबसे बढ़कर कमी तो यह थी, कि विजित जातिके साधारण निःस्व लोगोंको इसमें भागीदार बननेका कोई

मौका न था। इस्लामने विजित जातिके अधिकांश धनी और प्रभु-वर्गको जहाँ पामाल किया, वहाँ अपनी शरणमें आनेवाले—खासकर पीड़ित—वर्गको विजय-लाभमें साझीदार बनानेका रास्ता बिलकुल खुला रक्खा। स्मरण रखना चाहिए, इस्लामका जिससे मुकाबिला था, वह सामन्तों-पुरोहितोंका शासन था, जो कि सामन्तशाही शोषण और दासताके आर्थिक ढाँचेपर आश्रित था। यह सही है कि इस्लामने इस मौलिक आर्थिक ढाँचेको बदलना अपना उद्देश्य कभी नहीं घोषित किया, किन्तु उसके मुकाबिलेमें अरबमें अभ्यस्त कबीलों वाले भ्रातृत्व और समानताको ज़रूर इस्तेमाल किया, जिससे कि उसने सीमित शासक वर्गके नीचेकी साधारण जनताके कितने ही भागको आकर्षित और मुक्त करनेमें सफलता पाई। यद्यपि इस्लामने कबीलेके पिछड़े हुए सामाजिक ढाँचेसे यह बात ली थी, किन्तु परिणामतः उसने इस अर्थमें एक प्रगतिशील शक्तिका काम किया; और सड़ाँद फैलाने वाले बहुतसे सामन्त-परिवारों और उनके स्वार्थोंको नष्टकर, हर जगह नई शक्तियोंको सतहपर आनेका मौका दिया। यह ठीक है कि यह शक्तियाँ भी आगे उसी 'रफ़्तार-बेढंगी'को अख्तियार करनेवाली थीं। दासों-दासियोंको मालिककी सम्पत्ति तथा युद्धमें लूटका माल बनानेके लिए अकेले इस्लामको दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उस वक्तका सारा सभ्य संसार—चीन, भारत, ईरान, रोम—इसे अनुचित नहीं समझता था।

यहूदी और ईसाई धर्म-पुस्तकोंका पैगंबर अरबी कबीलोंकी दृष्टिसे गंभीरतापूर्वक अध्ययन किया था—यदि वह वस्तुतः अनपढ़ थे, तो उन्होंने ध्यानसे उन्हें सुना था। और फिर चालीस वर्षकी अवस्थामें खूब आगा-पीछा सोचकर उन्होंने अपनेको अल्लाहका भेजा (रसूल) घोषित किया। उनकी जीवनीकी बहुत सी बातों तथा कुरानकी शिक्षाके बारेमें मैं अपने "कुरान-सार"में लिख चुका हूँ, इसलिए उन्हें यहाँ नहीं लिखना चाहता, न वह इस पुस्तकका विषय है। पैगंबर मुहम्मदने सही मानेमें "घरसे दानारम्भ"की अंग्रेजी कहावतको चरितार्थ किया, और पहिले-

पहिल उनकी स्त्री खदीजाने उनके धर्मको स्वीकार किया। विरोधी विरोध भी करते थे, किन्तु उनके अनुयायी—जिनमें उनकी ही भाँति मक्काके व्यापारी-योद्धा ही ज़्यादा थे—बढ़ते ही गये। मक्काके पुजारी—कुरेश—इसपर उनकी जानके गाहक बन गये, और अन्तमें उन्हें मक्का छोड़ यस्रिबको सन् ६१४ ई० 'हिज्रत' (=प्रवास) कर जाना पड़ा; इसी यादगारमें मुसलमानोंने हिज्री सन् आरम्भ किया और मदीनत्-उल्-नबी (नबीका नगर) होनेके कारण पीछे यस्रिबका नाम ही मदीना पड़ गया। मक्का तक पैगंबर-इस्लाम एक धार्मिक सुधारक या प्रचारक थे, किन्तु मदीनामें उनको अपने अनुयायियोंका आर्थिक, सामाजिक विचारक, व्यवस्थापक एवं सैनिक नेता भी बनना पड़ा, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनकी मृत्युके समय (६२२ ई०) पश्चिमी अरबके कितने ही प्रमुख कबीलोंने इस्लाम ही नहीं कबूल किया, बल्कि उन्होंने अपनी निरंकुशताको कमकर एक संगठनमें बँधना स्वीकार किया; और सारे अरब भाषा-भाषी लोगोंमें भी उसके लिए आकांक्षा पैदा कर दी।

२–पैगंबरके उत्तराधिकारी

हजरत मुहम्मद स्वयं राजतन्त्रके विरुद्ध न थे, इसीलिए पहिले उन्होंने अपने पड़ोसी राजाओं—ईरानके ज़र्तुश्ती शाह, और रोमके ईसाई कैसर—को इस्लाम कबूल करनेकी दावत दी थी, और यह उनके राज्यपर किसी तरहके हस्तक्षेपका ख्याल करके नहीं किया गया था; तो भी उन्होंने अरब और उसके द्वारा इस्लामी जगत्के सामने जिस राजनीतिक ढाँचेकी कल्पना रखी, उसमें निरंकुश राजतंत्र क्या, सही मानेमें राजतंत्रकी भी गुंजाइश न होकर, छोटे-छोटे कबीलोंकी जगह अनेक-देशव्यापी एक विशाल कबीलेका ख्याल काम कर रहा था—इस्लाम अरब और अरब-भिन्न मुल्कोंमें फैले, सभी अरबी तथा अन्-अरबी मुसलमान अपनेको एक कबीला समझें। पैगंबरके जीवन भर वह खुद ईश्वरकी ओरसे भेजा हुआ उनका सर्दार है, किन्तु पैगंबरकी मृत्युके बाद

सर्दारको इस बड़े इस्लामी कबीलेका विश्वास-भाजन होना चाहिए। विश्वास-भाजन होनेकी कसौटी क्या है, इसके बारेमें पैगंबरने कोई साफ व्यवस्था नहीं बनाई; अथवा कबीलोंके नमूनेपर जिस व्यवस्थाको बनाया जा सकता था, वही बनी-उमैयों (६६१-७५० ई०)के सिन्धसे स्पेन तक फैले राज्यमें व्यवहृत नहीं की जा सकती थी। ज़्यादासे-ज्यादा यही कहा जा सकता है, कि उनके दिमागमें अपने उत्तराधिकारी शासक (=खलीफा)के लिये यही ख्याल हो सकता था, कि वह कबीलेके सर्दारकी भाँति कबीलेके सामने अपनेको जवाबदेह माने और कैसरों तथा शाहंशाहोंकी भाँति अपनेको निरंकुश न समझे। लेकिन यह व्यवस्था जो एक छोटे कबीलेमें सफलतापूर्वक भले ही चल सकती हो, अनेक प्रकारकी भाषाओं-संस्कृतियों-देशोंसे मिलकर बने इस्लामी राज्यमें चल न सकती थी, और पैगंबरके निःस्वार्थ आदर्शवादी सहकारियों—अबूबकर (६२२-४२ ई०), उमर (६४२-४४ ई०), उस्मान (६४४-५६ ई०) तथा अली (६५६-६१ ई०)की खिलाफत (उत्तराधिकारी शासन)के बीतते-बीतते बिलकुल बेकार साबित हो गई। पैगंबरके आँख मूँदनेके ३९ वर्ष बाद अमीर-म्वाविया (६६१-८० ई०)के हाथ में शासनकी बागडोर गई, और तबसे उसके सारे उत्तराधिकारी चाहे वह उसके अपने खान्दान—बनी-उमैय्या[1] (६६१-७४७ ई०)—के हों या बनी-अब्बास (७४९-१०३७ ई०[2]) के, शाहों और कैसरोंकी भाँति ही स्वेच्छाचारी शासक थे।

३—अनुयायियोंमें पहिली फूट

हर एक कबीलेके अलग-अलग इलाहों (=खुदाओं)को हटाना

---

[1] म्वाविया (६६१-८० ई०), मजीद प्रथम (६८०-७१७), उमर द्वितीय (७१७-२० ई०), मजीद द्वि० (७२०-२४ ई०), हिशाम (७२४-४३ ई०), वलीद (७४३ ई०), मजीद तृतीय (७४३-४४), इब्न-म्वाविया (७४४-४७ ई०)   [2] अब्दुल्-अब्बास (७४९-५४ ई०) और उसकी सन्तान।

इस्लामके लिए इसलिए भी ज़रूरी था—एक कबीलेके इलाह को दूसरे क्यों कबूल करने लगे। फिर एक अल्लाह और नई आर्थिक व्याख्याको लेकर जबतक एकीकरण सिर्फ अरबोंके बीच था, तबतक एक भाषा, एक संस्कृति—एक जातीयता—के कारण कोई भारी दिक्कत पेश नहीं हुई; किन्तु जब अन्-अरब जातियाँ इस्लामके धार्मिक और लौकिक राज्यमें शामिल होने लगीं, तो सिर्फ एक अल्लाह तथा उसके रसूलसे काम चलने वाला न था। दो सभ्यताओंके प्रतिनिधि दो जातियोंका जब समागम चाहे खुशीसे या जबर्दस्तीसे होता है—तो दोनोंका आदान-प्रदान तो स्वाभाविक है, किन्तु जब एक दूसरेको लुप्तकर उसकी जगह लेना चाहती है, तो मामला बेढब हो जाता है, क्योंकि राज्य-शासनकी अपेक्षा संस्कृतिकी जड़ ज़्यादा गहरी होती है। इसी सांस्कृतिक झगड़ेने आगे चलकर अरबोंके इस्लामी शासनको अन्-अरबी शासनमें परिणत कर दिया, यह हम अभी बतलाने वाले हैं। किन्तु, उससे पहिले हम अरब-अरब समागमकी पहिली प्रतिक्रियाका अरबोंके भीतर क्या असर पड़ा, उसे बतलाना चाहते हैं।

तीसरे खलीफा उस्मान (६४४-५६ ई०)ने सिरियाकी विजयके बाद उमैय्या-वंशके सर्दार म्वावियाको दमिश्कका गवर्नर बनाकर भेजा। दमिश्क रोमन-क्षत्रपकी राजधानी था, और वहाँका राज-प्रबंध रोमन-कानून रोमन-राज-व्यवस्थाके अनुसार होता था। म्वावियाके सामने प्रश्न था, नये मुल्कका शासन किस ढंगसे किया जाये? क्या वहाँ अरबी कबीलोंकी राज्य-व्यवस्था लागू की जाये, या रोमन सामन्तशाही व्यवस्थाको रहने दिया जाये। इस प्रश्नको तलवार नहीं हल कर सकती थी, क्योंकि शासन-परिवर्तनसे कानूनी तथा सामाजिक ढाँचेका बदलना कहीं ज्यादा मुश्किल है। फिर सामन्तशाही व्यवस्था कबीलाशाहीके आगेका विकास है, सामन्त-शाहीसे कबीलाशाहीमें ले आना मानव-समाजकी प्रगतिको पीछेकी ओर मोड़ना था। म्वावियाकी व्यावहारिक बुद्धि भलीभाँति समझ सकती थी कि ऐसा करनेके लिए सिरियाके लोगोंको पहिले बद्दू तथा अर्ध-बद्दू कबीलेमें परिवर्तित करना होगा। उसकी पैनी राजनीतिक दृष्टि बतलाती

थी कि उससे कहीं अच्छा यह है, कि रोमन सामन्ती ढाँचेको रहने दिया जावे और लोगोंको अपने शासन मानने तथा अधिकसे-अधिक आदमियोंको इस्लाममें दाखिलकर उसे मजबूत करनेका प्रयत्न किया जाये। म्वावियाने रोम-राज्यप्रणालीको स्वीकार किया।

इस्लामको जो लोग अरबियतका अभिन्न अंग समझते थे, उन्हें यह बुरा लगा। जिन्होंने पैगंबरके सादे जीवनको देखा था, जिन्होंने कबीलोंकी विलासशून्य, भ्रातृत्वपूर्ण समानताके जीवनको देखा था, उन्हें म्वावियाकी हरकत बुरी लगी। शायद गाढ़ेकी चादर ओढ़े खजूरके नीचे सोनेवाला अथवा दासको ऊँटपर चढ़ाये यरुशिलममें दाखिल होनेवाला उमर अब भी खलीफा होता, तो म्वाविया वैसा न कर सकता, किन्तु समय बदल रहा था। पैगंबरके दामाद और परम विश्वासी अनुयायी अलीको जब मालूम हुआ, तो उन्होंने इसकी सख्त निन्दाकी, इसे इस्लामपर भारी प्रहार समझ उसके खिलाफ आवाज उठाई। उनका मत था कि हमारी सल्तनत चाहे रोमपर हो या ईरानपर, वह अरबी कबीलोंकी सादगी-समानताको लिये होनी चाहिए। अलीकी आवाज अरण्य-रोदन थी। सफल शासक म्वावियासे खलीफा उस्मानको नाराज होनेकी ज़रूरत न थी। म्वाविया और अलीमें स्थायी वैमनस्य हो गया; किन्तु यह वैमनस्य सिर्फ दो व्यक्तियोंका वैमनस्य नहीं था, बल्कि इसके पीछे पहिले तो विकासमें आगे बढ़ी तथा पिछड़ी दो सामाजिक व्यवस्थाओं—सामन्तशाही एवं कबीलाशाही—की होड़का प्रश्न था; दूसरे दो सभ्यताओंकी टक्करके वक्त समझौते या "दोमेंसे केवल एक"का सवाल था।

अली (६५६-६१) पैगंबरके सगे चचेरे भाई तथा एक मात्र दामाद थे। अपने गुणोंसे भी वह उनके स्नेहपात्र थे, इसलिए कुछ लोगोंका ख्याल था कि पैगंबरके बाद खिलाफत उन्हींको मिलनी चाहिए थी; किन्तु दूसरी शक्तियाँ और जबरदस्त थीं, जिनके कारण अबूबकर, उमर और उस्मानके मरनेके बाद अलीको खिलाफत मिली। दमिश्कके जबर्दस्त गवर्नर म्वावियाकी उनकी अनबन थी,, किन्तु कबीलोंकी बनावट मदीनामें

बैठे खलीफाको इजाज़त नहीं दे सकती थी, कि अली म्वावियाको गवर्नरी से हटाकर बनी-उमैय्या खान्दानको अपना दुश्मन बना गृहयुद्ध शुरू कर दें। अलीका शासन म्वावियाकी अर्धप्रकट बगावत तथा बाहरी सभ्यताओंसे इस्लामके प्रभावित होनेका समय था। यद्यपि अली म्वावियाका कुछ नहीं बिगाड़ सके; किन्तु, म्वावियाको अली और उनकी सन्तानसे सबसे अधिक डर था। अलीके मरनेके बाद म्वावियाने खिलाफतको अपने हाथमें करनेमें सफलता ज़रूर पाई, किन्तु पैगंबरकी एकलौती पुत्री फातमा तथा अलीके दोनों पुत्रों—हसन और हुसेन—के जीवित रहते वह कब सुखकी नींद सो सकता था। आखिर सीधे-सादे अरब तो खलीफाके शाही ठाट-बाट और अपनी अवस्थाको मुकाबिला करके म्वावियाके विरुद्ध आसानीसे भड़काये जा सकते थे। उसने हसनको तो उनकी बीबीके द्वारा ज़हर दिलाकर अपने रास्तेसे हटाया और हुसेनके खतरेको हटानेके लिए म्वावियाके बेटे यज़ीद ने षड्यन्त्र किया। यज़ीदने अधीनता स्वीकारकर झगड़ेको मिटा डालनेके लिए हुसेनको बड़े आग्रहपूर्वक कूफा (यही बसाके सूबेदार यज़ीदकी उस वक्त राजधानी थी) बुलाया। रास्तेमें कर्बलाके रेगिस्तानमें किस निर्दयताके साथ सपरिवार हुसेनको मारा गया, वह दिल हिला देनेवाली घटना इतिहासके हर एक विद्यार्थीको मालूम है।

हुसैनकी शहादत दर्दनाक है। हर एक सहृदय व्यक्तिकी सहानुभूति हुसैन तथा उनके ६९ साथियोंके प्रति होनी ज़रूरी है। यज़ीदके सरकारी दबदबेके होते भी जब कर्बलाके शहीदोंके सत्तर सिर कूफामें यज़ीदके सामने रखे गये और नृशंस यज़ीदने हुसेनके सिरको डंडेसे हटाया तो एक बूढ़ेके मुँहसे यकायक आवाज निकल आई—"अरे! धीरे-धीरे! यह पैगंबरका नाती है। अल्लाहकी कसम मैंने खुद इन्हीं ओठोंको हज़रतके मुँहसे चुम्बित होते देखा था।" मानवताके न्यायालयमें हम यज़ीदको भारी अपराधी ठहरा सकते हैं; किन्तु प्रकृति ऐसी मानवता की कायल नहीं है, उसका हर अगला कदम पिछलेके ध्वंसपर बढ़ता है। आखिर अली, हुसेन या उसके अनुयायी विकासकी सामन्त-शाहीसे आगेकी ओर नहीं

बल्कि पीछे खींचकर कबीलेशाहीकी ओर ले जाना चाहते थे; जिसमें यदि सफलता होती तो इस्लाम उस कला, साहित्य, दर्शनका निर्माण न कर सकता, जिसे हमने भारत ईरान, मेसोपोतामिया, तुर्की और स्पेनमें देखा, और यूनानी दर्शन द्वारा फिरसे वह युरोपमें उस पुनर्जागरणको न करा पाता; जिसने आगे चलकर वैज्ञानिक युगको अस्तित्वमें ला दुनिया की कायापलट करनेका जबर्दस्त आयोजन कराया।

४–इस्लामी सिद्धान्त

कुरानी इस्लामके मुख्य-मुख्य सिद्धान्त हैं—ईश्वर एक है, वह बहुत कुछ साकार सा है, और उसका मुख्य निवास इस दुनियासे बहुत दूर छै आसमानोंको पारकर सातवें आसमानपर है। वह दुनियाको सिर्फ "कुन्" (हो) कहकर अभावसे बनाता है। प्राणियोंमें आगसे बने फरिश्ते (देवता) और मिट्टीसे बने मनुष्य सर्वश्रेष्ठ हैं। फरिश्तोंमेंसे कुछ गुमराह होकर अल्लाहके सदाके लिए दुश्मन बन गए हैं, और वे मनुष्योंको गुमराह करनेकी कोशिश करते हैं, इन्हें ही शैतान कहते हैं। इनका सरदार इब्लीस है, जिसका फरिश्ता होते वक्तका नाम अज़ाज़ील था। मनुष्य दुनियामें केवल एक बार जन्म लेता है। और ईश्वर-वचन (कुरान)के द्वारा विहित (पुण्य) निषिद्ध (पाप) कर्म करके उसके फलस्वरूप अनंतकालके लिए स्वर्ग या नर्क पाता है। स्वर्गमें सुन्दर प्रासाद, अंगूरोंके बाग, शहद-शराबकी नहरें, एकसे अधिक सुन्दरियाँ (हूरें) तथा बहुतसे तरुण चाकर (गिल्मान) होते हैं। दया, सत्य-भाषण, चोरी न करना, आदि सर्वधर्म साधारण भले कामोंके अतिरिक्त नमाज़, रोज़ा, (उपवास), दान (ज़कात) और हज (जीवनमें एक बार काबा-दर्शन) ये चार मुख्य हैं। निषिद्ध कर्मोंमें अनेक देवताओं और उनकी मूर्तियोंका पूजन, शराब-पीना, हराम मांस (सुअर तथा कलमा बिना पढ़े मारे गये जानवरका मांस) खाना आदि है।[1]

[1] विस्तारके लिये देखो मेरा "कुरानसार"।

तृतीय अध्याय

यूनानी दर्शनका प्रवास और उसके अरबी अनुवाद

§ १—अरस्तूके ग्रन्थोंका पुनः प्रचार

इस्लामिक दर्शन यूनानी दर्शन——खासकर अरस्तूके दर्शन तथा उसमें नव-अफलातूनी (पिथागोर-अफलातून-भारतीय दर्शन) दर्शनके पुटका ही विवरण और नई व्याख्या है, यह हमें आगे मालूम होगा। यद्यपि अफलातूँ (प्लातो) तथा दूसरे यूनानी दार्शनिकोंके ग्रन्थोंके भी भाषान्तर अरबीमें हुए, किन्तु इस्लामिक दार्शनिक सदा अरस्तूका अनुसरण करते रहे, इसलिए एक बार फिर हमें अरस्तूकी कृतियोंकी जीवनयात्रापर नज़र डालनी पड़ेगी, क्योंकि उसी यात्राका एक महत्त्वपूर्ण भाग इस्लामिक दर्शनका निर्माण है।

१—अरस्तूके ग्रन्थोंकी गति

अरस्तूके मरने (३२२ ई० पू०)के बाद उसकी पुस्तकें (स्वरचित तथा संगृहीत) उसके शिष्य तथा सम्बन्धी थ्योफ़्रास्तु (देवभ्रात)के हाथमें आईं। थ्योफ़्रास्तु स्वयं दार्शनिक और दर्शन-अध्यापनमें अरस्तूका उत्तराधिकारी था, इसलिए वह इन पुस्तकोंकी कदर जानता था। लेकिन २८७ ई० पू०में जब उसकी मृत्यु हुई, तो यह सारी पुस्तकें उसके शिष्य नेलुस्को मिलीं, और फिर १३३ ई० पू०के करीब तक उसीके खान्दानमें रहीं। इसके बीचहीमें यह खान्दान क्षुद्र-एसियामें प्रवास कर

गया, और साथ ही इस ग्रन्थराशिको भी लेता गया। लेकिन इस समय इन किताबोंको बहुत ही छिपा रखनेकी—धरतीमें गाड़कर रखनेकी कोशिश की गई, कारण यह था कि ईसा-पूर्व तीसरी-दूसरी सदीके यूनानी राजे बड़े ही विद्याप्रेमी थे (इसकी बानगी हमें भारतके यवन-राजा मिनान्दरमें मिलेगी) और पुस्तक-संग्रहका उन्हें बहुत शौक था। १३३ ई० पू०में रोमनोंने यूनान-शासित देशों (क्षुद्र-एसिया आदि) पर अधिकार किया। इसी समय नेलुस्के परिवारवाले अरस्तूके ग्रन्थोंमें पुड़िया तो नहीं बाँधने लगे थे, क्योंकि वह कागजपर नहीं लिखे हुए थे, और वैसा करनेसे उतना नफा भी न था; बल्कि उन्होंने उन्हें तहखानेसे निकालकर बाजारमें बेंचना शुरू किया। संयोगवश यह सारी ग्रन्थ-राशि अथेन्स (यूनान) के एक विद्या-प्रेमी अमीर अल्पीकनने खरीद लिया, और काफी समय तक वह उसके पास रही। ८६ ई० पू० में रोमन सेनापति सलरसेलाने जब एथेन्स विजय किया, तो उसे उस ऐतिहासिक नगरके साथ उसकी महान् देन अरस्तूकी यह ग्रन्थ-राशि भी हाथ लगी, जिसे कि वह रोममें उठा ले गया; और उसे अंधकारपूर्ण तहखानेमें रखनेकी जगह एक सार्वजनिक पुस्तकालयमें रख दिया। इस प्रकार दो शताब्दियोंके बाद अरस्तूकी कृतियोंको समझदार दिमागोंपर अपना असर डालनेका मौका मिला। अन्द्रानिकुने अरस्तूके बिखरे लेखोंको नियमानुसार क्रम-बद्ध किया।

अरस्तूकी कृतियोंकी जो तीन पुरानी सूचियाँ आजकल उपलभ्य हैं, उनमें देवजानि लारितुकी सूचीमें १४६, अनानिमुकी सूचीमें भी पुस्तकोंकी संख्या करीब-करीब उतनी ही है। किन्तु अन्द्रानिकुने जो सूची स्वयं अरस्तूके संग्रहको देखकर बनाई, उसमें उपरोक्त दोनों सूचियोंसे कम पुस्तकें हैं। पहिले दो सूचीकारोंने अरस्तू-संवाद और लेख, कथा-पुस्तकें, प्राणि-वनस्पति-सम्बन्धी साधारण लेखों, ऐतिहासिक, किस्सों, धर्म-सम्बन्धी मामूली पुस्तकोंको भी अरस्तूकी कृतियोंमें शामिल कर दिया है, जिन्हें कि अन्द्रानिकु अरस्तूके ग्रन्थ नहीं समझता। वस्तुतः हमारे यहाँ जैसे व्यास, बुद्ध, शंकरके

नामसे दूसरोंके बहुतसे ग्रंथ बनकर उनके मत्थे मढ़ दिये गये, वही बात अरस्तूके साथ भी हुई।

अरस्तूकी कृतियोंको[1] विषय-क्रमसे लगाकर जितने भागोंमें बाँटा गया है उनमें मुख्य यह हैं—(१) तर्क-शास्त्र, (२) भौतिक-शास्त्र, (३) अति-भौतिक (अध्यात्म)-शास्त्र, (४) आचार, (५) राजनीति। तर्कशास्त्रमें ही अलंकार, आचार तथा प्राणि-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ भी शामिल हैं।

२—अरस्तूका पुनः पठन-पाठन

अरस्तूके ग्रन्थोंके पठन-पाठनमें आसानी पैदा करनेके लिए सिकन्दर अफ़्रादिसियस्ने विवरण लिखे। विवरण लिखते वक्त उसने अरस्तूकी असली किताबोंपर लिखनेका खूब ख्याल रखा और इसमें अन्द्रानिकुकी सूचीसे उसे मदद मिली।

सिकन्दरके साम्राज्यके जब टुकड़े-टुकड़े हुए तो मिश्र-सेनापति तालमी (अशोकके लेखोंमें तुरमाय)के हाथ आया, तबसे ४७ ई० पू० तक तालमी-वंशने उसपर शासन किया और धीरे-धीरे मिश्रकी राजधानी सिकन्दरिया (अलिकसुन्दरिया, अलसंदा) व्यापार-केन्द्रके अतिरिक्त विद्याकेन्द्र होनेमें दूसरा अथेन्स बन गई। ईसाई-धर्मका प्रचार जब रोममें बढ़ने लगा था, उस वक्त यूनानी-दर्शनके पठन-पाठनका जबरदस्त केन्द्र सिकन्दरिया थी। इस वक्त नव-अफलातूनी दर्शनका प्रचार बढ़ा यह हम पहिले बतला चुके हैं। फिलो यूदियो (ई० पू० २५-५० ई०) सिकन्दरियाका एक भारी दर्शन-अध्यापक था। ईसाकी तीसरी सदीमें प्लोतिनु (२०५-७१ ई०) सिकन्दरियामें दर्शन पढ़ाता था। ये सभी दार्शनिक रहस्यवादी नव-अफलातूनी दर्शनके अनुयायी थे, किन्तु इनके पठन-पाठनमें अरस्तूके ग्रन्थ भी शामिल थे। पोर्फुरु[2] (फोर्फोरियोस्) भी यद्यपि दर्शनमें नव-अफलातूनी था, किन्तु उसने अरस्तूके ग्रन्थोंको समझनेकी पूरी कोशिश की। इसका

[1] देखो फाराबी, पृष्ठ ११४-५

[2] Porphyry.

जन्म २३३ ई०में शाम (सिरिया)के तायर नगरमें हुआ था, किन्तु इसने शिक्षा सिकन्दरियामें प्लोतिनुके पास पाई, और यहीं पीछे अध्यापन करने लगा। इसने अरस्तूकी पुस्तकोंपर विवरण और भाष्य लिखे। तर्कशास्त्रके विद्यार्थियोंके लिए इसने एक प्रकरण ग्रन्थ ईसागोजी लिखा, जिसे अरबोंने अरस्तूकी कृति समझा। यह ग्रंथ आज भी अरबी मदरसोंमें उसी तरह पढ़ाया जाता है, जैसे संस्कृत विद्यालयोंमें तर्क-संग्रह, और मुक्तावलि।

ईसाई-धर्म दूसरे सामीय एकेश्वरवादी धर्मोंकी भाँति दर्शनका विरोधी था, भक्तिवाद और दर्शन (बुद्धिवाद)में सभी जगह ऐसा विरोध देखा जाता है। जब ईसाइयोंके हाथमें राज-शासन आया, तो उसने इस खतरेको दूर करना चाहा। किस तरह पादरी थेवफिलने ३०० ई०में सिकन्दरियाके सारे पुस्तकालयोंको जला दिया और किस तरह ४१५ ई०में ईसाइयोंने सिकन्दरियामें गणितके आचार्य हिपाशियाका बड़ी निर्दयताके साथ बध किया, इसका ज़िक्र हो चुका है। अन्तमें ईसाई राजा जस्तीनियनने ५२९ ई०में राजाज्ञा निकाल दर्शनका पठन-पाठन बिलकुल बन्द कर दिया।

§ २–यूनानी दार्शनिकोंका प्रवास और दर्शनानुवाद

१–यूनानी दार्शनिकोंका प्रवास

दर्शनद्रोही जस्तीनियनके शासनके वक्तहीसे रोमन साम्राज्यके पड़ोसमें उसका प्रतिद्वंद्वी ईरानी साम्राज्य था, जिसने अभी किसी ईसाई या दूसरे अ-सहिष्णु सामी धर्मको स्वीकार न किया था; उस समय ईरानका शाहं-शाह कवद (४८७-९८ ई०) था।

मज़्दक—कवदके समय ईरानका विख्यात दार्शनिक मज़्दक मौजूद था। दर्शनमें उसके विचार भौतिकवादी थे। वह साम्यवाद और संघवाद-का प्रचारक था। उसकी शिक्षा थी—सम्पत्ति वैयक्तिक नहीं सांघिक होनी चाहिए, सारे मनुष्य समान और एक परिवार-सम्मिलित होने चाहिए। संयम, श्रद्धा, जीव-दया रखना मनुष्य होनेकी जवाबदेही है। मज़्दककी शिक्षाका ईरानियोंमें बड़ी तेजीसे प्रसार हुआ, और खुद कवद भी जब

उसका अनुयायी बन गया, तो अमीर और पुरोहित-वर्गको खतरा साफ दिखलाई देने लगा। मज़्दकके सिद्धान्तोंको युक्तियोंसे नहीं काटा जा सकता था, इसलिए उन्हें तलवारसे काटनेका प्रयत्न करना ज़रूरी मालूम हुआ। कवदको कैदकर उसके भाई जामास्प (४९८-५०१ ई०)को गद्दी पर बैठाया गया। पुरोहितों तथा सामन्तोंने बहुतेरा उकसाया किन्तु जामास्प भाईके खूनसे हाथ रँगनेके लिए तैयार न हुआ, जिसमें साधारण जनतामें मज़्दककी शिक्षाका प्रभाव भी एक कारण था। कवद किसी तरह जेलसे भाग गया। उस वक्त युरोप और एसियामें (भारतमें भी) मध्य-एसियाके असभ्य बद्दू-हूणोंका आतंक छाया हुआ था। कवदने उनकी सहायतासे फिर गद्दी पाई। कवदने पहिले तो मज़्दकी विचारोंके साथ वैयक्तिक सहानुभूति रखी, लेकिन जब साम्यवाद प्रयोगक्षेत्रमें उतरने लगा, तो हर समयके शिक्षित "आदर्शवादियों"की भाँति वह उसका विरोधी बन गया, और उसकी आज्ञासे हजारों साम्यवादी मज़्दकी तलवारके घाट उतारे गये।

५२९ ई०में जस्तीनियनने दर्शनके पठन-पाठनका निषेध किया था। इससे पहिले ५२१ ई०में कवदके छोटे लड़के खुशरो (५२१-७० ई०)ने बड़े-छोटे भाइयोंका हननकर गद्दी सँभाली। मज़्दकी साम्यवादी अब भी अपने प्रभावको बढ़ा रहे थे, इसलिए पुरोहितों और अमीरोंके लाड़ले खुशरोने एक लाख मज़्दकी आदर्शवादियोंका खूनकर अपनी न्यायप्रियता-का परिचय दिया; इसी सफलताके उपलक्षमें उसने नौशेरवाँ (नये-शाह) की उपाधि धारण की; अमीरों-पुरोहितोंकी दुनियाने उसे "न्यायी" (आदिल)की पदवी दी।

२—यूनानी दर्शन-ग्रन्थोंके ईरानी तथा सुरियानी अनुवाद

नौशेरवाँके इन काले कारनामोंके अतिरिक्त कुछ अच्छे काम भी हैं, जिनमें एक है, अनाथ यूनानी दार्शनिकों को शरण देना। ५२९ ई० में सात नव-अफलातूनी दार्शनिक अथेन्ससे जान बचाकर भागनेपर

मजबूर हुए, इनमें सिम्पेलु और देमासिपु भी थे। इन्होंने नौशेरवाँके राज्यमें शरण ली। शरण देनेमें नौशेरवाँकी उदार-हृदयताका उतना हाथ न था, जितना कि अपने प्रतिद्वंद्वी रोमन कैसरके विरोधियोंको शरण देनेकी भावना। अपने पूर्वजोंकी भाँति नौशेरवाँका भी रोमन कैसरसे अक्सर युद्ध ठना रहता था। एक युद्धको अनिर्णयात्मक तौरपर खतम कर ५४९ ई०में उसने रोमको पराजितकर अपनी शर्तोंपर सुलह करवानेमें सफलता पाई। सुलहकी शर्तोंमें एक यह भी थी कि रोमन कैसर अपने राज्यमें धार्मिक (दार्शनिक) विचारोंकी स्वतंत्रता रहने देगा। इस संधिके अनुसार कुछ विद्वान् स्वदेश लौटनेमें सफल हुए, किन्तु सिम्पेलु और देमासियुको लौटनेकी इजाज़त न मिल सकी।

(१) ईरानी (पह्लवी) भाषामें अनुवाद—नौशेरवाँने जन्देशापोरमें एक विद्यापीठ कायम किया था, जिसमें दर्शन और वैद्यककी शिक्षा खास तौरसे दी जाती थी। इस विद्यापीठमें इस समय पठन-पाठनके अतिरिक्त कितने ही यूनानी दर्शन तथा दूसरे ग्रंथों (जिनमें पौलुस् पर्सा द्वारा अनुवादित अरस्तूके तर्कशास्त्रका अनुवाद भी है)का पहलवीमें अनुवाद हुआ। अनुवादकोंमें कितने ही नस्तोरीय सम्प्रदायके ईसाई भी थे, जो कि खुद कैसर-स्वीकृत ईसाई सम्प्रदायके कोपभाजन थे।

ज़्रवानवाद (ईरानी नास्तिकवाद)—यहाँ पर यह भी याद रखना चाहिए, कि ईरानमें स्वतंत्र विचारोंकी धारा पहिलेसे भी चली आती थी। नौशेरवाँसे पहिले यज़्दागिर्द द्वितीय (४३९-५७ ई०)के समय एक नास्तिकवाद प्रचलित था, जिसे ज़्रवानवाद कहते हैं। ज़्रवान पहलवी भाषा में काल (अरबी—दह्र) को कहते हैं। ये लोग कालको ही मूल कारण मानते थे, इसीलिए इन्हें ज़्रवानवादी-कालवादी (अरबी—दह्रिया) कहते थे। नास्तिक होते भी यह भाग्यवाद के विश्वासी थे।

(२) सुरियानी (सिरियाकी) भाषामें अनुवाद—ईसवी सन्‌की पहिली सदियोंमें दुनियाके व्यापारक्षेत्रमें सिरियन (शामी) लोगोंका एक खास स्थान था। जिस तरह वे ईरानी, रोम, भारत और चीनके व्यापारमें

प्रधानता रखते थे, उसी तरह पश्चिमी एसिया, अफ़्रीका और युरोप——पश्चिममें फ़्रांस तक——का व्यापार सिरियन लोगोंके हाथमें था। बल्कि मद्रासके सिरियन ईसाई इस बातके सबूत हैं, कि सिरियन सौदागर दक्षिणी भारत तक दौड़ लगाते थे। व्यापारके साथ धर्म, संस्कृतिका आदान-प्रदान होना स्वाभाविक है, और सिरियनोंने यही बात यूनानी दर्शनके साथ की। सिरियन विद्वानोंने यूनानी सभ्यताके साथ उनके दर्शनको भी सिकन्दरिया (मिश्र), अन्तियोक (क्षुद्र-एसियाका यूनानी नगर)से लेकर ईरान (जन्देशापोर), और मेसोपोतामिया, निसिबी (ईरान, एदेस्सा) तक फैलाया। पश्चिमी और पूर्वी (ईरानी) दोनों ईसाई सम्प्रदायोंकी धर्म-भाषा सुरियानी (सिरियाकी भाषा) थी, किन्तु उसके साथ उनके मठोंमें यूनानी भाषा भी पढ़ाई जाती थी। एदेस्सा (मसोपोतामिया) भी ईसाइयोंका एक विद्याकेन्द्र था, जिसकी वजहसे एदेस्साकी भाषा (सुरियानीकी एक बोली) साहित्यकी भाषाके दर्जे तक पहुँच गई। उसके अध्यापकोंके नस्तोरीय विचार देखकर ४८९ ई०में एदेस्साके मठ-विद्यालयको बंद कर दिया गया, जिसके बाद उसे निसिबी (सिरिया)में खोला गया।

(क) निसिबी (सिरिया)—निसिबी नगर ईरानियोंके अधिकृत प्रदेशमें था, और सासानी शाहका वरदहस्त उसके ऊपर था। नस्तोरीय ईसाई सम्प्रदायके धर्मकी शिक्षाके साथ-साथ यहाँ दर्शन और वैद्यकका भी पठन-पाठन होता था। दर्शनकी ओर विद्यार्थियों और अध्यापकोंका झुकाव तथा आदर अधिक देख धर्मनेताओंको फिक्र पड़ी, और ५९० ई०में उन्होंने नियम बनाया, कि जिस कमरेमें धर्म-पाठ हो, वहाँ लौकिक विद्याका पाठ नहीं होना चाहिए।

मसोपोतामियाके इस भागमें जिसमें निसिबी, एदेस्सा तथा हरानके शहर थे, उस समय सुरियानी भाषा-भाषी था। पिछले महायुद्ध (१९१४-१८ ई०)के बाद मसोपोतामियाके सुरियानी ईसाइयोंको किस तरह निर्दयतापूर्वक कत्ल-आम किया गया था, इसे अभी बहुतसे पाठक भूले

न होंगे। आज मसोपोतामिया (ईराक) सिरिया (क्षुद्र-एसियाका एक भाग) मिश्र, मराकोमें जो अरबी भाषा देखी जाती है, वह इस्लाम और अरबोंके प्रसारके कारण हुआ। इस तरह ईसाकी प्राथमिक शताब्दियोंमें एदेस्सा और उसका पड़ोसी नगर ईरान भी सुरियानी भाषा-भाषी था।

मसोपोतामियाके इन विद्यापीठोंमें चौथीसे आठवीं सदी तक बहुतसे यूनानी-दर्शन तथा शास्त्रीय-ग्रंथोंका तर्जुमा होता रहा, जिनमें सर्जियस (४६६-५३६ ई०)के अनुवाद विषय और परिमाण दोनोंके ख्यालसे बहुत पूर्ण थे। जब मसोपोतामियापर इस्लामका अधिकार हो गया, तब भी सुरियानी अनुवादका काम जारी रहा, एदेस्साके याकूब (६४०-७०८ ई०) से अपने अनुवाद इसी समय किये थे। इन अनुवादोंमें सब जगह मूलके अनुकरण करनेकी कोशिश की गई है, किन्तु यूनानी देवी-देवताओं तथा महापुरुषोंके स्थानपर ईसाई महापुरुषोंको रखा गया है। इस बातमें अरब अनुवाद और भी आगे तक गये। सुरियानी अनुवादोंमें अरस्तूके तर्कशास्त्रका ही अनुवाद ज़्यादा देखा जाता है, और उस वक़्तके सुरियानी विद्वान् अरस्तूको सिर्फ तर्कशास्त्री समझते थे।

इन्हीं सिरियन (सुरियानी) लोगोंने पीछे आठवीं-दसवीं सदीमें बगदादके खलीफोंके शासनमें यूनानी ग्रन्थोंको सुरियानी अनुवादोंकी मददसे या स्वतन्त्र रूपसे अरबी भाषामें तर्जुमा किया। सुरियानियोंका सबसे बड़ा महत्त्व यह है, कि यूनानी अपने दर्शनको जहाँ लाकर छोड़ देते हैं, वहाँसे वह उसे आगे—विचारमें नहीं कालमें—ले जाते हैं; और अरबोंको आगेकी जिम्मेवारी देकर अपने कार्यको समाप्त करते हैं।

(ख) हरानके साबी—जब यूनान तथा दूसरे पश्चिमी देशोंमें ईसाई-धर्मके जबर्दस्त प्रचारसे यूनानी तथा दूसरे देवी-देवता भूले जा चुके थे, तब भी मेसोपोतामियाके हरान नगरमें सभ्य मूर्तिपूजक मौजूद थे। जो यूनानके दार्शनिक विचारोंके साथ-साथ देवी-देवतोंमें श्रद्धा रखते थे; किन्तु सातवीं सदीके मध्यमें इस्लामिक विजयके साथ उनके देवताओं और

देवालयोंकी खैरियत नहीं रह सकती थी, इसलिए उनकी पूजा-अर्चा चली गई, हाँ किन्तु उनके दार्शनिक विचारोंको नष्ट करना उतना आसान न था। पीछे इन्हीं साबियोंने इस्लाममें अपने दार्शनिक विचारोंको डालकर भारी गड़बड़ी पैदा की, जिसके लिए कि कट्टर मुसलमान उन्हें बराबर कोसते रहे। इन्हीं साबी लोगोंका यूनानी दर्शनके अरबी तर्जुमा करनेमें भी खास हाथ था।

३–यूनानी दर्शन-ग्रंथोंके अरबी अनुवाद (७०४–१००० ई०)

प्रथम चार अरब खलीफोंके बाद अमीर म्वाविया (६६१-८० ई०) के खलीफा बनने, कबीलाशाही (अरबी) एवं सामन्तशाही व्यवस्थाके द्वंद, और हुसेनकी शहादतके साथ कबीलाशाहीके दफन होनेकी बातका हम जिक्र कर चुके हैं। म्वावियाके वंश (बनी-उमैय्या)की खिलाफतके दिनों (६६१-७५० ई०)में इस्लाम धर्मको भरसक हर तरहके बाहरी प्रभावसे सुरक्षित रखनेकी कोशिश की गई, किन्तु जहाँ तक राज्य-व्यवस्था तथा दूसरे सांस्कृतिक जीवन-क्षेत्रका सम्बन्ध था, अरबोंने उन सभी सभ्य जातियोंसे कितनी ही बातें सीखनेकी कोशिश कीं, जिनके सम्पर्कमें वह खुद आये। विशेषकर दरबारी ठाट-बाट, शान-शौकतमें तो उन्होंने बहुत कुछ ईरानी शाहोंकी नकल की। उजड्ड अरबोंकी कड़ी आलोचना तथा क्रियात्मक कोपसे बचनेके लिए अमीर म्वावियाने पहिले ही चालाकीसे राजधानीको मदीनासे दमिश्कमें बदल लिया था, और इस प्रकार मदीनाका महत्त्व सिर्फ एक तीर्थका रह गया।

बनी-उमैय्याके शासनकालमें ही इस्लामी सल्तनत मध्य-एसियासे उत्तरी अफ़्रीका और स्पेन तक फैल गई, यह बतला आये हैं, और एक प्रकार जहाँ तक अरब तलवारका सम्बन्ध था, यह उसकी सफलताकी चरम सीमा थी। उसके बाद इस्लाम युरोप, एसिया, भारतीय सागरके बहुतसे भागोंपर फैला जरूर, किन्तु उसके फैलानेवाले अरब नहीं अन्-अरब मुसलमान थे।

पहिली टक्करमें अरबी मुसलमानोंने कबीलाशाहीके सवालको तो छोड़ दिया, किन्तु समझौता इतनेहीपर होने वाला नहीं था। जो अन्-अरब ईरानी या शामी जातियाँ इस्लामको कबूल कर चुकी थीं, वह असभ्य बद्दू नहीं, बल्कि अरबोंसे बहुत ऊँचे दर्जेकी सभ्यताकी धनी थीं, इसलिए वह अरबकी तलवार तथा धर्म (इस्लाम)के सामने सर झुका सकती थीं, किन्तु अपनी मानसिक तथा बौद्धिक संस्कृतिको तिलांजलि देना उनके बसकी बात न थी, क्योंकि उसका मतलब था सारी जातिमेंसे बौद्धिक योग्यताको हटाकर अज्ञता—तारुण्यसे लौटकर शैशव—में जाना। यही वजह हुई, जो बनी-उमैय्याके बाद हम इस्लामी शासकोंको समझौतेमें और आगे बढ़ते देखते हैं।

म्वाविया, यज़ीद, उमर (२) कुशल शासक थे, किन्तु जैसे-जैसे राजवंश पुराना होता गया, खलीफा अधिक शक्तिसे हीन होते गये, यहाँ तक कि म्वावियाके आठवें उत्तराधिकारी इब्न-म्वाविया (७४४-४७ ई०)को तख़्तसे हाथ धोना पड़ा। जिस कूफाका शासक रहते वक्त यज़ीदने हुसैनके खूनसे "अपने हाथों"को रँगा था, वहींके एक अरब-सर्दार अब्दुल् अब्बास (७४९-५४ ई०)ने अपने खिलाफतकी घोषणा की। खलीफाको कबीलेका विश्वासपात्र होना चाहिए, यह बात तो बनी-उमैय्याने ही खतम कर दी थी, और दुनियाके दूसरे राजाओंकी भाँति तलवारको अन्तिम निर्णायक मान लिया था, इसलिए अब्बासकी इस हरकतकी शिकायत वह क्या कर सकते थे ? अब्बासने बनी-उमैय्याके शाहजादोंमेंसे जिन्हें पाया उन्हें कतल किया, यद्यपि यह कत्ल उतना दर्द-नाक न था, जैसा कि कर्बलाके शहीदोंका, किन्तु इतिहासके पुराने पाठको कुछ अंशोंमें "दुहराया" ज़रूर। इन्हीं शाहज़ादोंमेंसे एक—अबदुर्रहमान दाख़िल पश्चिमकी ओर भाग गया, और स्पेन तथा मराकोमें अपने वंशके शासनको कुछ समय तक और बचा रखनेमें समर्थ हुआ।

अब्बासने सारे एसियाई इस्लामी राज्यपर अधिकार जमाया। आरम्भिक समयमें अब्बासी राजवंश (अब्बासियों)ने भी अपनी राजधानी

दमिश्क रखी, किन्तु अब्बासके बेटे खलीफा मंसूर (७५४-७५ ई०)ने ७६२ में बगदाद नगरको बसाया, और पीछे राजधानी भी वहीं बदल दी गई। अब खिलाफत एक तरहसे अरबी वातावरणसे हटकर अन्-अरब—ईरानी तथा सुरियानी—वातावरण में आगई, इसलिए अब्बासी खलीफोंपर बाहरी प्रभाव ज़्यादा पड़ने लगा। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि आरंभसे ही मुसलमानोंने अरबी खूनको शुद्ध रखनेका ख्याल नहीं किया, खासकर माँकी तरफसे। पैगम्बरके नाती हुसैनकी पत्नी अन्तिम ईरानी शाह यज्दगिर्द तृतीय (६३४-४२ ई०)की पुत्री हुस्नबानू थी। बनी-उमैय्या इस बारेमें और उदार थे। वही बात अब्बासियोंके बारेमें थी। इस तरह साफ है कि जिन खलीफोंको अब भी अरब समझा जाता था, उनमें भी अन्-अरब खून ही ज्यादा था। यह और वातावरण मिलकर उनपर कितना प्रभाव डाल सकते थे, यह जानना आसान है।

(१) **अनुवाद-कार्य**—उपरोक्त कारणोंसे बगदाद[1]के खलीफोंका पहिले खलीफोंसे विचारके सम्बन्धमें ज़्यादा उदार होना पड़ा। उनकी सल्तनतमें बुखारा, समरकन्द, बलख़, नै-शापोर, रे, बगदाद, कूफा, दमिश्क आदिमें बड़े-बड़े विद्यापीठ कायम हुए, जिनमें आरम्भमें यद्यपि कुरान और इस्लामकी ही शिक्षा दी जाती थी, किन्तु समयके साथ उन्हें दूसरी विद्याओं-की ओर भी ध्यान देना पड़ा। मंसूर (७५४-७५), हारून (७८६-८०६ ई०) और मामून (८११-३३ ई०) अरबी शालिवाहन और विक्रम थे, जिनके दरबारमें देश-विदेशके विद्वानोंका बड़ा सम्मान होता था। वे स्वयं विद्वान् थे और इनके शाहजादोंकी शिक्षा कुरान, उसकी व्याख्याओं और परंपराओं तक ही सीमित न थी, बल्कि उनकी शिक्षामें यूनानी दर्शन, भारतीय ज्योतिष और गणित भी शामिल थे। गोया इस प्रकार अब्बासी खलीफावंशमें अरबके सीधे-सादे बद्दुओंकी यदि कोई चीज बाकी

---

[1] यह नाम भी पारसी है, जिसका संस्कृत रूप होगा भग(वद्)दत्त=भगवान्की दी हुई।

रह गई थी, तो वह अरबी भाषा थी, जो कि उस वक्त सारे इस्लामी सल्तनतकी राजकीय तथा सांस्कृतिक भाषा थी।

यज़ीद प्रथम (६८०-७१७ ई०)के पुत्र खालिद (मृ० ७०४ ई०) को कीमिया (रसायन)का बहुत शौक था। कहते हैं, उसीने पहिले-पहिल एक ईसाई साधु द्वारा कीमियाकी एक पुस्तकका यूनानीसे अरबी भाषामें अनुवाद कराया। मंसूर (७५४-७५ ई०)के शासनमें वैद्यक, तर्कशास्त्र, भौतिक विज्ञानके ग्रन्थ पहलवी या सुरियानी भाषासे अरबीमें अनुवादित हुए। इस समयके अनुवादकोंमें इब्न-अल्-मुक़फ़्फ़ाका नाम खास तौरसे मशहूर है। मुक़फ़्फ़ा स्वयं ईरानी जातिका ही नहीं बल्कि ईरानी धर्मका भी अनुयायी था। इसने कितने ही यूनानी दर्शन-ग्रन्थोंके भी अनुवाद किये थे, किन्तु बहुतसे दूसरे प्राचीन अरबी अनुवादोंकी भाँति वह काल-कवलित हो गये, और हम तक नहीं पहुँच सके; किन्तु उन्होंने प्रथम दार्शनिक विचारधारा प्रवर्तित करनेमें बड़ा काम किया था, इसमें तो शक ही नहीं।

हारून और मामूनके अनुवादकोंमें कुछ संस्कृत पंडित भी थे, जिन्होंने वैद्यक और ज्योतिषके कितने ही ग्रन्थोंके अरबी अनुवाद करनेमें सहायता दी। इस समयके कुछ दर्शन-अनुवादक और उनके अनुवादित ग्रन्थ निम्न प्रकार हैं—

अनुवादक	काल	अनुवादित ग्रंथ	मूलकार
योहन (योहन्ना) बिन्-बितरिक़्	नवीं सदी	तेमाउस	अफलातूँ
,,	,,	प्राणिशास्त्र	अरस्तू
,,	,,	मनोविज्ञान	,,
,,	,,	तर्कशास्त्रके अंश	,,
अब्दुल्ला नइमल्-हिम्सी	८३५ ई०	"सोफिस्तिक"	अफलातूँ

अब्दुल्ला नइमुल्-हिम्सी	८३५ ई०	भौतिक शास्त्र-टीका[1]	फिलोपोनु
क़स्ता इब्न-लूका अल्-बलबक्की	,,	,,	,,
,,	,,	,,	सिकंदर अफ़्रा-दिसियस्

मामून (८११-३३ई०) के बाद भी अनुवादका काम जारी रहा, और उस वक्तके प्रसिद्ध अनुवादकोंमें हैं—होनेन इब्न-इस्हाक (९१० ई०) होबैश इब्न-उल्-हसन, अबूबिश्र मत्ता इब्न-यूनुस् अल्-क़न्नाई (९४० ई०) अबू-ज़क्रिया इब्न-आदी. . .मन्तिकी (९७४ ई०), अबू-अली ईसा जूरा (१००८ ई०), अबुल्-खैर अल्-हसन खम्मार (जन्म ९४२ ई०)।

(२) समकालीन बौद्ध तिब्बती अनुवाद—अनुवाद द्वारा अपनी भाषाको समृद्ध तथा अपनी जातिको सुशिक्षित बनाना हर एक उन्नतिशील सभ्य या असभ्य जातिमें देखा जाता है। चीनने ईसाकी पहिली सदीसे सातवीं सदी तक हजारों भारतीय ग्रन्थोंका चीनीमें अनुवाद बड़े भारी आयोजन और परिश्रमके साथ इसीलिए कराया था। तिब्बती लोगोंकी भी अरबके बद्दुओंकी भाँति खानाबदोश अक्षर-संस्कृति-रहित असभ्य जाति थे। उन्हींकी भाँति तथा उसी समयमें स्रोङ्-चन्-गन्पो (६३०-९८ ई०) जैसे नेताके नेतृत्वमें उन्होंने सारे हिमालय, मध्य-एसिया तथा चीनके पश्चिमी तीन सूबोंको जीत एक विशाल साम्राज्य कायम किया। और एक बार तो तिब्बती घोड़ोंने गंगा-गंडकके संगमका भी पानी पिया था। अरबोंकी भाँति ही तिब्बतियोंको भी एक विस्तृत राज्य कायम कर लेने पर कबीलेशाही तरीकेको छोड़ सामन्तशाही राजनीति, और संस्कृति-की शिक्षा लेनी पड़ी, जिसमें राजनीति तो चीनसे ली। पैगंबर मुहम्मदकी तरह स्वयं धर्मचिन्तक न होनेसे स्रोङ-चन्ने चीन, भारत, मध्य-एसियामें

---

[1] **अरस्तूकी पुस्तक।**

प्रचलित बौद्ध धर्मको अपनाया; जिसने उसे सभ्यता, कला, धर्म, साहित्य आदिकी शिक्षा तेजीसे तथा बहुत सहानुभूतिपूर्वक तो दी ज़रूर, किन्तु साथ ही अपने दुःखवाद तथा आदर्शवादी अहिंसावादकी इतनी गहरी घूँट पिलाई कि स्रोङ-चन्के वंश (६३०-६०२ ई०) के साथ ही तिब्बती जातिका जीवन-स्रोत सूख गया। तिब्बती, अरबी दोनों जातियोंने एक ही साथ दिग्विजय प्रारंभ किया था, एक ही साथ दोनोंने विजित जातियोंसे सभ्यताकी शिक्षा प्राप्त की। यद्यपि अतिशीत-प्रधान भूमिके वासी होनेसे तिब्बती बहुत दूर तक तो नहीं बढ़े, किन्तु साम्राज्य-विस्तारके साथ वह पश्चिममें बल्तिस्तान (कश्मीर), लदाख, लाहुल, स्पिती तक, दक्खिनमें हिमालयके बहुतसे भागों, भूटान और बर्मा तक वह ज़रूर फैले। सबसे बड़ी समानता दोनोंमें हम यह पाते हैं, कि मंसूर-हारून-मामूनका समय (७५४-६३३ ई०) करीब-करीब वही है जो कि ठि-दे-चुग्-तन्, और ठि-स्रोङ्-दे-चन्, ठि-दे-चन्का (७४०-८७७ ई०) का है; और इसी समय अरबकी भाँति तिब्बतने भी हजारों संस्कृत ग्रन्थोंका अपनी भाषामें अनुवाद कराया, इसका अधिकांश भाग अब भी सुरक्षित है। यह दोनों जातियाँ आपसमें अपरिचित न थीं, पूर्वी मध्य-एसिया (वर्तमान सिन्-क्याङ) तथा गिल्गितके पास दोनों राज्योंकी सीमा मिलती थी, और दोनों राज्यशक्तियोंमें मित्रतापूर्ण सन्धि भी हुई थी, यद्यपि इस संधिके कारण सीमान्त जातियों—विशेषकर ताजिकों—का भारी अनर्थ हुआ था।

(३) **अरबी अनुवाद**—यदि हम अनुवादकोंके धर्मपर विचार करते हैं, तो तिब्बती और अरबी अनुवादोंमें बहुत अन्तर पाते हैं। तिब्बती भाषाके अनुवादक चाहे भारतीय हों अथवा तिब्बती, सभी बौद्ध थे। यह ज़रूरी भी था, क्योंकि वैद्यक, छन्द काव्यके कुछ ग्रन्थोंके अतिरिक्त जिन ग्रन्थोंका अनुवाद उन्हें करना था वह बौद्ध धर्म या दर्शनपर थे। तिब्बती अनुवाद जितने शुद्ध हैं, उसका उदाहरण और भाषामें मिलना मुश्किल है। अरबी अनुवादकोंमें कुछके नाम यह हैं, इनमें प्रायः सभी यहूदी, ईसाई या साबी धर्मके माननेवाले थे।

जार्ज बिन-जिब्रील	ईसा बिन्-यूनस्	इब्राहीम हरानी
कस्ता बिन्-लूका	साबित बिन् क़रः	याक़ूब बिन्-इस्हाक़ किन्दी[1]
मा-सर्जियस	जोरिया हम्सी	हनैन इब्न-इस्हाक़[1]
ईसा बिन्-मार्जियस्	फीसोन सर्जिस्	अयूब रहावी
हुज्जाज बिन्-मत्र	बसील मतरान	यूसुफ तबीब
क़ब्ज़ा रहावी	हैरान	अबू-यूसुफ योहन्ना
अब्द यशूअ बिन्-बह्लेज़	तदरस	बितरीक़
शेर यशूअ बिन्-क़त्रद्	सनान् बिन-साबित्	यह्या बिन्-बितरीक़
सादरी अस्क़फ़		

अ-मुस्लिम अनुवादक अपने धर्मको बदलना नहीं चाहते थे, और उनके संरक्षक इस्लामी शासकोंकी इस बारेमें क्या नीति थी इसका अच्छा उदाहरण इब्न-जिब्रीलका है। खलीफा मंसूर (७५४-७५ ई०)ने एक बार जिब्रीलसे पूछा कि, तुम मुसलमान क्यों नहीं हो जाते, उसने उत्तर दिया---अपने बाप-दादोंके धर्ममें ही मैं मरूँगा। चाहे वह जन्नत(स्वर्ग)में हों, या दोज़ख (नर्क)में, मैं भी वहीं उन्हींके साथ रहना चाहता हूँ।" इसपर खलीफा हँस पड़ा, और अनुवादकको भारी इनाम दिया।

---

[1] ये अरबी मुसल्मान थे।

चतुर्थ अध्याय

दर्शनका प्रभाव और इस्लाममें मतभेद

§ १—इस्लाममें मतभेद

कुरानकी भाषा सीधी-सादी थी। किसी बातके कहनेका उसका तरीका वही था, जिसे कि हर एक बद्दू अनपढ़ समझ सकता था। इसमें शक नहीं उसमें कितनी ही जगह तुक, अनुप्रास जैसे काव्यके शब्दालंकारों-का ही नहीं बल्कि उपमा आदिका भी प्रयोग हुआ है, किन्तु ये प्रयोग भी उतनी ही मात्रामें हैं, जिसे कि साधारण अरबी भाषाभाषी अनपढ़ व्यक्ति समझ सकते हैं। इस तरह जब तक पैगंबर-कालीन अरबोंके बौद्धिक तल तक बात रही, तथा इस्लामी राजनीतिमें उसीका प्रभाव रहा, तब तक काम ठीकसे चलता रहा; किन्तु जैसे ही इस्लामिक दुनिया अरबके प्रायद्वीपसे बाहर फैलने लगी और उससे वे विचार टकराने लगे, जिनका जिक्र पिछले अध्यायोंमें हो आया है, वैसे ही इस्लाममें मतभेद होना ज़रूरी था।

१—फ़िक़ा या धर्ममीमांसकोंका ज़ोर

पैगंबरके जीते-जी कुरान और पैगंबरकी बात हर एक प्रश्नके हल करनेके लिए काफी थी। पैगंबरके देहान्त (६२२ ई०)के बाद कुरान और पैगंबरका आचार (सुन्नत या सदाचार) प्रमाण माना जाने लगा। यद्यपि सभी हदीसों (पैगंबर-वाक्यों, स्मृतियों)के संग्रह करनेकी कोशिश शुरू हुई थी, तो भी पैगंबरकी मृत्युके बाद एक सदी बीतते-बीतते अक्ल (बुद्धि)ने

दखल देना शुरू किया, और अक्ल (=बुद्धि, युक्ति) और नक्ल (=शब्द, धर्मग्रंथ)का सवाल उठने लगा। हमारे यहाँके मीमांसकोंकी भाँति इस्लामिक मीमांसकों—फ़िक़ावाले फ़क़ीहों—का भी इसीपर जोर था, कि कुरान स्वतः प्रमाण है, उसके बाद पैगंबर-वाक्य तथा सदाचार प्रमाण होते हैं। मीमांसकोंके नित्य[1], नैमित्तिक[2] काम्य[3] कर्मोंकी भाँति फ़िक़ाने कर्मोंका भेद निम्न प्रकार किया है—

(१) नित्य या अवश्यकरणीय कर्म, जिसके न करनेपर पाप होता है, जैसे नमाज़।

(२) नैमित्तिक (वाजिब) कर्म जिसे धर्मने विहित किया है, और जिसके करनेपर पुण्य होता है, किन्तु न करनेसे पाप नहीं होता।

(३) अनुमोदित कर्म, जिसपर धर्म बहुत जोर नहीं देता।

(४) असम्मत कर्म, जिसके करनेकी धर्म सम्मति नहीं देता, किन्तु करनेपर कर्ताको दंडनीय नहीं ठहराता।

(५) निषिद्ध कर्म, जिस कर्मकी धर्म मनाही करता है, और करनेपर हर हालतमें कर्ताको दंडनीय ठहराता है।

फ़िक़ाके आचार्योंमें चार बहुत मशहूर हैं—

१. इमाम अबू-हनीफ़ा (७६७ ई०) कूफा (मेसोपोतामिया)के रहनेवाले थे। इनके अनुयायियोंको हनफ़ी कहा जाता है। इनका भारतमें बहुत जोर है।

२. इमाम मालिक (७१५-९५ ई०) मदीना निवासी थे। इनके अनुयायी मालिकी कहे जाते हैं। स्पेन और मराकोके मुसलमान पहिले सारे मालिकी थे। इमाम मालिकने पैगंबर-बचन(हदीस)को धर्मनिर्णयमें

---

[1] जिसके न करनेसे पाप होता है, अतः अवश्यकरणीय है।

[2] नैमित्तिक (अर्ध-आवश्यक)कर्म पापादिके दूर करनेके लिये किया जाता है। [3] काम्यकर्म किसी कामनाकी पूर्तिके लिये किया जाता है, और न करनेसे कोई हर्ज नहीं।

बहुत जोरके साथ इस्तेमाल किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि विद्वानों-ने हदीसोंको जमा करना शुरू किया, और हदीसवालों (अहले-हदीस)का एक प्रभावशाली गिरोह बन गया।

३. इमाम शाफ़ई (७६७-८२० ई०)ने शाफई नामक तीसरे फ़िक़ा-सम्प्रदायकी नींव डाली। यह सुन्नत (सदाचार)पर ज़्यादा जोर देते थे।

४. इमाम अहमद इब्न-हंबलने हंबलिया नामक तीसरे फ़िक़ा-संप्रदायकी नींव डाली। यह ईश्वरको साकार मानते हैं।

हनफ़ी और शाफ़ई दोनों मतोंमें क़यास—दृष्टान्त द्वारा किसी निष्कर्ष पर पहुँचना—पर ज्यादा जोर रहा है, और यह साफ है, कि इमाम हनीफ़ा-को इस विचारपर पहुँचनेमें (कूफा)के बौद्धिक वायुमंडलने बहुत मदद दी। शाफ़ईने इस बातमें हनफ़ियोंसे बहुत कुछ लिया।

कुरान, सुन्नत (पैगंबरी सदाचार), क़यासके अतिरिक्त चौथा प्रमाण बहुमत (इज्माअ)को भी माना जाने लगा। इनमें पूर्व-पूर्वको बलवत्तर प्रमाण समझा गया है।

२—मतभेदों (=फ़ितूनों)का प्रारम्भ

(१) **हलूल**—मुस्लिम ऐतिहासिक इस्लाममें पहिले मतभेदको इब्न-सबा (सबा-पुत्र)के नामसे संबद्ध करते हैं, जो कि सातवीं सदीमें हुआ था। इब्न-सबा यहूदीसे मुसलमान हुआ था; और विरोधियोंके मुकाबिलेमें हजरत अली (पैगंबरके दामाद)में भारी श्रद्धा रखता था। इसीने हलूल (अर्थात् जीव अल्लाहमें समा जाता है)का सिद्धान्त निकाला था।

(पुराने शीआ)—इब्न-सबाके बाद शीआ और दूसरे सम्प्रदाय पैदा हुए। किन्तु उस वक्त तक इनके मतभेद दार्शनिक रूप न लेकर ज़्यादातर कुरान और पैगंबर-सन्तानके प्रति श्रद्धा और अश्रद्धापर निर्भर थे। शीआ लोगोंका कहना था कि पैगंबरके उत्तराधिकारी होनेका अधिकार उनकी पुत्री फातमा तथा अलीकी सन्तानको है। हाँ, आगे चलकर दार्श-

निक मतभेदोंसे इन्होंने फायदा उठाया और मोतज़ला तथा सूफियोंकी बहुतसी बातें लीं, और अन्तमें अरबों ईरानियोंके द्वंद्वसे फायदा उठानेमें इतनी सफलता प्राप्त की, कि ईरानमें पंद्रहवीं सदीमें जब सफावी वंश (१४६६-१७३६ ई०)का शासन कायम हुआ, तो उसने शीआ-मतको राज-धर्म घोषित कर दिया।

(२) जीव कर्म करनेमें स्वतंत्र—अबू-यूनस् ईरानी (अजमी) पैगंबरके साथियों (सहाबा)मेंसे था। इसने यह सिद्धान्त निकाला कि जीव काम करनेमें स्वतन्त्र है, यदि करनेमें स्वतन्त्र न हो, तो उसे दंड नहीं मिलना चाहिए। बनी-उमैय्याके शासनकालमें इस सिद्धान्तने राज-नीतिक आन्दोलनका रूप ले लिया था। माबद बिन्-खालिक ज़हनीने कर्म-स्वातन्त्र्यके प्रचार द्वारा लोगोंको शासकोंके खिलाफ भड़काना शुरू किया; उसके विरुद्ध दूसरी ओर शासक बनी-उमैय्या कर्म-पारतंत्र्यके सिद्धान्तको इस्लाम-सम्मत कहकर प्रचार करते थे।

(३) ईश्वर निर्गुण (विशेषण-रहित)—जहम बिन्-सफ़वानका कहना था कि अल्लाह सभी गुणों या विशेषणोंसे रहित है, यदि उसमें गुण माने जायें तो उसके साथ दूसरी वस्तुओंके अस्तित्वको मानना पड़ेगा। जैसे, उसे ज्ञाता (ज्ञान-गुणवाला) मानें, तो यह भी मानना पड़ेगा कि वह चीजें भी सदा रहेंगी, जिनका कि ज्ञान ईश्वरको है। फिर ऐसी हालतमें इस्लामका ईश्वर-अद्वैत (तौहीद)-वाद खतम हो जायगा। अत-एव अल्लाह कर्ता, ज्ञाता, श्रोता, सृष्टिकर्ता, दंडकर्ता....कुछ नहीं है। यह विचार शंकराचार्यके निर्विशेष चिन्मात्र (विशेषणसे रहित चेतना-मात्र ही एकतत्त्व है) से कितना मिलता है, इसे हम आगे देखेंगे, किन्तु इस वक्त तक शंकर (७८८-८२० ई०) अभी पैदा नहीं हुए थे; तो भी नव-अफलातूनवाद एवं बौद्धोंका विज्ञानवाद उस वक्त मौजूद था।

(४) अन्तस्तमवाद[1] (बातिनी)—ईरानियों (=अजमियों)ने

---

[1] बातिनी।

एक और सिद्धान्त पैदा किया, जिसके अनुसार कुरानमें जो कुछ भी कहा गया है, उसके अर्थ दो प्रकारके होते हैं—एक बाहरी (जाहिरी), दूसरा बातिनी (आन्तरिक या अन्तस्तम)। इस सिद्धान्तके अनुसार कुरानके हर वाक्यका अर्थ उसके शब्दसे भिन्न किया जा सकता है, और इस प्रकार सारी इस्लामिक परंपराको उलटा जा सकता है। इस सिद्धान्तके मानने वाले ज़िन्दीक़ कहे जाते हैं, जिनके ही तालीमिया (शिक्षार्थी), मुल्हिद, बातिनी, इस्माइली आदि भिन्न-भिन्न नाम हैं। आगाखानी मुसलमान इसी मतके अनुयायी हैं।

§ २–इस्लामके दार्शनिक संप्रदाय

आदिम इस्लाम सीधे-सादे रेगिस्तानी लोगोंका भोलाभाला विश्वास था, किन्तु आगेकी ऐतिहासिक प्रगतिने उसमें गड़बड़ी शुरू की, इसका जिक्र कुछ हो चुका है। मेसोपोतामियाके बसरा जैसे नगर इस तरहके मतभेदोंके लिए उर्वर स्थान थे, यह बात भी पीछेके पन्नोंको पढ़नेवाले आसानीसे समझ सकते हैं।

१–मोतज़ला सम्प्रदाय

बसरा मोतज़लोंकी जन्म और कर्म-भूमि थी। मोतज़ला इस्लामका पहिला संप्रदाय था, जिसने दर्शनके प्रभावको अपने विचारों द्वारा व्यक्त किया। उनके विचार इस प्रकार थे—

(१) जीव कर्ममें स्वतंत्र—जीवको परतन्त्र माननेपर उसे बुरे कर्मोंका दंड देना अन्याय है, इसीलिए अबू-यूनुस्की तरह मोतज़ली कहते थे, कि जीव कर्म करनेमें स्वतंत्र है।

(२) ईश्वर सिर्फ भलाइयोंका स्रोत—इस्लामके सीधे-सादे विश्वासमें ईश्वर सर्वशक्तिमान् और अद्वितीय है, उसके अतिरिक्त कोई सर्वोपरि शक्ति नहीं है। मोतज़लोंकी तर्कप्रणाली थी—दुनियामें हम भलाइयाँ ही नहीं बुराइयाँ भी देखते हैं, किन्तु इन बुराइयोंका स्रोत भगवान् नहीं हो सकते, क्योंकि वह केवल भलाइयोंके ही स्रोत (शिव)

हैं। भलाइयोंका स्रोत होनेके ही कारण ईश्वर नर्क आदिके दंड नहीं दे सकता।

(३) **ईश्वर निर्गुण**—जहम् बिन्-सफ़वानकी तरह मोतज़ली ईश्वर-को निर्गुण मानते थे,—दया आदि गुणोंका स्वामी होनेपर ईश्वरके अति-रिक्त उन वस्तुओंके सनातन अस्तित्वको स्वीकार करना पड़ेगा, जिनपर कि ईश्वर अपने दया आदि गुण प्रदर्शित करता है, जिसका अर्थ होगा ईश्वर-के अतिरिक्त दूसरे भी कितने ही सनातन पदार्थ हैं।

(४) **ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्ता सीमित**—इस्लाममें आम विश्वास था कि ईश्वरकी शक्ति असीम है। मोतज़ली पूछते थे—क्या ईश्वर अन्याय कर सकता है? यदि नहीं तो इसका अर्थ है ईश्वरकी शक्तिमत्ता इतनी विस्तृत नहीं है कि वह बुराइयोंको भी करने लगे। पुराने मोत-ज़ली कहते थे, कि ईश्वर वैसा करनेमें समर्थ होते भी शिव होनेके कारण वैसा नहीं कर सकता। पीछेवाले मोतज़ली ईश्वरमें ऐसी शक्तिका ही साफ-साफ अभाव मानते थे।

(५) **ईश्वरीय चमत्कार (=मोजज़ा) गलत**—और धर्मोंकी भाँति इस्लाममें—और खुद कुरानमें भी—ईश्वर और पैग़म्बरोंकी इच्छानुसार अप्राकृतिक घटनाओंका घटना माना जाता है। मोतज़ली चिन्तकोंका कहना था, कि हर एक पदार्थके अपने स्वाभाविक गुण होते हैं, जो कभी बदल नहीं सकते; जैसे आगका स्वाभाविक गुण गर्मी है, जो कि आगके रहते कभी नहीं बदल सकती। पैगंबरोंकी जीवनियोंमें जिन्हें हम मोजज़ा समझते हैं, उनका या तो कोई दूसरा अर्थ है अथवा वह प्रकृतिके ऐसे नियमोंके अनुसार घटित हुए हैं, जिनका हमें ज्ञान नहीं है और हम उन्हें अप्राकृतिक घटना कह डालते हैं।

(६) **जगत् अनादि नहीं सादि**—दूसरे मुसलमानोंकी भाँति मोतज़ला-पंथवाले भी जगत्को ईश्वरकी कृति मानते थे, उन्हींकी तरह ये भी जगत्को अभावसे भावमें आया मानते थे। इस प्रकार इस बातमें वह अरस्तूके जगत् अनादिवादके विरोधी थे।

(७) कुरान भी अनादि नहीं सादि—सनातनी मुसलमान मोत-ज़लियोंके जगत्-सादिवादसे खुश नहीं हो सकते थे, क्योंकि जिस तरह ईश्वरकृत होनेसे वह जगत्को सादि मानते थे, उसी तरह ईश्वरकृत होनेके कारण वह कुरानको भी सादि मानते थे। अल्लाहकी भाँति कुरानको अनादि माननेको मोत-ज़ली द्वैतवाद तथा मूर्ति-पूजा जैसा दुष्कर्म बतलाते थे। हम कह चुके हैं कि कर्म स्वातंत्र्य जैसे सिद्धान्तको लेकर जह्नीने उमैय्या खलीफोंके खिलाफ आन्दोलन खड़ा कर दिया था, बनी-उमैय्याको खतमकर जब अब्बासीय खलीफा बने तो उनकी सहानुभूति कर्म-स्वातंत्र्य-वादियों तथा उनके उत्तराधिकारियों—मोतज़लियों—के विचारोंके प्रति होनी ज़रूरी थी। बगदादके मोतज़ली खलीफा कुरानके अनादि होनेके सिद्धान्तको कुफ़्र (नास्तिकता) मानते थे, और इसके लिए लोगोंको राजदंड दिया जाता था। कुरानको सादि बतला मोतज़ली अल्लाहके प्रति अपनी भारी श्रद्धा दिखाते हों यह बात न थी, इससे उनका अभिप्राय यह था कि कुरान भी अनित्य ग्रन्थों में है, इसलिए उसकी व्याख्या करनेमें काफी स्वतन्त्रताकी गुंजाइश है; और इस प्रकार पुस्तककी अपेक्षा बुद्धिका महत्त्व बढ़ाया जा सकता है। उनका मत था—ईश्वरने जब जगत् और मानव-को पैदा किया, तो साथ ही मनुष्यमें भलाई-बुराई, सच्चाई-झुठाईके परखने तथा भगवान्को जाननेके लिए बुद्धि भी प्रदान की। इस प्रकार वह ग्रंथोक्त धर्मकी अपेक्षा निसर्ग (बुद्धि)-सिद्ध धर्मपर ज़्यादा ज़ोर देना चाहते थे। यह ऐसी बात थी, जिसके लिए सनातनी मुसलमान मोतज़लियों-को क्षमा नहीं कर सकते थे, और वस्तुतः काफिर, मोतज़ली तथा दहरिया (जड़वादी, नास्तिक) उनकी भाषामें अब भी पर्यायवाची शब्द हैं।

(८) इस्लामिक वाद-शास्त्रके प्रवर्त्तक—मोतज़ला यद्यपि ग्रंथ वादके पक्षपाती न थे, किन्तु साथ ही वह ग्रंथको प्रमाणकोटिसे उठाना भी नहीं चाहते थे। बुद्धिवादी दुनियामें, वह अच्छी तरह समझते थे कि, अरबोंकी भोली श्रद्धासे काम नहीं चल सकता; इसलिए उन्होंने ग्रन्थ (क़ुरान) और बुद्धिमें समन्वय करना चाहा, लेकिन इसका आवश्यक

परिणाम यह हुआ, कि उन्हें कितने ही पुराने विश्वासोंसे इन्कार करना पड़ा, और कुरानकी व्याख्यामें काफी स्वतन्त्रता वर्तनेकी ज़रूरत महसूस हुई। अपने इस समन्वयके कामके लिए उन्हें इस्लामी वादशास्त्र (इल्म-कलाम)की नींव रखनी पड़ी; जो बगदादके आरंभिक खलीफोंकी बौद्धिक नव-जागृतिके समय पसंद भले ही किया गया हो, किन्तु पीछे वह अश्अरी, ग़ज़ाली, जैसे "पुराणवादी" आधुनिकोंकी दृष्टिमें बुरी चीज मालूम हुई।

मोतज़लियोंकी इस्लामके प्रति नेकनीयतीके बारेमें तो सन्देह न करनेका यह काफी प्रमाण है, कि वह यूनानी दर्शन तथा अरस्तूके तर्कशास्त्रके सख़्त दुश्मन थे, किन्तु इस दुश्मनीमें वह बुद्धिके हथियारको ही इस्तेमाल कर सकते थे, जिसके कारण उन्हें कितनी ही बार इस्लामके "सीधे रास्ते" (सरातल-मुस्तक़ीम)से भटक जाना पड़ता था।

(९) **मोतज़ली आचार्य**—हारून-मामून-शासनकाल (७८६-८३३ ई०) दूसरी भाषाओंसे अरबीमें अनुवाद करनेका सुनहला काल था। इन अनुवादके कारण जो बौद्धिक नव-जागृति हुई, और उसके कारण इस्लामके बारेमें जो लोगोंको सन्देह होने लगा, उसीसे लड़नेके लिए मोतज़ला सम्प्रदाय पैदा हुआ था। मोतज़लाके झंडेके नीचे खड़े होकर जिन विद्वानोंने इस लड़ाईको लड़ा था, उनमेंसे कुछ ये हैं—

(क) **अल्लाफ़ अबुल्-हुज़ैल अल्-अल्लाफ़**—यह मोतज़लियोंका सबसे बड़ा विद्वान है। इसका देहान्त नवीं सदी के मध्यमें हुआ था, और इस प्रकार शंकराचार्यका सामकालीन था। शंकरकी ही भाँति अल्लाफ़ भी एक जबर्दस्त वादचतुर विद्वान तथा पूर्णरूपेण अपने मतलबके लिए दर्शनको इस्तेमाल करनेकी कोशिश करता था। ईश्वर-अद्वैतको निर्गुण सिद्ध करनेमें उसकी भी कितनी ही युक्तियाँ अपने सम-सामयिक शंकरके निर्विशेषचिन्मात्र—ब्रह्माद्वैत—साधक तर्ककी भाँति थीं। अल्लाह (ईश्वर या ब्रह्म)में कोई गुण (=विशेषण) नहीं हो सकता; क्योंकि गुण दो ही तरहसे रह सकता है, या तो वह गुणीसे अलग हो, या गुणी-

स्वरूप हो। अलग माननेसे अद्वैत नहीं, और एक ही माननेसे निर्गुण ईश्वर तथा गुण-स्वरूप ईश्वरमें शब्दका ही अन्तर होगा। मनुष्यके कर्मको अल्लाफ़ दो तरहका मानता है—एक प्राकृतिक (नैसर्गिक) या शरीरके अंगोंका कर्म, दूसरा आचार(पुण्य-पाप)-संबंधी अथवा हृदयका कर्म। आचार-संबंधी (पुण्य-पाप कहा जानेवाला) कर्म वही है, जिसे हम बिना किसी बाधाके कर सकें। आचार-संबंधी कर्म (पुण्य, पाप) मनुष्यकी अपनी अर्जित निधि है उसके प्रयत्नका फल है। ज्ञान मनुष्यको भगवान्‌की ओरसे तो भगवद्वाणी (कुरान आदि)से और कुछ प्रकृतिके प्रकाशसे प्राप्त होता है। किसी भी भगवद्वाणीके आनेसे पहिले भी प्रकृतिद्वारा मनुष्यको कर्तव्यमार्गकी शिक्षा मिलती रही है, जिससे वह ईश्वरको जान सकता है, भलाई-बुराईमें विवेक कर सकता है, और सदाचार, सच्चाई और निश्छलता-का जीवन बिता सकता है।

(ख) नज़्ज़ाम—नज़्ज़ाम, संभवत: अल्लाफ़का शागिर्द था। इसकी मृत्यु ८४५ ई०में हुई थी। कितने ही लोग नज़्ज़ामको पागल समझते थे, और कितने ही नास्तिक। नज़्ज़ामके अनुसार ईश्वर बुराई करनेमें बिलकुल असमर्थ है। वह वही काम कर सकता है, जिसे कि वह अपने ज्ञानमें अपने सेवकके लिए बेहतर समझता है। उसकी सर्वशक्तिमत्ताकी बस उतनी ही सीमा है, जितना कि वह वस्तुत: करता है। इच्छा भगवान्‌का गुण नहीं हो सकती, क्योंकि इच्छा उसीको हो सकती है, जिसे किसी चीजकी ज़रूरत—कमी—हो। सृष्टिको भगवान् एक ही बार करता है; हर एक सृष्ट वस्तुमें वह शक्ति उसी वक्त निहित कर दी जाती है, जिससे कि वह आगे अपने निर्माणक्रमको जारी रख सके। नज़्ज़ाम परमाणुवादको नहीं मानता। पिंड परमाणुओंसे नहीं घटनाओंसे बने हैं—उसके इस विचारमें आधुनिकताकी झलक दिखलाई पड़ती है। रूप, रस, गन्ध जैसे गुणोंको भी नज़्ज़ाम पिंड (पदार्थ) ही मानता है, क्योंकि गुण, गुणी अलग वस्तुएँ नहीं हैं। मनुष्यके आत्मा या बुद्धिको भी वह एक प्रकारका पिंड मानता है। आत्मा मनुष्यका अतिश्रेष्ठ भाग

है, वह सारे शरीरमें व्यापक है। शरीर उसका साधन (करण) है। कल्पना और भावना आत्माकी गतिको कहते हैं। दीन और धर्ममें किसको प्रमाण माना जाय इसमें नज़्ज़ामका उत्तर शीओं जैसा है—फ़िक़ा-की बारीकियोंसे इसका निर्णय नहीं कर सकते, यथार्थवक्ता (=आप्त) इमाम ही इसके लिए प्रमाण हो सकता है। मुसलमानोंके बहुमतको वह प्रमाण नहीं मानता। उसका कहना है—सारी जमात गलत धारणा रख सकती है, जैसा कि उनका यह कहना कि दूसरे पैगंबरोंकी अपेक्षा मुहम्मद-अरबीमें यह विशेषता थी कि वह सारी दुनियाके लिए पैगंबर बनाकर भेजे गये थे; जो कि गलत है, खुदा हर पैगंबरको सारी दुनियाके लिए भेजता है।

(ग) जहीज़ (८६९ ई०)—नज़्ज़ामका शिष्य जहीज़ एक सिद्ध-हस्त लेखक तथा गंभीरचेता दार्शनिक था। वह धर्म और प्रकृति-नियमके समन्वयको सत्यके लिए सबसे ज़रूरी समझता था। हर चीजमें प्रकृतिका नियम काम कर रहा है, और ऐसे हर काममें कर्ता ईश्वरकी झलक है। मानवबुद्धि कर्त्ताका ज्ञान कर सकती है।

(घ) मुअम्मर—मुअम्मरका समय ९०० ई०के आसपास है। अपने पहिलेके मोतज़िलियोंसे भी ज़्यादा "निर्गुणवाद"पर उसका जोर है। ईश्वर सभी तरहके द्वैतसे सर्वथा मुक्त है, इसलिए किसी गुण-विशेषण-की उसमें संभावना नहीं हो सकती। ईश्वर न अपनेको जानता है और न अपनेसे भिन्न किसी वस्तु या गुणको जानता है, क्योंकि जानना स्वीकार करने पर ज्ञाता ज्ञेय आदि अनगिनत द्वैत आ पहुँचेंगे, मुअम्मरके मतसे गति-स्थिति, समानता-असमानता आदि केवल काल्पनिक धारणायें हैं, इनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। मनुष्यकी इच्छा कोई बंधन नहीं रखती। इच्छा ही एक मात्र मनुष्यकी क्रिया है, बाकी क्रियाएँ तो शरीरसे संबंध रखती हैं।

(ङ) अबू-हाशिम बस्री (९३३ ई०)—अबू-हाशिमका मत था, कि सत्ता और अ-सत्ताके बीचकी कितनी ही स्थितियाँ हैं, जिनमें ईश्वरके

गुण, घटनाएँ, जाति (=सामान्य)के ज्ञान शामिल हैं। सभी ज्ञानोंमें सन्देहका होना ज़रूरी है।

२—करामी संप्रदाय

मोतज़लियोंकी कुरानकी व्याख्यामें निरंकुशताको बहुतसे श्रद्धालु मुसलमान खतरेकी चीज समझते थे। नवीं सदी ईसवीमें मोतज़लियोंके विरुद्ध जिन लोगोंने आवाज उठाई थी, उनमें करामी सम्प्रदाय भी था। इसके प्रवर्तक मुहम्मद बिन्-कराम सीस्तान (ईरान)के रहनेवाले थे। मोतज़लाने ईश्वरको साकार (स-शरीर) क्या सगुण माननेसे भी इन्कार कर दिया था, इब्न-करामने उसे बिलकुल एक मनुष्य—राजा—की तरहका घोषित किया। इब्न-तैमियाकी भाँति उसका तर्क था—जो वस्तु साकार नहीं, वह मौजूद ही नहीं हो सकती।

३—अश्अरी संप्रदाय

जिस वक्त मोतज़लियों और करामियोंके एक दूसरेके पूर्णतया विरोधी निर्गुणवाद और साकारवाद चल रहे थे, उसी वक्त एक मोतज़ली परिवारमें अबुल्-हसन अश्अरी (८७३-९३५ ई०) पैदा हुआ। उसने देखा कि मोतज़ला जिस तरहके प्रहारोंसे इस्लामको बचाना चाहते हैं, उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, इसलिए कुछ हद तक हमें मोतज़लोंके बुद्धिमूलक विचारोंके साथ जाना चाहिए; किन्तु कोरा बुद्धिवाद इस्लाम-के लिए खतरेकी चीज है, इसका भी ध्यान रखना होगा। इसी तरह परंपराकी अवहेलनासे इस्लाम पर जो अविश्वास आदिका खतरा हो सकता है, उसकी ओर भी देखना ज़रूरी है, किन्तु साथ ही बुद्धिवादके तक़ाज़ेको बिलकुल उपेक्षाकी दृष्टिसे देखना भी खतरनाक होगा, क्योंकि इसका अर्थ होगा इस्लामके प्रति शिक्षित प्रतिभाओंका तिरस्कार। इसीलिए अश्अरीने कहा कि ईश्वर राजा या मनुष्य-जैसा साकार व्यक्ति नहीं है। अश्अरी और उसके सम्प्रदायके मुख्य-मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार थे—

(१) कार्य-कारण-नियम (=हेतुवाद)से इन्कार—मोतज़लाका मत था, कि वस्तुके नैसर्गिक गुण नहीं बदलते, इसलिए मोजज़ा या अप्राकृतिक चमत्कार गलत हैं। दार्शनिकोंका कहना था कि कार्य-कारणका नियम अटूट है, बिना कारणके कार्य नहीं हो सकता; इसलिए ईश्वरको कर्त्ता माननेपर भी उसे कारण (=उपादान-कारण)की ज़रूरत होगी, और जगत्के उपादान कारण—प्रकृति—को मान लेनेपर ईश्वर अद्वैत तथा जगत्का सादि होना—ये दोनों इस्लामी सिद्धान्त गलत हो जायेंगे। इन दोनों दिक्कतोंसे बचनेके लिए अश्अरीने कार्य-कारणके नियमको ही माननेसे इन्कार कर दिया: कोई चीज किसी कारणसे नहीं पैदा होती, खुदाने कार्यको भी उसी तरह बिलकुल नया पैदा किया, जैसे कि उसने उससे पहिलेवाली चीजको पैदा किया था, जिसे कि हम गलतीसे कारण कहते हैं। हर वस्तु परमाणुमय है, और हर परमाणु क्षणभरका मेहमान है। पहिले तथा दूसरे क्षणके परमाणुओंका आपसमें कोई संबंध नहीं, दोनोंको उनके पैदा होनेके समय भगवान् बिना किसी कारणके (=अभाव से) पैदा करते हैं। अश्अरीके मतानुसार न सूरजकी गर्मी जलको भाप बनाती है, न भापसे बादल बनता है, न हवा बादलको उड़ाती है, न पानी बादलसे बरसता है। बल्कि अल्लाह एक-एक बूँदको अभावसे भावके रूपमें टपकाता है, अल्लाह बिना उपादान-कारण (=भाप)के सीधे बादल बनाता है....। अश्अरी सर्वशक्तिमान् ईश्वरके हर क्षण कार्यकारण-संबंधहीन बिलकुल नये निर्माणका उदाहरण एक लेखकके रूपमें उपस्थित करता है। ईश्वर आदमीको बनाता है, फिर इच्छाको बनाता है, फिर लेखन-शक्तिको; फिर हाथमें गति पैदा करता है, अन्तमें कलममें गति पैदा करता है। यहाँ हर क्रियाको ईश्वर अलग-अलग सीधे तौरसे बिना किसी कार्य-कारणके सम्बन्धसे करता है। कार्य-कारणके नियमके बिना ज्ञान भी संभव नहीं हो सकता, इसके उत्तरमें अश्अरी कहता है—अल्लाह हर चीजको जानता है, वह सिर्फ दुनियाकी चीजों तथा जैसी वह दिखाई पड़ती हैं, उन्हींको नहीं पैदा करता, बल्कि उनके

सम्बन्धके ज्ञानको भी आदमीकी आत्मामें पैदा करता है।

(२) भगवद्वाणी क़ुरान(=शब्द) एकमात्र प्रमाण—हिन्दू मीमांसकोंकी भाँति अश्अरी सम्प्रदायवाले भी मानते हैं, कि सच्चा (=निर्भ्रान्त) ज्ञान सिर्फ शब्द प्रमाण द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है; हाँ, अन्तर इतना ज़रूर है कि अश्अरी मीमांसकोंकी भाँति किसी अपौरुषेय शब्द-प्रमाण (=वेद)को न मानकर अल्लाहके कलाम (=भगवद्वाणी) क़ुरानको सर्वोपरि प्रमाण मानता है। क़ुरानका सहारा लिये बिना अलौकिक स्वर्ग, नर्क, फरिश्ता आदि वस्तुओंको नहीं जाना जा सकता। इन्द्रियाँ आमतौरसे भ्रान्ति नहीं पैदा करतीं, किन्तु बुद्धि हमें गलत रास्तेपर ले जा सकती है।

(३) ईश्वर सर्वनियम-मुक्त—ईश्वर सर्वशक्तिमान् कर्त्ता है। वह किसी उपादान कारणके बिना हर चीजको हर क्षण बिलकुल नई पैदा करता है, इस प्रकार वह जगत्में देखे जानेवाले सारे नियमोंसे मुक्त है, सारे नैतिक नियमोंकी जिम्मेवारियोंसे वह मुक्त है। शरह-मुवाफ़िक़में इस सिद्धान्तकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"अल्लाहके लिए यह ठीक है, कि वह मनुष्यको इतना कष्ट दे, जो कि उसकी शक्तिसे बाहर है। अल्लाहके लिए यह ठीक है कि वह अपनी प्रजा (=सृष्टि)को सुफल या दंड दे, चाहे उसने कोई अपराध किया हो या न किया हो। (अल्लाह-) ताला अपने सेवकोंके साथ जो चाहे करे; अल्लाहको अपने बंदोंके भावोंके ख्याल करनेकी कोई ज़रूरत नहीं। अल्लाहको भगवद्वाणी (=कुरान) द्वारा ही पहिचाना जा सकता है, बुद्धिके द्वारा नहीं।"

इस सिद्धान्तके समर्थनमें अश्अरी कुरानके वाक्योंको प्रमाणके तौरपर पेश करता है। जैसा कि—

"हुव'ल्-क़ाहिरो फ़ौक़-इबादिही" (वह अपने बंदोंपर सर्वतंत्र-स्वतंत्र है)।

"क़ुल् कुल्लुन् मिन् इन्दे'ल्लाहे" (कह 'सब अल्लाहकी ओरसे है')।

"व मा तशावून इल्ला अनँय्यशाअ'ल्लाह" (तुम किसी बातको न चाहोगे जब तक कि अल्लाह नहीं चाहे)।

इस तरह ईश्वरकी सीमा रहित सर्वशक्तिमत्ता अश्अरियोंके प्रधान सिद्धान्तोंमें एक है।

(४) देश, काल और गतिमें विच्छिन्न-विन्दुवाद—हेतुवादके इन्कारके प्रकरणमें बतला चुके हैं, कि अश्अरी न जगत्में कार्यकारण-नियम-को मानता, और नहीं जगत्की वस्तुओंको देश, काल या गतिमें किसी तरहके अ-विच्छिन्न प्रवाहके तौरपर मानता है। अंक—एक, दो, तीन. . . . . .में हम किसी तरहका अविच्छिन्न क्रम नहीं मानते। एककी संख्या समाप्त होती दोकी संख्या अस्तित्वमें आती है—पूछा जाये एकसे दोमें संख्याज्ञान सर्पकी भाँति सरकता हुआ पहुँचता है, या मेंढककी तरह कूदता; उत्तर मिलेगा—कूदता। गति देश या दिशामें वस्तुमें होती है। हम वाणको एक देशसे दूसरे देश पहुँचते देखते हैं। सवाल है यदि वाण हर वक्त किसी स्थानमें स्थित है, तो वह स्थिति—गति-शून्यता—रखता है, फिर उसे गति कहना गलत होगा। अब यदि आप दृष्ट गतिको सिद्ध करना चाहते हैं, तो एक ही रास्ता है, वह यही है, कि यहाँ भी साँपकी भाँति सरक-नेकी जगह संख्याकी भाँति गतिको भिन्न-भिन्न कुदान मानें। अकारण परमाणु एक क्षणके लिए पैदा होकर नष्ट हो जाता है, दूसरा नया अकारण परमाणु अपने देश, अपने कालके लिए पैदा होता है और नष्ट होता है। पहिले परमाणु और दूसरे परमाणुके बीच शून्यता—गति-शून्यता, देश-शून्यता है। यही नहीं हर पहिले क्षण ("अब") और दूसरे क्षण ("अब")के बीच किसी प्रकारका संबंध न होनेसे यहाँ कालिक-शून्यता है—काल जो है वह "अब" है, जो "अब" नहीं वह काल नहीं—और यहाँ दो "अब"के बीच हम कुछ नहीं पाते, जो ही कालिक-शून्यता है। अश्अरी "मेंढक-कुदान" (प्लुति)के सिद्धान्तसे ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्ता, हेतुवाद-निषेध, तथा वस्तु-गति-देश-कालकी परमाणु-रूपता सभीको इस प्रकार सिद्ध करता है। यहाँ यह ध्यान रखनेकी बात है, कि अश्अरियोंने इस "मेंढक-कुदान", "विच्छिन्न-प्रवाह", "विन्दु-घटना", "विच्छिन्न परमाणु-सन्तति"को वस्तु-स्थितसे उत्पन्न होनेवाली किसी गुत्थीको सुलझानेके लिए

नहीं स्वीकार किया, जैसे कि हम आजके "सापेक्षतावाद" "क्वन्तम्-सिद्धान्त" अथवा बौद्धोंके क्षणिक अनात्मवाद और मार्क्सीय भौतिकवादमें पाते हैं। अश्अरी इससे मोजज़ा (=दिव्य चमत्कार), ईश्वरकी निरंकुशता आदिको सिद्ध करना चाहता है। ऐसे सिद्धान्तोंसे स्वेच्छाचारी मुसलमान शासकों-को अल्लाहकी निरंकुशताके पर्देमें अपनी निरंकुशताको छिपानेका बहुत अच्छा मौका मिलता है, इसमें सन्देह नहीं।

(५) **पैग़ंबरका लक्षण**—पैगंबर (=खुदाका भेजा) कौन है, इसके बारेमें मुवाक़िफ[1]ने कहा है—"(पैगंबर वह है) जिससे अल्लाहने कहा—मैंने तुझे भेजा, या लोगोंको मेरी ओरसे (संदेश) पहुँचा, या इस तरहके (दूसरे) शब्द। इस (पैगंबर होने)में न कोई शर्त है और न योग्यता (का ख्याल) है, बल्कि अल्लाह अपने सेवकोंमेंसे जिसको चाहता है, उसे अपनी कृपाका खास (पात्र) बनाता है।

(६) **दिव्य चमत्कार (=मोजज़ा)**—ऐसा तो कोई भी दावा कर सकता है कि मुझे खुदाने यह कह कर भेजा है, इसीके लिए अश्अरी लोग ईश्वरी प्रमाणकी भाँति दिव्य चमत्कार या मोजज़ाको पैगंबरीके सबूतके लिए ज़रूरी समझते हैं। मोजज़ाको सिद्ध करनेकी धुनमें इन्होंने किस तरह हेतुवादसे इन्कार किया, और खुदाके हर क्षण नये परमाणुओंके पैदा करनेकी कल्पना की, इसे हम बतला चुके हैं।

---

[1] **"मन् क़ाला लहू असंल्तोका औ बल्लग़्हुम् अन्नी, व नव्हहा मिन'-ल्-अल्फ़ाजे। व ला यश्तरेतो फ़ीहे शर्तुन्, व ला एस्तेअ्दादुन् बलि'ल्लाहो यख़्तस्सो बेरह्मतेही मनँय्यशाओ मिन् एबादेही।"**

पंचम अध्याय

पूर्वी इस्लामी दार्शनिक (१)

(शारीरक ब्रह्मवादी)

§ १–अज़ीज़ुद्दीन राज़ी (९२३ या ९३२ ई०)

शारीरक ब्रह्मवाद या पिथागोरी प्राकृतिक दर्शनके इस्लामिक समर्थकोंमें इमाम राज़ी और "पवित्र-संघ" मुख्य हैं। पवित्र-संघ कई कारणोंसे बदनाम हो गया, जिससे मुसलमानोंपर उसका प्रभाव उतना नहीं पड़ सका, किन्तु राज़ी इस बातमें ज़्यादा सौभाग्यशाली था, जिसका कारण उसकी नरम दर्शनशैली थी, जिसके बारेमें हम आगे कहनेवाले हैं।

(१) जीवनी—अज़ीज़ुद्दीन राज़ीका जन्म पश्चिमी ईरानके रे शहरमें हुआ था। दूसरी धार्मिक शिक्षाओंके अतिरिक्त गणित, वैद्यक और पिथागोरीय दर्शनका अध्ययन उसने विशेष तौरसे किया था। वैद्यकमें तो इतना ही कहना काफी है कि वह अपने समयका सिद्धहस्त हकीम था। वादविद्याके प्रति उसकी अश्रद्धा थी, और तर्कशास्त्रमें शायद उसने अरस्तूकी एक पुस्तकसे अधिक पढ़ा न था। सरकारी हकीमके तौरपर वह पहिले रे और पीछे बगदादके अस्पतालका प्रधान रहा। पीछे उसका मन उचट गया, और देशाटनकी धुन सवार हुई। इस यात्राकालमें वह कई सामन्तोंका कृपा-पात्र रहा, जिनमें ईरानी सामानी वंशी (९००-९९९ ई०) शासक मंसूर इब्न-इस्हाक भी था, जिसको कि उसने अपना एक वैद्यक ग्रन्थ समर्पित किया है।

(साधारण विचार)—राज़ीके दिलमें वैद्यक विद्याके प्रति भारी श्रद्धा थी। वैद्यकशास्त्र हजारों वर्षोंके अनुभवसे तैयार हुआ, और राज़ीका कहना था, कि एक छोटेसे जीवनमें किसी व्यक्तिके तजर्बेसे मेरे लिए हजारों वर्षोंके तजर्बे द्वारा संचित ज्ञान ज़्यादा मूल्यवान है।

(२) दार्शनिक विचार

(क) जीव और शरीर—शरीर और जीवमें राज़ी जीवको प्रधानता देता है। जीवन (=आत्मा)-संबंधी अस्वास्थ्य शरीरपर भी बुरा प्रभाव डालता है, इसीलिए राज़ी वैद्यके लिए आत्मा (=जीव)का चिकित्सक होना भी ज़रूरी समझता था। तो भी, वह चिकित्सा बहुतसे आत्मिक रोगोंमें असफल रहती है, जिसके कारण राज़ीका झुकाव निराशावादकी ओर ज़्यादा था।—दुनियामें भलाईसे बुराईका पल्ला भारी है।

कीमिया (=रसायन) शास्त्रपर राज़ीकी बहुत आस्था थी। भौतिक जगत्के मूलतत्त्वोंके एक होनेसे उसको विश्वास था, कि उनके भिन्न प्रकारके मिश्रणसे धातुमें परिवर्तन हो सकता है। रसायनके विभिन्न योगोंसे विचित्र गुणोंको उत्पन्न होते देख वह यह भी अनुमान करने लगा था कि शरीरमें स्वतः गति करनेकी शक्ति है; यह विचार महत्त्वपूर्ण ज़रूर था, किन्तु उसे प्रयोग द्वारा उसने और विकसित नहीं कर पाया।

(ख) पाँच नित्य तत्त्व—राज़ी पाँच तत्त्वोंको नित्य मानता था—(१) कर्त्ता (=पुरुष या ईश्वर), (२) विश्व-जीव, (३) मूल भौतिक तत्त्व, (४) परमार्थ दिशा, और (५) परमार्थ काल। यह पाँचों तत्त्व राज़ीके मतसे नित्य सदा एक साथ रहनेवाले हैं। यह पाँचों तत्त्व विश्वके निर्माणके लिए आवश्यक सामग्री हैं, इनके बिना विश्व बन नहीं सकता।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष हमें बतलाता है कि बाहरी पदार्थ—भौतिक-तत्त्व—मौजूद है, उनके बिना इन्द्रिय किस चीजका प्रत्यक्ष करती? भिन्न-भिन्न वस्तुओं (=विषयों)की स्थिति उनके स्थान या दिशाको बतलाती है।

वस्तुओंमें होते परिवर्तनका जो साक्षात्कार होता है—पहिले ऐसा था, अब ऐसा है—वह हमें कालके अस्तित्वको बतलाता है। प्राणियोंके अस्तित्व तथा उनकी अप्राणियोंसे भिन्नतासे पता लगता है कि जीव भी एक पदार्थ है। जीवोंमें कितनों हीमें बुद्धि—कला आदिको पूर्णताके शिखरपर पहुँचानेकी क्षमता—है, जिससे पता लगता है, कि इस बुद्धिका स्रोत कोई चतुर कर्त्ता है।

(ग) विश्वका विकास—यद्यपि राज़ी अपने पाँचों तत्त्वोंको नित्य, सदा एक साथ रहनेवाला कहता है, तो भी जब वह उनमेंसे एकको कर्त्ता मानता है, तो इसका मतलब है कि इस नित्यताको वह कुछ शर्तोंके साथ मानता है। सृष्टिकी कथा वह कुछ इस तरहसे वर्णित करता है—पहिले एक सादी शुद्ध आध्यात्मिक ज्योति बनाई गई, यही जीव (=रूह) का उपादान कारण था : जीव प्रकाश स्वभाववाले सीधे सादे आध्यात्मिक तत्त्व हैं। ज्योतिस्तत्त्व या ऊर्ध्वलोक—जिससे कि जीव नीचे आता है—को बुद्धि (=नफ़्स) या ईश्वरीय ज्योतिका प्रकाश कहा जाता है। दिनका अनुगमन जैसे रात करती है, उसी तरह प्रकाशका अनुगमन अंधकार (=तम) करता है; इसी तमसे पशुओंके जीव पैदा होते हैं, जिनका कि काम है बुद्धि-युक्त जीव (=मानव)के उपयोगमें आना।

जिस वक्त सीधी सादी आध्यात्मिक ज्योति अस्तित्वमें आई, उसके साथ ही साथ एक मिश्रित वस्तु भी मौजूद रही, यही विराट् शरीर है। इसी विराट् शरीरकी छायासे चार "स्वभाव"—गर्मी, सर्दी, रुक्षता और नमी उत्पन्न होती है। इन्हीं चार "स्वभावों"से अन्तमें सभी आकाश और पृथ्वीके पिंड—शरीर—बने हैं। इस तरह उनकी सृष्टि होनेपर भी पाँच तत्त्वोंको नित्त्य क्यों कहा ? इसका उत्तर राज़ी देता है—क्योंकि यह सृष्टि सदासे होती चली आई है, कोई समय ऐसा न था, जब कि ईश्वर निष्क्रिय था। इस तरह राज़ी जगत्‌की नित्यताको स्वीकार कर इस्लामके सादि वादके सिद्धान्तके ख़िलाफ गया था, तो भी राज़ीके नामके साथ इमाम-नाम लगाना बतलाता है, कि उसके लिए लोगोंके दिलोंमें नरम स्थान था।

(घ) **मध्यमार्गी दर्शन**—राज़ीके समयसे पहिलेसे ऐसे नास्तिक भौतिकवादी दार्शनिक चले आते थे, जो जगत्का कोई कर्त्ता नहीं मानते थे। उनके विचारसे जगत् स्वतःनिर्मित होनेकी अपनेमें क्षमता रखता है। दूसरी ओर ईश्वर-अद्वैत (=तौहीद) वादी मुल्ला थे, जो किसी अनादि जीव, भौतिक तत्त्व,—दिशा, काल, जैसे तत्त्वके अस्तित्वको अल्लाहकी शानमें बट्टा लगनेकी बात समझते थे। राज़ी न भौतिकवादियोंके मतको ठीक समझता था, न मुल्लोंके मतको। इसीलिए उसने बीचका रास्ता स्वीकार किया—विचारको बुद्धिसंगत बनानेके लिए ईश्वरके अतिरिक्त जीव, प्रकृति, दिशा कालकी भी ज़रूरत है, और बुद्धियुक्त मानव जैसे जीवको प्रकट करनेके लिए कर्त्ताकी।

§ २–पवित्र-संघ (=अख़वानुस्सफ़ा)

मोतज़ला, करामी, अश्अरी तीनों दर्शन-द्रोही थे। किन्तु इसी समय बस्रामें एक और सम्प्रदाय निकला जो कि दर्शन—विशेषकर पिथागोर-के दर्शन—के भक्त थे, और इस्लामको दर्शनके रंगमें रंगना चाहते थे। इस सम्प्रदायका नाम था "अख़वानुस्सफ़ा" (पवित्र-संघ, पवित्र मित्र-मंडली या पवित्र बिरादरी)। अख़वानुस्सफ़ा केवल धार्मिक या दार्शनिक सम्प्रदाय ही नहीं था, बल्कि इसका अपना राजनीतिक प्रोग्राम था। ये लोग दर्शनको आत्मिक आनंदकी ही चीज नहीं समझते थे, बल्कि उसके द्वारा एक नये समाजका निर्माण करना चाहते थे। इसके लिए क़ुरानमें खींचातानी करके अपने मतलबका अर्थ निकालते थे। वह दुनियामें एक उटोपियन[१] धर्मराज्य कायम करना चाहते थे।

१ पूर्वगामी इब्न-मैमून (८५० ई०)—मोतज़ली सम्प्रदायके प्रवर्त्तक अल्लाफ़का देहान्त नवीं सदीके मध्यमें हुआ था, इसी समयके आस-पास अब्दुल्ला इब्न-मैमून पैदा हुआ था। इस्लामने ईरानियों (=अजमियों)को

[१] Utopean.

मुसलमान बनाकर बड़ी गलती की। इस्लाममें जितने (=फ़ित्ने) पैदा हुए, मतभेद उनमेंसे अधिकांशके बानी (=प्रवर्त्तक) यही अजमी लोग थे। इब्न-मैमून भी इन्हीं "फ़ित्ना पर्वाजों"मेंसे था। दमिश्कके म्वाविया-वंश (=बनी-उमैय्या)ने पहिला समझौता करके बाहरी सभ्य आधीन जातियोंके निरन्तर विरोधको कम किया था। बगदादके अब्बासी वंशने इस दिशामें और गति की, तथा अपने और अपने शासनको बहुत कुछ ईरानी रंगमें रंग दिया—उन्होंने ईरानी विद्वानोंकी इज़्ज़त ही नहीं की, बल्कि बरामका जैसे ईरानी राजनीतिज्ञोंको महामंत्री बनाकर शासनमें सहभागी तक बनाया। किन्तु, मालूम होता है, इससे वे सन्तुष्ट नहीं थे। करमती राजनीतिक दल, जिसकाकि इब्न-मैमून नेता था, अब्बासी शासनको हटाकर एक नया शासन स्थापित करना चाहता था, कैसा शासन, यह हम आगे कहेंगे। उसके प्रतिद्वंदी इब्न-मैमूनको भारी षड्यन्त्री सिद्धान्तहीन व्यक्ति समझते थे, किन्तु दूसरे लोग थे जो कि उसे महात्मा और ऊँचे दर्जेका दार्शनिक समझते थे। उसकी मंडलीने सफेद रंगको अपना साम्प्रदायिक रंग चुना था, क्योंकि वह अपने धर्मको परिशुद्ध उज्वल समझते थे, और इसी उज्वलताको प्राप्त करना आत्माका चरम लक्ष्य मानते थे।

(शिक्षा)—करमती लोगोंकी शिक्षा थी—कर्त्तव्यके सामने शरीर और धनकी कोई पर्वाह मत करो। अपने संघके भाइयोंकी भलाईको सदा ध्यानमें रखो। संघके लिए आत्म-समर्पण, अपने नेताओंके प्रति पूर्णश्रद्धा, तथा आज्ञापालनमें पूर्ण तत्परता—हर करमतीके लिए ज़रूरी फ़र्ज़ है। संघकी भलाई और नेताके आज्ञापालनमें मृत्युकी पर्वाह नहीं करनी चाहिए।

२—पवित्र-संघ

(१) पवित्र-संघकी स्थापना—बस्रा और कूफ़ा करमतियोंके गढ़ थे। दसवीं सदीके उत्तरार्द्धमें बस्रामें एक छोटासा संघ (पवित्र-संघ) स्थापित हुआ। इस संघने अपने भीतर चार श्रेणियाँ रखी थीं।

पहिली श्रेणीमें १५-३० वर्षके तरुण सम्मिलित थे। अपने आत्मिक विकास-के लिए अपने गुरुओं (शिक्षकों)का पूर्णतया आज्ञापालन इनके लिए ज़रूरी था। दूसरी श्रेणीमें ३०-४० वर्षके सदस्य शामिल थे, इन्हें आध्यात्मिक शिक्षासे बाहरकी विद्याओंको भी सीखना पड़ता था। तीसरी श्रेणीमें ४०-५० वर्षके भाई थे, यह दुनियाके दिव्य कानूनके जाननेकी योग्यता पैदा करते थे, इनका दर्जा पैगंबरोंका था। चौथी और सर्वोच्च श्रेणीमें वह लोग थे, जिनकी उम्र ५० से अधिक थी। वे सत्यका साक्षात्कार करते थे, और उनकी गणना फरिश्तों—देवताओंके—दर्जेमें थी; उनका स्थान प्रकृति, सिद्धान्त, धर्म सबके ऊपर था। अपने इस श्रेणी-विभाजनमें पवित्र-संघ इब्न-मैमूनके करमती दल तथा अफलातूँके "प्रजा-तंत्र"से प्रभावित हुआ था, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु इसमें सन्देह है, कि वह अपने इस श्रेणी-विभाजनको काफी अंशमें भी कार्यरूपमें परिणत कर सका हो।

(२) **पवित्र-संघकी ग्रन्थावली और नेता**—पवित्र संघने अपने समयके ज्ञानको पुस्तकरूपमें लेखबद्ध किया था, इसे "रसायल् अख-वानुस्सफ़ा" (पवित्र-संघ-ग्रन्थावली) कहते हैं। इस ग्रन्थावलीमें ५१ (शायद शुरूमें ५० थे) ग्रन्थ हैं। ग्रन्थोंकी वर्णन-शैलीसे पता लगता है, कि इनके लेखक अलग-अलग थे और उनमें सम्पादन द्वारा भी एकता लानेकी कोशिश नहीं की गई। ग्रन्थावलीमें राजनीतिक पुटके साथ प्राकृतिक विज्ञानके आधारपर ज्ञानवादकी विवेचना की गई है। संघके नेताओं और ग्रन्थावलीके लेखकोंके बारेमें—पीछेकी पुस्तकोंमें जो कुछ मिलता है, उससे उनके नाम यह हैं—

(१) मुक़द्दसी या अबू-सुलैमान मुहम्मद इब्न-मुशीर अल्-बस्ती;
(२) ज़ंजानी या अबुल्-हसन् अली इब्न-हारून अल्-ज़ंजानी;
(३) नह्राजूरी या मुहम्मद इब्न-अहमद अल्-नह्राजूरी;
(४) औफ़ी या अल्-औफ़ी; और
(५) रिफ़ाअ़ या ज़ैद इब्न-रिफ़ाअ़।

पवित्र-संघ जिस वक्त (दसवीं सदीके उत्तरार्धमें) कार्यक्षेत्रमें उतरा उस वक्त तक बगदादके खलीफे अपनी प्रधानता खो बैठे थे; और जगह-जगह स्वतन्त्र शासक पैदा हो चुके थे। पोपकी भाँति वहुत कुछ धर्मगुरु समझकर मुस्लिम सुल्तान अग भी खलीफाकी इज़्ज़त करते तथा उनके पास भेंट भेजकर बड़ी-बड़ी पदवियाँ पानेकी इच्छा रखते थे। खुद बगदादके पड़ोस तथा ईरानके पश्चिमी भागमें बुवायही वंश[1]का शासन था; यह वंश खुल्लमखुल्ला शीआ-सम्प्रदायका अनुयायी था। पवित्र-संघ-ग्रंथावलीने मोतजला+शीआ+यूनानी दर्शनकी नींवपर अपने मन्तव्य तैयार किये थे, जिसके लिए यह समय कितना अनुकूल था, यह समझना आसान है।

(३) पवित्र-संघके सिद्धान्त—पवित्र-संघ अपने समयकी धार्मिक असहिष्णुतासे भलीभाँति परिचित था, और चाहता था कि लोग इब्राहिम, मूसा, जर्तुश्त, मुहम्मद, अली सभीको भगवान्का दूत—पैगंबर—मानें; यही नहीं धर्मको बुद्धिसे समझौता करानेके लिए वह पिथागोर, सुक्रात, अफलातूँको भी ऋषियों और पैगंबरोंकी श्रेणीमें रखता था। वह सुक्रात, ईसा तथा ईसाई शहीदोंको भी हसन-हुसेनकी भाँति ही पवित्र शहीद मानता था।

(क) दर्शन प्रधान—पवित्र संघका कहना था कि मजहबके विश्वास, आचार-नियम साधारण बुद्धिवाले आदमियोंके लिए ठीक हैं; किन्तु अधिक उन्नत मस्तिष्कवाले पुरुषोंके लिए गंभीर दार्शनिक अन्तर्दृष्टि ही उपयुक्त हो सकती है।

(ख) जगत्की उत्पत्ति या नित्यता-सम्बन्धी प्रश्न गलत—बुद्धकी भाँति पवित्र-संघवाले विचारक जगत्की उत्पत्तिके सवालको

---

[1] **(१) अली बिन्-बुवायही, मृ० ९३२ ई०। (२) अहमद (मुईजुद्दौला) ९३२-९६७ ई०। (३) अहमद (आजादुद्दौला) ९६७-... (४) मज्दुद्दौला...**

बेकार समझते थे। हम क्या हैं, यह हमारे लिए आवश्यक और लाभ-दायक है। "मानव-बुद्धि जब इससे आगे बढ़ना चाहती है, तो वह अपनी सीमाको पार करती है। अपनेको उन्नत करते हुए क्रमशः सर्व महान् (तत्त्व, ब्रह्म)के शुद्ध ज्ञान तक पहुँचना आत्माका ध्येय है, जिसे कि वह संसार-त्याग और सदाचरणसे ही प्राप्त कर सकता है।"

(ग) आठ (नौ) पदार्थ—पवित्र-संघने यूनानी तथा भारतीय दार्शनिकोंकी भाँति तत्त्वोंका वर्गीकरण किया है। सबसे पहिला तत्त्व ईश्वर, परमात्मा या अद्वैत तत्त्व है, जिससे क्रमशः निम्न आठ तत्त्वोंका विकास हुआ है।

१. नफ़्स[1]-फ़आल=कर्त्ता-विज्ञान
२. नफ़्स-इन्फ़आल=अधिकरण-विज्ञान या सर्व-विज्ञान
३. हेवला=मूल प्रकृति या मूल भौतिक तत्त्व
४. नफ़्स-आलम=जग-जीवन (मानव जीवोंका समूह)
५. जिस्म-मुत्लक़=परम शरीर, महत्तत्त्व
६. आलम-अफ़्लाक=फरिश्ते या देवलोक
७. अनासर-अर्बअ़=(पृथ्वी, जल, वायु, आग) ये चार भूत
८. मवालीद-सलासा=भूतोंसे उत्पन्न (धातु, वनस्पति, प्राणी) ये तीन प्रकारके पदार्थ

कर्त्ता-विज्ञान, अधिकरण-विज्ञान, मूल प्रकृति और जग-जीवन—यह अमिश्र पदार्थ हैं। परम शरीरको लेकर आगेके चार पदार्थ मिश्रित हैं। यह मिश्रण द्रव्य और गुण (=घटना)के रूपमें होता है।

प्रथम द्रव्य हैं—मूल प्रकृति और आकृति। प्रथम गुण (=घटनायें) हैं—दिशा (देश), काल, गति, जिसमें प्रकाश और मात्राको भी शामिल कर लिया जा सकता है।

---

[1] **नफ़्स—यह यूनानी शब्द नोव्सका अरबी रूपान्तर है, जिसका अर्थ विज्ञान या बुद्धि है।**

मूल प्रकृति एक है, और सांख्यकी भाँति, वह सदा एकसी रहती है; जो भिन्नता तथा बहुलता पाई जाती है, उसका कारण आकृति है—पिथागोरका भी यही मत है। प्रकृति और आकृति दोनों बिलकुल भिन्न चीजें हैं—कल्पनामें ही नहीं वस्तुस्थितिमें भी।

मूल प्रकृतिसे भी परे कर्त्ता-विज्ञान या नफ़्स-फ़आल पवित्र संघके मतमें सभी चेतन-अचेतन तत्त्वका मूल उपादान-कारण है।

(घ) मानव-जीव—मानव-जीव (=मन) नफ़्स-इन्फ़आल (अधि-करण-विज्ञान)से पैदा हुआ है। सभी मानव-जीवोंकी समष्टिको एक पृथक् द्रव्य माना गया है, जिसको "परम मानव" या "मानवताका आत्मा" कह सकते हैं। प्रत्येक मानव-जीव भूतोंसे विकसित होता है, किन्तु क्रमशः विकास करते-करते वह आत्मा बन जाता है। बच्चेका जीव (=मन) सफेद काग़ज़की भाँति कोरा होता है। पाँचों ज्ञान इन्द्रियाँ बाहरी जगत्‌से जिस विषयको ग्रहण करती हैं, वह मस्तिष्कके अगले भागमें पहिले उपस्थित किया जाता है, फिर बिचले भागमें उसका निश्चय (विश्लेषण) किया जाता है, और अन्तमें मस्तिष्कके पिछले भागमें संस्कारके तौरपर उसे संचित किया जाता है। बाहरी इंद्रियोंकी संख्या मनुष्य और पशुमें समान है। मनुष्यकी विशेषतायें हैं—विचार (=निश्चय शक्ति), वाणी और क्रिया।

(ङ) ईश्वर (=ब्रह्म)—कर्त्ता-विज्ञान (नफ़्स-फ़आल) ईश्वर है। इसी-से सारे तत्त्व निकले हैं, यह बतला आये हैं। इन आठों तत्त्वोंसे ऊपर ईश्वर या परम अद्वैत (तत्त्व) है। यह परम अद्वैत (ब्रह्म) सबमें है और सब कुछ है।

(च) क़ुरानका स्थान—क़ुरानको पवित्र-संघ किस दृष्टिसे देखता था, यह उनके इस वाक्यसे मालूम होता है—"हमारे पैगंबर मुहम्मद एक ऐसी असभ्य रेगिस्तानी जातिके पास भेजे गये थे, जिनको न इस लोकके सौन्दर्यका ज्ञान था और न परलोकके आध्यात्मिक स्वरूपका पता। ऐसे लोगोंके लिए दिये गये क़ुरानकी मोटी भाषाका अर्थ अधिक सभ्य

लोगोंको आध्यात्मिक अर्थमें लेना चाहिए।" इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि पवित्र-संघ ज़र्तुश्ती, ईसाई आदि धर्मोंको ज़्यादा श्रद्धाकी दृष्टिसे देखता था। ईश्वरके क्रोध, नर्काग्निकी यातना, आदि बातें मूढ़ विश्वास हैं। उनके मतसे मूढ़ पापी जीव इसी जीवनमें नर्कमें गिरे हुए हैं। क़यामत (=प्रलय)को वह नये अर्थोंमें और दो तरहकी मानते हैं।—शरीरसे जीवका अलग होना छोटी क़यामत है; दूसरी महाक़यामत है, जिसमें कि सब आत्मायें ब्रह्म (अद्वैत तत्त्व)में लीन हो जाती हैं।

(छ) पवित्र-संघकी धर्म-चर्या—त्याग, तपस्या, आत्म-संयम-के ऊपर पवित्र-संघका सबसे ज़्यादा जोर था। बिना किसी दबावके स्वेच्छापूर्वक तथा बुद्धिसे ठीक समझकर जो कर्म किया जाता है, वही प्रशंसनीय कर्म है। दिव्य विश्व-नियमका अनुसरण करना सबसे बड़ा धर्माचरण है। इन सबसे ऊपर प्रेमका स्थान है—प्रेम जीवका परमात्मा-से मिलनेके लिए बेकरारी है। इसी प्रेमका एक भाग वह प्रेम है, जो कि इस जीवनमें प्राणिमात्रके प्रति क्षमा, सहानुभूति और स्नेह द्वारा प्रकाशित किया जाता है। प्रेम इस लोकमें मानसिक सान्त्वना, हृदयकी स्वतन्त्रता देता तथा प्राणिमात्रके साथ शान्ति स्थापित करता है, और पर-लोकमें उस नित्य ज्योतिका समागम कराता है।

यद्यपि पवित्र-संघ आत्मिक जीवनपर ही ज़्यादा ज़ोर देता है, और शरीरकी ओर उतना ख्याल नहीं करता; तो भी वह कायाकी बिलकुल अवहेलना करनेकी सलाह नहीं देता।—"शरीरकी ठीकसे देखभाल करनी चाहिए, . . जिसमें जीवको अपनेको पूर्णतया विकसित करनेके लिए काफी समय मिले।"

आदर्श मनुष्यको होना चाहिए—"पूर्वी ईरानियों जैसा सुजात, अरबों जैसा श्रद्धालु, इराकियों (=मेसोपोतामियनों) जैसा शिक्षाप्राप्त, यहूदियों जैसा गंभीर, ईसाके शिष्यों जैसा सदाचारी, सुरियानी साधु जैसा पवित्र भाववाला, यूनानियों जैसा अलग-अलग विज्ञानों (साइंसों) में निपुण, हिन्दुओं जैसा रहस्योंकी व्याख्या करनेवाला, और सूफी . . . . जैसा सन्त।"

पवित्र-संघके बहुतसे सिद्धान्त बातिनी, इस्माइली, दरूश आदि इस्लामी सम्प्रदायोंमें भी मिलते हैं, जिससे मालूम होता है, वह एक दूसरेसे तथा सम्मिलित विचारधारासे प्रभावित हुए थे।

§ ३–सूफ़ी संप्रदाय

अरबसे निकला इस्लाम भक्ति-प्रधान धर्म था, ईसाई और यहूदीधर्म भी भक्ति-प्रधान थे। यूनानी दर्शन तर्क-प्रधान था, केवल भक्ति-प्रधान धर्म बुद्धिको सन्तुष्ट नहीं कर सकता, केवल तर्क-प्रधान दर्शन श्रद्धालु भक्तको सन्तुष्ट नहीं कर सकता। समाजको स्थिरता प्रदान करनेके लिए श्रद्धालुओंकी ज़रूरत है, श्रद्धालुओंकी श्रद्धाको डिगाकर बिना नकेलके ऊँटकी भाँति स्वच्छन्द भागने वाली बुद्धिको फँसाना ज़रूरी है—इन्हीं ख्यालोंको लेकर यूनानियोंने पीछे भारतीय रहस्यवादसे मिश्रित नव-अफलातूनी दर्शनकी बुनियाद रखी थी। जब इस्लामके ऊपर भी वही संकट आया, तो उन्होंने भी उसी तैयार हथियारको इस्तेमाल किया। ईसाई साधक तथा हिन्दू-बौद्ध योगी उस वक्त भी मौजूद थे; इस्लामिक विचारक यह भी देख रहे थे कि ये योगी-साधक कितनी सफलताके साथ भक्तों और दार्शनिकों दोनोंके श्रद्धाभाजन हैं; इसीलिए इस्लामने भी सूफ़ीवाद (=तसव्वुफ़्)के नामसे गृहस्थ या त्यागी फ़क़ीरोंकी एक जमात तैयार की।

१. **सूफ़ी शब्द**—सोफ़ी (=सोफिस्त) शब्द यूनानी भाषाका है। यूनानी दर्शनके प्रकरणमें इन परिब्राजक दार्शनिकोंके बारेमें हम कह चुके हैं। आठवीं सदीमें जब यूनानी दर्शनका तर्जुमा अरबी भाषामें होने लगा, तो उसी समय सोफ़ या सोफ़ी शब्द भी दर्शनके अर्थमें अरबीमें आया, पीछे वर्णमालाके दोषसे सोफ़ी सूफ़ी हो गया।

सबसे पहिले सूफ़ीकी उपाधि अबू-हाशिम सूफ़ीको मिली, जिनका कि देहान्त ७७० ई०के आसपास (१५० हिज्री)में हुआ था। पैगंबरके जीवनकालमें विशेष धर्मात्मा पुरुषोंको 'सहाबा' (साथी) कहा जाता था।

पैगंबरके समसामयिक इन पुरुषोंको पीछे भी इसी नामसे याद किया जाता था। पीछे पैदा होनेवाले महात्माओंको पहिले ताबईन (=अनुचर) और फिर तबअ्-ताबईन (=अनु-अनुचर) कहा जाने लगा। इसके बाद ज़ाहिद (=शुद्धाचारी) और आ़बिद (=भक्त) और उससे भी पीछे सूफ़ीका शब्द आया। मुसलमान लेखकोंने सूफ़ी शब्दको निम्न अर्थोंमें प्रयुक्त किया है—

"सूफ़ी वह लोग हैं, जिन्होंने सब कुछ छोड़ ईश्वरको अपनाया है"—(ज़ुन्नून मिश्री)

"जिनका जीवन-मरण सिर्फ ईश्वरपर है"—(जनीद बगदादी)

"सम्पूर्ण शुभाचरणोंसे पूर्ण, सम्पूर्ण दुराचरणोंसे मुक्त"—(अबूबक्र हरीरी)

"जिस व्यक्तिको न दूसरा कोई पसन्द करे, न वह किसीको पसन्द करे"—(मंसूर हुल्लाज)

"जो अपने आपको बिलकुल ईश्वरके हाथमें सौंप दे"—(रोयम्)

"पवित्र जीवन, त्याग और शुभगुण जहाँ इकट्ठा हों"—(शहाबुद्दीन सुहरावर्दी)

ग़जाली (१०५९-११११ई०)ने सूफ़ी शब्दकी व्याख्या करते हुए कहा है, कि सूफी पन्थ (=तसव्वुफ़) ज्ञान और आचरण (=कर्म)के मिश्रणका नाम है। शरीअ़त (=कुरानोक्त)के भक्तिमार्ग और सूफ़ी-मार्गमें यही अन्तर है, कि शरीअ़तमें ज्ञानके बाद आचरण (=कर्म) आता है, सूफ़ी मार्गके अनुसार आचरणके बाद ज्ञान।

२. सूफ़ी पन्थके नेता—इस्लामिक सूफ़ीवाद नव-अफलातूनी रहस्यवादी दर्शन तथा भारतीय योगका समिश्रण है, यह हम बतला चुके हैं; इस तरहका पंथ शाम, ईरान, मिश्र सभी देशोंमें मौजूद था, ऐसी हालतमें इस्लामके भीतर उसका चुपकेसे चला जाना मुश्किल नहीं है। कितने ही लोग पैगंबरके दामाद अलीको सूफी ज्ञानका प्रथम प्रवर्त्तक बतलाते हैं, किन्तु म्वावियाके झगड़ेके समय हम देख चुके हैं कि अली इस्लाममें

अरबियतके कितने जबर्दस्त पक्षपाती थे; ऐसी हालतमें एक सामाजिक प्रतिक्रियावादी व्यक्तिका विचार-स्वातन्त्र्यके क्षेत्रमें इतना प्रगतिशील होना संभव नहीं मालूम होता। मालूम देता है, ईरानियोंने जिस तरह विजयी अरबोंको दबाकर अपनी जातीय स्वतंत्र भावनाओंकी पूर्तिके वास्ते अरबोंके भीतरी झगड़ेसे फायदा उठानेके लिए अली-सन्तान तथा शीआ-सम्प्रदायके साथ सहानुभूति दिखलानी शुरू की, उसी तरह इस्लामकी अरबी शरीअतसे आजाद होनेके लिए सूफ़ी मार्गको आगे बढ़ाते हुए उसे हजरत अलीके साथ जोड़ दिया।

सूफ़ी मत पहिले मुल्लाओंके भयसे गुपचुप अव्यवस्थित रीतिसे चला आता था, किन्तु इमाम ग़ज़ाली (१०५९-११११ ई०) जैसे प्रभावशाली विद्वान मुल्लाने जब खुल्लमखुल्ला उसकी हिमायतमें कलम ही नहीं उठाई, बल्कि उसकी शिक्षाओंको सुव्यवस्थित तौरसे लेखबद्ध कर दिया, तो वह धरातल पर आ गया।

३. सूफी सिद्धान्त—पवित्र-संघ सूफ़ियोंका प्रशंसक था, इसका जिक्र आ चुका है। सूफ़ी दर्शनमें जीव ब्रह्मका ही अंश है, और जीवका ब्रह्ममें लीन होना यही उसका सर्वोच्च ध्येय है। जीव ही नहीं जगत् भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। शंकरके ब्रह्म-अद्वैतवाद और सूफ़ियोंके अद्वैतवादमें कोई अन्तर नहीं। यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है जो कि भारतमें मुसलमान सूफ़ियोंने इतनी सफलता प्राप्त की, और सफलता भी पूर्णतया शान्तिमय तरीकेसे। जीवको हक़ (=सत्, ब्रह्म)से मिलनेका एक ही रास्ता है, वह है प्रेम (=इश्क़)का। यद्यपि यह प्रेम शुद्ध आध्यात्मिक प्रेम था, किन्तु कितनी ही बार इसने लौकिक क्षेत्रमें भी पदार्पण किया है। काव्य-क्षेत्रमें—ईरानमें ही नहीं भारतमें भी—तो इस प्रेमने बड़े-बड़े कवि पैदा किये। शम्स, तब्रेज़, उमर-खय्याम, मौलाना रूमी, जायसी, कबीर जैसे कवि इसीकी देन हैं।

४. सूफ़ी योग—भारतीय योगकी भाँति—और कुछ तो उसीसे ली हुई—सूफ़ी योगकी बहुतसी सीढ़ियाँ हैं, जैसे—

(१) **विराग**—इष्ट-मित्र, कुटुम-कबीले, धन-दौलतसे अलग होना, सूफ़ी योगकी पहिली सीढ़ी है।

(२) **एकान्त-चिन्तन**—जहाँ मनको खींचनेवाली चीजें न हों, ऐसे एकान्त स्थानमें निवास करते ईश्वरका ध्यान करना।

(३) **जप**—ध्यान करते वक्त जीभसे भगवान्‌का नाम "अल्लाहू" "अल्लाहू" इस तरहसे जपना, कि जीभ न हिले, साथही ध्यानमें मालूम हो कि नाम जीभसे निकल रहा है।

(४) **मनोजप**—ध्यानमें दिलसे जप होता मालूम हो।

(५) **ईश्वरसें तन्मयता**—मनोजप बढ़ते हुए इतनी चित्त-एकाग्रता तक पहुँच जाये, कि वहाँ वर्ण और उच्चारणका कोई ख़्याल न रहे, और भगवान् (=अल्लाह)का ध्यान दिलमें इस तरह समा जाये, कि वह किसी वक्त अपनेसे अलग न जान पड़े।

(६) **योगि-प्रत्यक्ष (=मुकाशफ़ा)**—जिस वक्त ऐसी तन्मयता हो जाती है, तब मुकाशफ़ा (=योगिप्रत्यक्ष) होता है। मुकाशफ़ा होनेपर वह सभी आध्यात्मिक सच्चाइयाँ साफ-साफ दिखलाई देने लगती हैं, जिनको कि आदमी अभी केवल श्रद्धावश या गतानुगतिक तरीकेसे मानता आता रहा है।—पैगंबरी, आकाशवाणी (=भगवद्वाणी), फरिश्ते, शैतान, स्वर्ग, नर्क, कब्रकी यातना, सिरातका पुल, पाप-पुण्यकी तौल और न्यायका दिन आदि सारी बातें जो श्रद्धावश मानी जाती थीं, अब वह आँखोंके सामने फिरतीसी दिखलाई पड़ती हैं।

इमाम ग़ज़ाली[1]ने मुकाशफ़ाकी अवस्थाको एक दृष्टान्तसे बतलाया है—

"एक बार रूम और चीनके चित्रकारोंमें होड़ लगी। दोनोंका दावा था, 'हम बड़े', 'हम बड़े'। तत्कालीन बादशाहने दोनों गिरोहके लिए आमने-सामने दो-दो दीवारें, हर एकको अपनी शिल्प-चातुरी दिखलानेके लिए,

---

[1] **"अह्याउल्-उलूम्"**।

निश्चित कर बीचमें पर्दा डलवा दिया, जिसमें कि वह एक दूसरेकी नक़ल न कर सके। कुछ दिनों बाद रूमी चित्रकारोंने बादशाहसे निवेदन किया कि हमारा काम खतम हो गया। चीनियोंने कहा कि हमारा काम भी खतम हो गया। पर्दा उठाया गया, दोनों (दीवारोंके चित्रों)में बाल बराबर भी फर्क न था। मालूम हुआ कि रूमियोंने चित्र न बनाकर सिर्फ दीवारको पालिश कर दर्पण बना दिया था, और जैसे ही पर्दा उठा, सामनेकी दीवारके तमाम चित्र उसमें उतर आये।"

मुकाशफ़ा (=योगिदर्शन)की पूर्व सूचना पहिले जल्दीसे निकल जाने वाली बिजलीकी चमकसे होती है, यह चमक धीरे-धीरे ठहरती हुई स्थिर हो जाती है।[1]

---

[1] अह्याउल्-उलूम्; और तुलना करो--

"नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकाशनीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तकराणि योगे।"
--श्वेताश्वतर-उपनिषद् २।११

षष्ठ अध्याय

पूर्वी इस्लामी दार्शनिक (२)

क. रहस्यवाद-वस्तुवाद

चीनके एक राजाने बुद्धको स्वप्नमें देखा था, फिर उसने बुद्धके धर्म और बौद्ध पुस्तकोंकी खोज तथा अनुवादका काम शुरू कराया। खलीफा मामून ८११-६३ ई० के बारेमें भी कहा जाता है, कि उसने स्वप्न-में एक दिन अरस्तूको देखा, स्वप्न हीमें अरस्तूने अपने दर्शनके सम्बन्ध-में कुछ बातें बतलाईं, जिससे मामून इतना प्रभावित हुआ कि दूसरे ही दिन उसने क्षुद्र-एसियामें कई आदमी इसलिए भेजे कि अरस्तूकी पुस्तकोंको ढूँढ़कर बगदाद लाया जाये और वहाँ उनका अरबीमें अनुवाद किया जाये। मामूनके दर्बारमें अरस्तूकी तारीफ अकसर होती रही होगी, और उससे प्रभावित हो मामून जैसा विद्वान तथा विद्याप्रेमी पुरुष अरस्तूको स्वप्नमें देखे तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं। यूनानी दर्शन ग्रन्थोंका अरबी भाषामें किस तरह अनुवाद हुआ इसके बारेमें हम पहिले बतला चुके हैं। उस अनुवाद और दर्शन-चर्चासे कैसे इस्लाममें दार्शनिक पैदा हुए, और उन्होंने क्या विचार प्रकट किये, अब इसके बारेमें कहना है। बगदाद दर्शन-अनुवाद तथा दर्शन-चर्चा दोनोंका केन्द्र था, इसलिए पहिले इस्लामी दार्शनिकोंका पूर्वमें ही पैदा होना स्वाभाविक था। इन दार्श-निकोंमें सबसे पहिला किन्दी था, इसलिए उसीसे हम अपने वर्णनको आरम्भ करते हैं।

§ १. अबू-याकूब किन्दी (८७० ई०)

१. जीवनी—अबू-याकूब इब्न-इस्हाक अल्-किन्दी—(किन्दी वंशज इस्हाक़ पुत्र अबुल्-याकूब), किन्दा नामक अरबी कबीलेसे संबंध रखता था। किन्दा कबीला दक्षिणी अरबमें था, किन्तु जिस परिवारमें दार्शनिक किन्दी पैदा हुआ था, वह कई पुश्तोंसे इराक (मेसोपोतामिया)-में आ बसा था। अबू-याकूब किन्दीके जन्मके समय उसका बाप इस्हाक किन्दी कूफ़ाका गवर्नर था। किन्दीका जन्म-सन् निश्चित तौरसे मालूम नहीं है, संभवतः वह नवीं सदीका आरम्भ था। हाँ, उसकी ज्योतिषकी एक पुस्तकसे पता लगता है कि ८७० ई०में वह मौजूद था। उस समय फलित ज्योतिषके कुछ ऐसे योग घट रहे थे, जिससे फायदा उठाकर कर-मती दल अब्बासी-वंशके शासनको खतम करना चाहता था। किन्दीकी शिक्षा पहिले बस्रा और फिर उस समयके विद्या तथा संस्कृतिके केन्द्र बगदादमें हुई थी। प्रथम श्रेणीके इस्लामिक दार्शनिकोंमें किन्दी ही है, जिसे "अरब" वंशज कह सकते हैं, किन्तु बापकी तरफसे ही निश्चय पूर्वक यह कहा जा सकता है। बगदाद उस समय नामके लिए यद्यपि अरबी खलीफाकी राजधानी था, नहीं तो वस्तुतः वह ईरानी सभ्यता तथा यूनानी विचारोंका केन्द्र था। बगदादमें रहते वक्त किन्दीने समझा कि पुरानी अरबी सादगी तथा इस्लामिक धर्मविश्वास इन दोनों प्राचीन जातियोंकी सभ्यता तथा विद्याके सामने कोई गिनती नहीं रखती। यूनानी मस्तिष्कसे वह इतना प्रभावित हुआ था कि उसने यहाँ तक कह डाला—दक्षिणी अरबके कबीलों (जिनमें किन्दी भी सम्मिलित था)का पूर्वज कहतान यूनान (यूनानियों के प्रथम पुरुष)का भाई था। बगदादमें अरब, सुरियानी, यहूदी, ईरानी, यूनानी खूनका इतना सम्मिश्रण हुआ था, कि वहाँ जातियोंके नामपर असहिष्णुता देखी नहीं जाती थी।

किन्दी अब्बासी दर्बारमें कितने समय तक रहा, इसका पता नहीं। यूनानी ग्रन्थोंके अनुवादकोंमें उसका नाम आता है। उसने स्वयं ही अनु-

वाद नहीं किये, बल्कि दूसरोंके अनुवादोंका संशोधन और सम्पादन भी किया था। वह ज्योतिषी और वैद्य भी था, इसलिए यह भी संभव है, कि वह दर्बार में इस संबंधसे भी रहा हो। कुछ भी हो, यह तो साफ मालूम है, कि पीछे वह अब्बासी दर्बारका कृपापात्र नहीं रहा। खलीफा मुतवक्किल (८४७-६१ ई०)ने अपने पूर्वके खलीफोंकी धार्मिक उदारताको छोड़ "सनातनी" मुसलमानोंका पक्ष समर्थन किया, जिससे विचार-स्वातंत्र्यपर प्रहार होना शुरू हुआ। किन्दी भी उसका शिकार हुए बिना नहीं रह सका और बहुत समय तक उसका पुस्तकालय ज़ब्त रहा।

किन्दीकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी, अपने समयकी संस्कृति तथा विद्याओंका वह गंभीर विद्यार्थी था।—भूगोल, इतिहास, ज्योतिष, गणित वैद्यक, दर्शन—सब पर उसका अधिकार था। उसके ग्रंथ ज़्यादातर गणित, फलित ज्योतिष, भूगोल, वैद्यक और दर्शनपर हैं। यह आश्चर्यकी बात है, कि एक ओर तो किन्दी कीमियाको गलत कहकर उसके विश्वासियोंको निर्बुद्धि कहता, दूसरी ओर ग्रहोंके हाथ मनुष्यके भागको दे देना उसके लिए साइंस था।

२. धार्मिक विचार—किन्दीके समय फिर धर्मान्धताका जोर बढ़ चला था, और अपने विचारोंको खुल्लमखुल्ला प्रकट करना खतरेसे खाली न था; इसलिए जिन धार्मिक विचारोंका किन्दीने समर्थन किया है, उनमें वस्तुतः उसके अपने कितने हैं, इसके बारेमें सावधानीसे राय कायम करने-की जरूरत है। वैसे जान पड़ता है, वह मोतज़लाके कितने ही धार्मिक विचारोंसे सहमत था। नेकी और ईश्वर-अद्वैतपर उसका खास जोर था। उस समय इस्लामिक विचारकोंमें यह बात भारतीय सिद्धान्तके तौरपर प्रख्यात थी, कि बुद्धि (प्रत्यक्ष, अनुमान) ज्ञानके लिए काफी प्रमाण है, आप्त या शब्दप्रमाणकी उतनी आवश्यकता नहीं। किन्दीने मज़हबियोंका पक्ष लेकर कहा कि पैगंबरी (=आप्त वाक्य) भी प्रमाण है; और फिर बुद्धिवाद तथा शब्दवादके समन्वयकी कोशिश की। भिन्न-भिन्न धर्मोंमेंसे एक बात जो कि सबमें उसने पाई, वह था नित्य, अद्वैत "मूल कारण"का

विचार। इस मूल कारणको सिद्ध करनेमें हमारा बुद्धिजनित ज्ञान पूरी तरह समर्थ नहीं है। जिसमें मनुष्य "मूल कारण" अद्वैत ईश्वरको ठीक समझ सकें, इसीलिए पैगंबर भेजे जाते हैं।

३. दार्शनिक विचार—किन्दीके समय नव-पिथागोरीय प्राकृतिक दर्शन (प्रकृति ब्रह्मका शरीर है, इस तरह प्रकृतिकार्य ब्रह्मका ही कार्य है) के विचार मौजूद थे। अपने ग्रंथोंमें उसने अरस्तूके बारेमें बहुत लिखा है। इस प्रकार किन्दीके दार्शनिक विचारोंके निर्माणमें उपरोक्त विचारधाराओं-का खास हाथ रहा है।

(१) बुद्धिवाद—किन्दी बुद्धिवादका समर्थन करता ज़रूर है, किन्तु आप्तवाद (=पैगंबरवाद)के लिए गुंजाइश रखते हुए।

(२) तत्त्व-विचार—(क) ईश्वर—जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, किन्दी जगत्को ईश्वरकी कृति मानता है। किन्दी कार्य-कारण नियम या हेतुवादका समर्थक है। कार्य-कारणका नियम सारे विश्वमें व्याप्त है, यह कहते हुए साथही वह लगे हाथों कह चलता है—इसीलिए हम तारोंकी भविष्य स्थिति तथा उससे होनेवाले (फलित-ज्योतिष प्रोक्त-) भले बुरे फलोंकी भविष्यद्वाणी कर सकते हैं। ईश्वर मूलकारण है सही, किन्तु जगत्के आगेके कार्योंके साथ वह सीधा संबंध न रखकर मध्यवर्त्ती कारणों द्वारा काम करता है। ऊपरका कारण अपने नीचेवाले कार्यको करता है, यह कार्य कारण बन आगेके कार्यको करता है; किन्तु कार्य अपनेसे ऊपरवाले कारणपर कोई प्रभाव नहीं रखता; उदाहरणार्थ—मिट्टी अपने कार्य पिंड (लोंदा)को करती (बनाती) है, पिंड घड़ेको करता है, किन्तु घड़ा कुछ नहीं कर सकता पिंड मिट्टीका कुछ नहीं कर सकता।

(ख) जगत्—ईश्वरकी कृति जगत्के दो भेद हैं, प्रकृति जगत्, और शरीर जगत्। शरीर या कायासे ऊपरका सारा जगत् प्रकृति जगत् है।

(ग) जगत्-जीवन—ईश्वर (मूलकारण) और जगत्के बीच जगत्-चेतन या जग-जीवन है। इसी जग-जीवन (=नफ़्स-आलम)से पहिले फरिश्ते या देव, फिर मानवजीव उत्पन्न होते हैं।

(घ) **मानव-जीव और उसका ध्येय**—जग-जीवनसे निकला मानव-जीव अपनी आदत और कामके लिए शरीर (=काया)से बँधा हुआ है, किंतु अपने निजी स्वरूपमें वह शरीरसे बिलकुल स्वतंत्र है; और इसीलिए जहाँ तक जीवके स्वरूपका संबंध है, उसपर ग्रहोंका प्रभाव नहीं पड़ता। जीव प्रकृत, अ-नश्वर पदार्थ है। वह विज्ञान (=आत्म)-लोकसे इंद्रिय-लोकमें उतरा है, तो भी उसमें अपनी पूर्वस्थितिके संस्कार मौजूद रहते हैं। इस लोकमें उसे चैन नहीं मिलता, क्योंकि उसकी बहुतसी आकांक्षाएं अपूर्ण रहती हैं, जिसके लिए उसे मानसिक अशान्ति सहनी पड़ती है। इस चलाचलीकी दुनियामें कोई चीज स्थिर नहीं है, इसलिए नहीं मालूम किस वक्त हमें उनका वियोग सहना पड़े, जिन्हें कि हम प्रिय समझते हैं। विज्ञानलोक (ईश्वर) ही ऐसा है, जिसमें स्थिरता है। इसलिए यदि हम अपनी आकांक्षाओंकी पूर्ति और प्रियोंसे अ-विछोह चाहते हैं, तो हमें विज्ञानकी सनातन कृपा, ईश्वरके भय, प्रकृति-विज्ञान और सुकर्मकी ओर मन और शरीरको लाना होगा।

(३) **नफ़्स (=विज्ञान)**—नफ़्स यूनानी शब्द है जिसका अर्थ विज्ञान या आत्मा, (=नित्य-विज्ञान) है। वह यूनानी दर्शनमें एक विचारणीय विषय है। नफ़्स (=अक्ल, विज्ञान)के सिद्धान्तपर किन्दीने जो पहिले-पहिल बहस छेड़ी, तो सारे इस्लामी दार्शनिक साहित्यमें उसकी चर्चाका रास्ता खुल गया। किन्दीने नफ़्स के चार भेद किये हैं—

(क) **प्रथम विज्ञान (=ईश्वर)**—जगत्में जो कुछ सनातन सत्य, आध्यात्मिक (=अ-भौतिक) है, उसका कारण और सार, परम-आत्मा ईश्वर है।

(ख) **जीवकी अन्तर्हित (क्षमता)**—दूसरी नफ़्स (=बुद्धि) है, मानव-जीवकी समझनेकी योग्यता या जीवकी वह क्षमता जहाँ तक कि जीव विकसित हो सकता है।

(ग) **जीवकी कार्य-क्षमता (=आदत)**—मानव-जीवके वह गुण या आदत जिसे कि इच्छा होनेपर वह किसी वक्त इस्तेमाल कर सकता है,

जैसे कि एक लेखककी लिखनेकी क्षमता, चित्रकारकी चित्रण-क्षमता।

(घ) **जीवकी क्रिया**—जिस बातसे जीवके भीतर छिपी अपनी वास्तविकता बाहरी जगतमें प्रकट होती है,—निराकार क्षमता, जिसके द्वारा साकार रूप धारण करती; इसमें कायिक, वाचिक, मानसिक तीनों तरहकी क्रियाएँ शामिल हैं।

(४) **ज्ञानका उद्गम**—(क) **ईश्वर**—किन्दी चौथी नफ़्स (विज्ञान)-को जीवका अपना काम मानता है, किन्तु दूसरी नफ़्स (=जीवकी अन्तर्हित क्षमता) को ही प्रथम नफ़्स (=ईश्वर) की देन नहीं मानता, बल्कि उस अन्तर्हित क्षमताको जीवकी कार्य-क्षमता (तीसरी नफ़्स) के रूपमें परिणत करना भी वह प्रथम नफ़्सका ही काम मानता है; इस तरह तीसरी नफ़्स—कार्य-क्षमता—भी जीवकी अपनी नहीं बल्कि ऊपरसे भेजी हुई चीज़ है। —इसका अर्थ यह हुआ कि हमारे ज्ञानका उद्गम (=स्रोत) जीव नहीं बल्कि प्रथम विज्ञान (ईश्वर) है। इस्लामिक दर्शनमें "ईश्वर समस्त ज्ञान-का स्रोत है" इस विचारकी "प्रतिध्वनि" सर्वत्र दिखाई पड़ती है। पुराना इस्लाम कर्ममें भी जीवको सर्वथा परतंत्र मानता था, ज्ञानके बारेमें तो कहना ही क्या। किन्दीने जीवकी कर्म-परतंत्रतासे उठनेवाली दार्शनिक कठिनाइयोंको समझ, उसे तो—ईश्वर सीधे अपने कार्योंके काममें दखल नहीं देता,—के सिद्धान्तसे दूर कर दिया; किन्तु साथ ही ज्ञान—जो कि दार्शनिकोंके लिए कर्मसे भी ज़्यादा महत्त्व रखता है—का स्रोत ईश्वरको बनाकर इस्लामके ईश्वर-पारतंत्र्य सिद्धान्तकी पूरी तौरसे पुष्टि की।

किन्दीका नफ़्स (विज्ञान) का सिद्धान्त अरस्तूके टीकाकार सिकन्दर अफ़्रादीसियस्से लिया गया मालूम होता है; किन्तु सिकन्दरने अपनी पुस्तक "जीवके संबंधमें" साफ कहा है, कि अरस्तूके मतमें नफ़्स (=विज्ञान) तीन प्रकारका होता है। किन्दी अपने चार "प्रकार" को अफलातून और अरस्तूके मतपर आधारित मानता है। वस्तुतः यह नव-पिथागोरीय नव-अफलातूनी रहस्यवादी दर्शनोंपर अवलंबित किन्दीका अपना मत है।

(ख) **इन्द्रिय और मन**—नफ़्सके सिद्धान्त द्वारा ज्ञानके स्रोतको

यद्यपि किन्दी जीवसे बाहर मानता है, तो भी जब वह रहस्यवादसे नीचे उतरता है, तो वस्तु-स्थितिकी भी कद्र करना चाहता है, और कहता है—हमारा ज्ञान या तो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है, या चिन्तन (=मनकी क्रिया कल्पना) शक्ति द्वारा। वह स्वीकार करता है, कि इन्द्रियाँ केवल व्यक्ति या भौतिक स्वरूप (=स्वलक्षण)को ही ग्रहण करती हैं, सामान्य या अ-भौतिक आकृति उनका विषय नहीं है। यही है दिग्नाग-धर्मकीर्तिका प्रत्यक्ष ज्ञान—"प्रत्यक्षं कल्पनापोढं" (इन्द्रियसे प्राप्त कल्पना-रहित)। दिग्नाग-धर्मकीर्तिने सामान्य आदिको कल्पनामूलक कहकर उन्हें वस्तु-सत् माननेसे इन्कार कर दिया, यद्यपि उन्हें व्यवहारसत् माननेमें उज्र नहीं है, किन्तु ज्ञानको जीवके पास आई पराई थाती रखनेवाला किन्दी कल्पना (=चिन्तन)-शक्तिसे प्राप्त ज्ञानको वस्तु-सत् मानता है।

(ग) **विज्ञानवाद**—जो कुछ भी हो, अन्तमें दोनों ही ओरके भूले एक जगह मिल जाते हैं, और वह जगह वस्तु-जगत्से दूर है।—वह है विज्ञानवादकी भूल-भुलैयाँ। किन्दीने और मजबूरियोंके कारण या अनजाने **योगाचारके** विज्ञानवादको खुल्लमखुल्ला स्वीकार करना न चाहा हो, किन्तु है वह वस्तुतः विज्ञानवादी। उसका विज्ञानवाद क्षणिक है या नित्य—इस बहसमें वह नहीं गया है, किन्तु प्रथम विज्ञान (=आलय विज्ञान)-के चार भेद जो उसने किये हैं, और एकका दूसरेमें परिवर्तन बतलाया है, उससे साफ है कि वह विज्ञानको नित्य कूटस्थ नहीं मानता। बौद्ध विज्ञानवादियों (योगाचार दर्शन)की भाँति किन्दीके नफ़्सवादको भी आलय-विज्ञान (=विज्ञान-स्रोत, विज्ञान-समुद्र) और प्रवृत्ति-विज्ञान (=क्रिया परायण) विज्ञानसे समझना होगा। हाँ, तो दोनों ही ओरके भूले, "सब कुछ विज्ञान है विज्ञानके अतिरिक्त कोई सत्ता नहीं" इस विज्ञानवादमें मिलते हैं, और किन्दी धर्मकीर्त्तिसे हाथ मिलाता हुआ कहता है—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान और ज्ञेय (विषय) एक ही हैं, और इसी तरह मन (=कल्पना) द्वारा ज्ञात पदार्थ ("धर्म") भी प्रथम विज्ञान (आलय-विज्ञान) है। दोनोंमें इतना अन्तर ज़रूर है, कि जहाँ अपने सहधर्मियों (=मुसलमानों)के

डरके मारे दबी जाती किन्दीकी आत्माको एक सहृदय व्यक्तिके साथ एकान्त सम्मिलनमें उक्त भाव प्रकट करनेमें उल्लास हो रहा था; वहाँ सहधर्मियों (=बौद्धों)के डरके मारे दबकर अपने निज मत वस्तुवादके स्थानपर विज्ञानवादकी प्रधानताको दबी जबानसे स्वीकार करनेवाले धर्मकीर्त्तिके मनमें भारी ग्लानि हो रही थी।—और आश्चर्य नहीं, यदि किन्दीके "आलय विज्ञान" और प्रथम नफ़्स"की एकताकी बात करनेपर धर्मकीर्तिने कह दिया हो—"मैंने तो यार! जान-बूझकर असंगके 'आलय विज्ञान'का बायकाट किया है, क्योंकि वह खिड़कीके रास्ते स्थिरवाद (=अक्षणिकवाद) और ईश्वरवादको भीतर लानेवाला है।"

किन्दीका दर्शन नव-अफलातूनी पुटके साथ अरस्तूका दर्शन है।

§ २–फ़ाराबी (८७०?-९५० ई०)

१–जीवनी

क़िन्दीके बाद इस्लाममें दर्शनके विकासकी दूसरी सीढ़ी है अबू-नस्र इब्न-मुहम्मद इब्न-तर्खन इब्न-उज़लग, अल्-फ़ाराबी (फ़ाराबका रहनेवाला उज़लगके पुत्र तर्खनके पुत्र मुहम्मदका पुत्र अबू-नस्र)। अबू-नस्रका जन्म वक्षु (आमू) नदी तटवर्त्ती फ़राब जिलेके वसिज नामक स्थानमें हुआ था। वसिजमें एक छोटासा किला था, जिसका सेनापति अबू-नस्रका बाप मुहम्मद था। पूरे नामके देखनेसे पता लगता है, कि अबू-नस्रके बापका ही नाम मुसलमानी है, नहीं तो उसके दादा तर्खन और परदादा उज्लगके नाम गैर-मुसलमानी—शुद्ध तुर्की—हैं, जिसका अर्थ है वह मुसलमान नहीं थे, और अबू-नस्र सिर्फ दो पुश्तका मुसलमान तुर्क था। फाराबीके पिताको ईरानी सेनापति कहा गया है, जिसका अर्थ यही हो सकता है, कि वह सफ़्फ़ारी (८७१-९०३ ई०) या किसी दूसरे ईरानी शासकवंशका नौकर था। फाराबीके वंशवृक्षसे यह भी पता लगता है, कि यद्यपि मध्य-एसियामें इस्लामी शासन स्थापित हुए डेढ़सौ सालसे ऊपर बीत चुके थे,

किन्तु अभी वहाँके सारे लोग—कमसे कम तुर्क—मुसलमान नहीं हुए थे। फाराबीकी दार्शनिक प्रतिभा और बुद्धिस्वातंत्र्यपर विचार करते हुए हमें ढाई सौ साल पहिले उधरसे गुज़रे ह्वेन-चाङ्के वर्णनका भी ख्याल रखना होगा, जिसमें इस प्रदेशमें सैकड़ों बड़े-बड़े बौद्ध शिक्षणालयों (संघारामों) और हजारों शिक्षित भिक्षुओंका जिक्र आता है। दो पीढ़ीके नव-मुस्लिमके होनेका मतलब है, फाराबीकी जन्मभूमिमें अभी बौद्ध (दार्शनिक) परंपरा कुछ न कुछ बची हुई थी। वक्षु-तटवर्त्ती ये तुर्क विद्या और संस्कृतिमें समुन्नत थे, इसमें तो सन्देह ही नहीं।

फाराबीकी प्रारंभिक शिक्षा अपने पिताके घरपर ही हुई होगी, उसके बाद वह बुखारा या समरकन्द जैसे अपने देशके उस समय भी ख्यातनामा विद्याकेन्द्रोंमें पढ़ने गया या नहीं, इसका पता नहीं लगता। यह भी नहीं मालूम, कि किस उम्रमें वह इस्लामकी नालन्दा—बगदाद—की ओर विद्याध्ययनके लिए रवाना हुआ। किन्दी तो ज़रूर उस समय तक मर चुका होगा, किन्तु राज़ी जिन्दा था। जन्म-भूमिमें बुद्धि-स्वातंत्र्यकी कुछ हलकी हवा तो उसे लगी ही होगी, बगदादमें आकर उसने योहन्ना इब्न-हैलान-की शिष्यता स्वीकार की। योहन्ना जैसे गैरमुस्लिम (ईसाई) विद्वान्को अध्यापक चुनना भी फाराबीके मानसिक झुकावको बतलाता है। बगदादमें कैसा विचार-स्वातंत्र्यका वातावरण—कमसे कम मुसलमानोंकी सनातनी जमातके बाहर—था, इसका परिचय पहिले मिल चुका है। फाराबीने दर्शनके अतिरिक्त साहित्य, गणित, ज्योतिष, वैद्यककी शिक्षा पाई थी। उसने संगीतपर भी कलम चलाई है। फाराबीको सत्तर भाषाओंका पंडित कहा जाता है। तुर्की तो उसकी मातृभाषा ही थी, फारसी उसकी जन्म-भूमिकी हवामें फैली हुई थी, अरबी इस्लामकी जबान ही थी, इस प्रकार इन तीन भाषाओंपर फाराबीका अधिकार था, इसमें तो सन्देह ही नहीं हो सकता, सुरियानी, इब्रानी, यूनानी भाषाओंको भी वह जानता होगा।

शिक्षा समाप्त करनेके बाद भी फाराबी बहुत समय तक बगदादमें रहा। नवीं सदीका अन्त होते-होते बगदादके खलीफोंकी राजनीतिक शक्तिका

भारी पतन हो चुका था। प्रान्तों, तथा देशोंमें होनेवाली राज्य-क्रान्तियोंका असर कभी-कभी बगदादपर भी पड़ता था। शायद ऐसी ही किसी अशान्तिके समय फाराबीने बगदाद छोड़ हलब (अलेप्पो)में वास स्वीकार किया। हलबका सामन्त सैफ़ुद्दौला बड़ा ही विद्यानुरागी—विशेषकर दर्शन-प्रेमी व्यक्ति था। फाराबीको ऐसे ही आश्रयदाताकी आवश्यकता थी।

फ़ाराबी हालमें ही बौद्धसे मुसलमान हुए देश और परिवारमें पैदा ही नहीं हुआ था, बल्कि बौद्ध भिक्षुओंकी ही भाँति वह शान्ति और एकान्त जीवनको बहुत पसंद करता था। इस्लाममें सूफियोंका ही गिरोह था, जो कि उसकी तबियतसे अनुकूलता रखता था, इसीलिए फाराबी सूफियोंकी पोशाकमें रहा करता था। उसका जीवन भी दूसरे इस्लामिक दार्शनिकोंकी अपेक्षा यूनानी सोफिस्तों या बौद्ध भिक्षुओंके जीवनसे ज्यादा मिलता था।

वह उस समय हलबसे दमिश्क गया हुआ था, जब कि दिसंबर ९५० ई०में वहींपर उसका देहान्त हुआ। हलबके सामन्तने सूफीकी पोशाकमें उसकी कब्रपर फातिहा पढ़ा था। मृत्युके समय फाराबीकी उम्र अस्सी वर्षकी बतलाई जाती है। उसकी मृत्युसे १० साल पहिलेही उसके सहकारी (अनुवादक) अबू-बिश्र मत्ताका देहान्त हो चुका था। उसके शिष्य अबू-ज़करिया यह्या इब्न-आदीने ९७१ ई०में इक्कासी सालकी उम्रमें शरीर छोड़ा।

२-फाराबीकी कृतियाँ

फाराबीकी तरुणाईकी लिखी हुई वह छोटी-छोटी पुस्तकें हैं, जिनमें उसने वादविद्या और शारीरक ब्रह्मवाद (नव-पिथागोरीय) प्राकृतिक दर्शनका ज़िक्र किया है। किन्तु अपने परिपक्व ज्ञानका परिचय उसने अरस्तूके ग्रन्थोंके अध्ययन और व्याख्याओंमें दिया है; जिसके ही लिए उसे "द्वितीय अरस्तू" या "हकीम सानी" (दूसरा आचार्य) कहा गया। अरस्तूके गंभीर दर्शन, और वस्तुवादी ज्ञान (साइंस)का यूरोपके पुनर्जागरण और

उसके द्वारा आधुनिक साइंस-युगके प्रवर्त्तनमें कितना हाथ है, इसे यहाँ कहनेकी ज़रूरत नहीं; और इसमें तो शक नहीं अरस्तूको पुनरुज्जीवित करनेमें फ़ाराबीकी सेवाएं अमूल्य हैं। फाराबीने अरस्तूके ग्रन्थोंकी जो संख्या और क्रम निश्चित किया था, वह आज भी वैसा ही है। इसमें शक नहीं इनमेंसे कुछ—"अरस्तूका धर्मशास्त्र"—अरस्तूके नामपर दूसरोंकी बनाई पुस्तकें भी फाराबीने शामिल करली थीं। फाराबीने अरस्तूके तर्क-शास्त्रके आठ[१], साइंसके आठ[२], अतिभौतिक(अध्यात्म)शास्त्र[३], आचार-शास्त्र[४], राजनीति[५] आदि ग्रन्थोंपर टीका और विवरण लिखे हैं।

फाराबीने वैद्यकका भी अध्ययन किया था, किन्तु उसका सारा ध्यान तर्कशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र और साइंस (भौतिकशास्त्र) पर केन्द्रित था।

३—दार्शनिक विचार

ऊपरकी पंक्तियोंके पढ़नेसे मालूम है, कि फाराबीको दर्शनकी तहमें पहुँचनेका जितना अवसर मिला था, उतना उससे पहिले, तथा उसकी

---

[१] Logic—मंतिक़ :
1. The Categories
2. The Hermeneutics
3. The first Analytics
4. The Second Analytics
5. The Topics
6. The Sophistics
7. The Khetoric
8. Th. Poetics

[२] Physics—तबीआत :
1. Auscultatis Physica
2. De Coelo et mundo
3. De Generatioe et Corruptione
4. The Meterology
5. The Psychology
6. De Sensu et Sensato
7. The Book of Plant
8. The Book of Animals

[३] Metaphysics.
[४] Ethics.
[५] Politics.

सहायताको छोड़देनेपर पीछे भी, किसी इस्लामिक दार्शनिकको नहीं मिला था। वक्षुतट, मेर्व, बगदाद, हलब, दमिश्क, सभी दर्शनकी भूमियाँ थीं, और फाराबीने उनसे पूरा फायदा उठाया था।

(१) अफ़लातूँ-अरस्तू-समन्वय—अफलातूँका दर्शन अ-वस्तुवादी विज्ञानवादी है, और अरस्तू अपने सारे देवी-देवताओं तथा विज्ञान (नफ़्स) के होते भी सबसे ज्यादा वस्तुवादी है। फाराबी इस फर्कको समझ रहा था, और यदि निष्पक्ष साइंस भक्त होता, तो वह लीपापोतीकी कोशिश न करता, किन्तु फाराबीने अपने दिलको नव-अफलातूनी रहस्यवादी दर्शन-को दे रखा था, जब कि उसका सबल मस्तिष्क अरस्तूको छोड़नेके लिए तैयार न था; ऐसी हालतमें दोनोंके समन्वय करनेके सिवा दूसरा कोई चारा न था। यही नहीं इस समन्वय द्वारा वह इस्लामके लिए भी गुंजाइश रख सका, जिससे वह काफिरोंकी गति भोगनेसे भी बच सका। फाराबीके अनुसार अफलातून और अरस्तूका मतभेद बाहरी वर्णनशैलीका है, दोनोंका भाव एक है, दोनों उच्चतम दर्शन-ज्ञानके इमाम (ऋषि) हैं। इसके कहनेकी आवश्यकता नहीं कि फाराबीके हृदयमें जो सम्मान इन दो यूनानी दार्शनिकोंका था, वह किसी दूसरेके लिए नहीं हो सकता था।

(२) तर्क—फ़ाराबीके अनुसार तर्क सिर्फ प्रयोग (=दृष्टान्त)-सिद्ध विश्लेषण या ऊहा मात्र नहीं है। ज्ञानकी प्रामाणिकता तथा व्याकरण-की कितनी ही बातें भी तर्कके अन्तर्गत आती हैं। ज्ञात और सिद्ध वस्तु-से अज्ञात वस्तुका जानना—प्रमाण सिद्धान्त—तर्क है।

(३) सामान्य (=जाति)—यूनानी दर्शन और उससे ही लेकर पीछे भारतीय न्याय-वैशेषिक शास्त्रमें सामान्यको एक स्वतंत्र, वस्तुसत् पदार्थ सिद्ध करनेकी बहुत चेष्टा की गई है। फ़ाराबीने इसागोजी[1] पर लिखते वक्त एक जगह **सामान्यके** बारेमें अपनी सम्मति दी है—सिर्फ वस्तु

---

[1] पोर्फिरी (फोर्फोरियस)की पुस्तक, जो गलतीसे अरस्तूकी कृति मानी गयी।

और इन्द्रिय प्रत्यक्षमें ही नहीं, बल्कि विचारमें भी हमें **विशेष** प्राप्त होता है। इसी तरह **सामान्य** भी वस्तु-व्यक्तियोंमें केवल घटनावश ही नहीं रहता, बल्कि मनमें भी वह एक द्रव्यके तौरपर अवस्थित है। यह ठीक है कि मन वस्तुओंमेंसे लेकर सामान्य (गायपन)को कल्पित करता है; तो भी सामान्य उन वस्तु-व्यक्तियों (गाय-पिंडों) के अस्तित्वमें आनेसे पहिले भी सत्ता रखता है, इसमें शक नहीं।

(४) **सत्ता**—सत्ता क्या है, इसका उत्तर फ़ाराबी देता है—वस्तु-की सत्ता वस्तु अपने (स्वयं) ही है।

(५) **ईश्वर अद्वैत-तत्त्व**—ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिए फाराबी सत्ताको इस्तेमाल करता है। सत्ता दो ही तरहकी हो सकती है—वह या तो आवश्यक है, अथवा संभव (विद्यमान) है। जिस किसी वस्तु-की सत्ता संभव (विद्यमान) है, वह संभव तभी हो सकती है, यदि उसका कोई कारण हो। इस तरह हर एक संभव सत्ता कारणपूर्वक होती है। किन्तु कारणकी शृंखलाको अनन्त तक नहीं बढ़ा सकते, क्योंकि आखिर शृंखलाको बनानेवाली कड़ियाँ अनन्त नहीं सान्त हैं। और इस प्रकार हमारे लिए **आवश्यक** हो जाता है एक ऐसी **सत्ता**का मानना, जो स्वयं कारण-रहित रहते सबका कारण है; जो कि अत्यन्त पूर्ण, अपरिवर्तनशील, आत्मतृप्त परमशिव, चेतन, परम-मन (विज्ञान) है। वह प्रकृतिके सभी शिव-सुन्दर रूपोंको—जो कि उसके अपने ही रूप हैं—प्यार करता है। इस (ईश्वरकी) सत्ताके अस्तित्वको प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह स्वयं प्रमाण तथा सत्य—वास्तविकताको अपने भीतर रखते हुए स्वयं भी वस्तुओंका मूल कारण हैं। जैसे ऐसी सत्ताका होना आवश्यक है, वैसे ही उसका एक—अद्वैत—ही होना भी आवश्यक है। दो होनेपर उसमें समानताएं, और असमानताएं दोनों होंगी, जिसके कारण एक दूसरे-की टक्करसे प्रत्येककी सरलता नष्ट हो जायेगी। परिपूर्ण सत्ताका एक होना आवश्यक है।

प्रथम सत्ता केवल एक तथा वस्तुसत् है, इसीको ईश्वर कहा जाता

है। सबके मूलकारण उस एक सत्तामें सभी वस्तुएँ एक हो जाती हैं, वहाँ किसी तरहका भेद नहीं रहता; इसीलिए ऐसी सत्ताका कोई लक्षण नहीं किया जा सकता। तो भी मनुष्य उसके लिए सुन्दर भाव प्रकट करने वाले अच्छेसे अच्छे नामोंका प्रयोग करते हैं; सुन्दरसे सुन्दर गुण या विशेषण उसके लिए प्रयुक्त करते हैं, किन्तु उन्हें काव्यकी उपमाके समान ही जानना चाहिए। परम तत्त्वके पूर्ण प्रकाशको हमारी निर्बल आँखें (=बुद्धि) देख नहीं सकतीं।—भूतोंकी अपूर्णता हमारी समझको अपूर्ण रखती है।

(६) **अद्वैत तत्त्वसे विश्वका विकास**—परम सत्ता, अद्वैत तत्त्व या ईश्वरसे विश्वके विकासको फ़ाराबीने छै छै सीढ़ियों और श्रेणियोंमें विभक्त किया है; जिनमें पहिले निराकार षट्क हैं—

१. सर्व शक्तिमान कर्त्ता पुरुष ईश्वर जिसके बारेमें अभी कहा जा चुका है, और जिसमें ही (पिथागोरीय) **आकृतियाँ** अनन्तकालसे वास करती हैं।

२. कर्त्ता पुरुषसे नौ फरिश्ते या देवात्मायें (आलम-अफ़लाक) प्रकट होती हैं; इनमेंसे पहिली तो कर्त्तापुरुषके समान ही है, और वह (हिरण्य-गर्भकी भाँति) दूर तक ब्रह्माण्डका संचालन करती है। इस पहिली देवात्मासे क्रमशः एकके बाद दूसरे आठों फरिश्ते, देवात्मायें या "अभिमानी" देवता प्रकट होते हैं।

यह दो श्रेणियाँ सदा एकरस बनी रहती हैं।

३. तीसरी श्रेणीमें क्रिया-परायण विज्ञान (नफ़्स) है, जिसे पवित्र-आत्मा भी कहते हैं। यही क्रिया-परायण विज्ञान (=बुद्धि) स्वर्ग (=आकाश) और पृथ्वीको मिलाती है।

४. चौथी श्रेणी जीवकी है।

बुद्धि और जीव यह दो श्रेणियाँ एकरस अद्वैत स्वरूपमें न रहकर मनुष्योंकी संख्याके अनुसार बहुसंख्यक होती हैं।

५. आकृति—पिथागोरकी आकृति जो भौतिक तत्त्वसे मिलकर भिन्न-भिन्न तरहकी वस्तुओंके बनानेमें सहायक होती है।

६. भौतिक तत्त्व——पृथवी, जल, आग, हवा निराकार रूपमें।

इनमें पहिले तीन——ईश्वर, देवात्मा, बुद्धि——सदा नफ़्स (=विज्ञान)-स्वरूप निराकार रहती हैं। पिछले तीन——जीव, आकृति, भौतिक तत्त्व ——यद्यपि मूलतः निराकार——(अ-काय) हैं, तो भी शरीरको लेकर वह आपसमें संबंध स्थापित करते हैं।

दूसरे साकार षट्क हैं——

१. देव-काय——शरीरधारी फरिश्ते।

२. मनुष्य-काय——शरीरधारी मानव।

३. पशु (तिर्यक)-काय——पशु, पक्षी आदि शरीरधारी।

४. वनस्पति-काय——वृक्ष, वनस्पति आदि साकार पदार्थ।

५. धातु-काय——सोना, चाँदी आदि साकार पदार्थ।

६. महाभूत-काय——पृथवी, जल, आग, हवा साकार रूपमें।

(७) ज्ञानका उद्गम——किन्दीकी भाँति फ़ाराबी भी ज्ञानको मानव-प्रयत्न-साध्य वस्तु न मानकर ऊपरसे——ईश्वर द्वारा——प्रदान की गई वस्तु मानता है। जीवकी परिभाषा करते हुए फ़ाराबी कहता है——वह जो शरीर (=काया)के अस्तित्वको पूर्णता प्रदान करता है; किन्तु जीवको जो चीज पूर्णता प्रदान करती है वह **विज्ञान** (अक़्ल या नफ़्स) है, वही विज्ञान वास्तविक मानव है। यह विज्ञान (नफ़्स) शिशुके जीवमें मौजूद है, किन्तु उस वक्त वह सुप्त है, अर्थात् उसकी क्षमता अन्तर्हित होती है। इन्द्रियाँ और कल्पना शक्ति जब काम करने लगती हैं, तो बच्चेको साकार वस्तुओंका ज्ञान होने लगता है, और इस प्रकार सुप्त विज्ञान जागृत होने लगता है। किन्तु यह विज्ञान सुप्तावस्थासे जागृत अवस्थामें आना मनुष्यके अपने प्रयत्नका फल नहीं है, बल्कि यह अन्तिम नवीं देवात्मा——चन्द्र——से प्रकट होता है। देवात्मायें खुद स्वयंभू नहीं हैं, बल्कि वह अपनी सत्ताके लिए मूल-विज्ञान (ईश्वर) पर अवलंबित हैं।

(८) जीवका ईश्वरसे समागम——मूल-विज्ञान (=ईश्वर)में समाना यही मानवका लक्ष्य है। फ़ाराबी इसे संभव कहता है——आखिर

मनुष्यका नफ़्स (=विज्ञान, अक़्ल) अपने नज़दीकके अन्तिम देवात्मा (चंद्र)से समानता रखता है, जिसमें समाना असंभव नहीं है, और देवात्मा-में समाना मूल विज्ञान (=ईश्वर)में समानेकी ओर ले जाने वाला ही कदम है।

यह समाना किस तरहसे हो सकता है, इसके लिए फ़ाराबीका मत है—इस जीवनमें सबसे बढ़कर जो बात की जा सकती है, वह है बुद्धि-सम्मत ज्ञान। किन्तु जब आदमी मर जाता है, तो ऐसे ज्ञानी जीवको उसी तरहकी पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होती है, जो कि नफ़्स (=विज्ञान)में ही संभव है। उस अवस्था—देवात्मामें समा जाने—के बाद वह पुरुष अपने व्यक्तित्व-को खो बैठता है, या वह मौजूद रहता है?—इसका उत्तर फ़ाराबी साफ तौर से देना नहीं चाहता।—मनुष्य मृत्युके बाद लुप्त हो जाता है, एक पीढ़ी-के बाद दूसरी पीढ़ी आती है। सदृशसे सदृश, प्रत्येक अपने जैसेसे मिलता है—ज्ञानी 'जीवों'के लिए देशकी सीमा नहीं है, इसलिए उनकी संख्या-वृद्धिके लिए कोई सीमाकी जरूरत नहीं, जैसे विचारके भीतर विचार शक्तिके भीतर शक्तिके मिलनेमें किसी सीमा या परिमितिकी जरूरत नहीं। प्रत्येक जीव अपने और अपने-जैसे दूसरोंपर ध्यान करता है। जितना ही अधिक वह ध्यान करता है, उतना ही अधिक वह आनंद अनुभव करता है।

(९) **फलित ज्योतिष और कीमियामें अविश्वास**—फ़ाराबीका काम स्वतंत्र दार्शनिक चिन्तना उतना नहीं था, जितना कि अरस्तू जैसे महान् दार्शनिकोंके विचारोंका विशदीकरण (समझाना); इसीलिए इस क्षेत्रमें उससे बहुत आशा नहीं रखनी चाहिए। फ़ाराबी यद्यपि धर्म और रहस्य(सूफ़ी)वादसे भयभीत था, तो भी उसपर तर्क और स्वतंत्र चिंतन-ने असर किया था, जिसका ही यह फल था, कि वह फलित ज्योतिष और कीमिया (उस वक्तकी कीमिया जिसके द्वारा आसानीसे सस्ती धातुओं—ताँबे आदिको बहुमूल्य धातु—सोने—में बदलकर धनी बननेकी प्रवृत्ति लोगोंमें पाई जाती थी)को मिथ्या विश्वास समझता था।

४—आचार-शास्त्र

फ़ाराबी ज्ञानका उद्गम जीवसे बाहर मूल विज्ञान (=ईश्वर)से मानता है, इसे बतला चुके हैं, ऐसी अवस्थामें ऐसी भी संभावना थी, कि फ़ाराबी आचार—भलाई-बुराई, पुण्य-पाप—के विवेकको भी ऊपरसे ही आया बतलाता; किन्तु यहाँ यह बात स्मरण रहनी चाहिए कि फ़ाराबी **मूल विज्ञान**से विश्वकी उत्पत्तिको इस्लामके "कुन्"की भाँति अभावसे भावकी उत्पत्तिकी तरह नहीं मानता, बल्कि उसके मतसे विकास कार्य-कारण संबंधके साथ हुआ है, यद्यपि विज्ञानसे भौतिक तत्त्वकी ओरका विकास आरोह नहीं अवरोह क्रमसे है, तो भी यह अपेक्षाकृत ज्यादा वस्तुवादी है, इसमें सन्देह नहीं। कुछ भी हो, उसके "ज्ञानके उद्गम"के सिद्धान्तकी अपेक्षा आचारके उद्गमका सिद्धान्त ज्यादा बुद्धिपूर्वक है। ईश्वरवादी लोग ज्ञानको किसी वक्त मानव बुद्धिकी उपज माननेके लिए तैयार भी हो सकते हैं, किन्तु आचार—पुण्य-पाप—के विचारका स्रोत वह हमेशा ईश्वरको ही मानते हैं। फ़ाराबी इस बारेमें बिलकुल उलटा मत रखता है; वह ज्ञानका स्रोत अ-मानुषिक मानता है, किन्तु आचार-विवेकको वह मानव-बुद्धिका चमत्कार है—भले-बुरेकी तमीज़की ताकत बुद्धिमें है। ज्ञानको फ़ाराबी कर्म (=आचार)से ऊपर मानता है, इसलिए भी वह उसका उद्गम मनुष्यसे ऊँचा रखना चाहता है।

शुद्ध ज्ञानको फ़ाराबी स्वातंत्र्यकी भूमि बतलाता है; लेकिन यह शुद्ध ज्ञान ईश्वरपर निर्भर होनेसे उसीके अनुसार निश्चित है, जिसका अर्थ हुआ मानव स्वतंत्रता भी ईश्वराधीन है—यह फ़ाराबीका सीधा-सादा भाग्यवाद है—"उसके हुकुमके बिना पत्ता तक हिलता नहीं"।

५—राजनीतिक विचार

फ़ाराबीने अफलातूँके "प्रजातंत्र"को पढ़ा था, और उसका उसपर कुछ असर ज़रूर हुआ था; किन्तु वह अफलातूँके जगत्—अथेन्स और उसके

प्रजातंत्र——को अपने सामने चित्रित नहीं कर सकता था। उसकी दृष्टिमें राजतंत्रके सिवा दूसरे प्रकारका शासन संभव ही नहीं——एक ईश्वरवादी धर्मके माननेवालोंके लिए एक शासन (राजतंत्र)-वादसे ऊपर उठना बहुत मुश्किल है। इसीलिए फ़ाराबी अफलातूँके बहुतसे दार्शनिकोंके प्रजा-तंत्रकी जगह एक आदर्श दार्शनिक राजाके शासनको समाजका सर्वोच्च ध्येय बताता है। मनुष्य जीवन-साधनोंके लिए एक दूसरेपर अवलंबित है, और मनुष्योंमें कोई नैसर्गिक तौरसे बलशाली अधिक साधन-सम्पन्न होता है, कोई स्वभावत: निर्बल और अल्प-साधन; इसलिए, ऐसे बहुतसे लोगोंको एक बलशालीके आधीन रहना ही पड़ेगा। राज्यके भले-बुरे होनेकी कसौटी फ़ाराबी राजाके भले-बुरे होनेको बतलाता है। यदि राजा भलाइयोंके बारेमें अनभिज्ञ, उलटा ज्ञान रखनेवाला है, या दुराचारी है, तो राज्य बुरा होगा। भला राज्य वही हो सकता है, जिसका राजा (अफलातूँ जैसा) दार्शनिक है। आदर्श (दार्शनिक) राजा दूसरे अपने जैसे गुणवाले व्यक्तियोंको शासनके काममें अपना सहायक बनाता है।

फ़ाराबी एक ओर शासक राजाके निरंकुश——यदि अंकुश है तो दर्शन का——शासनवाले अधिकारको कायम रखना चाहता है, किन्तु साथ ही एक आदर्शवादी दार्शनिक होनेके कारण वह उसके कर्त्तव्य भी बतलाता है। सब कर्त्तव्यों——जिम्मेवारियों——का निचोड़ इसी विचारमें आ जाता है, कि राज्यका बुरा होना राजापर निर्भर है। मूर्ख राज्यमें प्रजा निर्बुद्धि हो, पशुकी अवस्थामें पहुँच जाती है। इसकी सारी जिम्मेवारी राजापर पड़ती है, जिसके लिए परलोकमें उसे यातना भोगनेके लिए तैयार रहना पड़ेगा। यह है कुछ विस्तृत अर्थ में——

"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवशि नरक-अधिकारी॥"——तुलसीदास

फ़ाराबीके राजनीतिक विचार व्यवहार-बुद्धिसे बिलकुल शून्य हैं, लेकिन इसके कारण भी थे। एक सफल वैद्य होनेसे वह व्यवहारके गुण-को बिलकुल जानता न हो यह बात नहीं हो सकती; यही कहा जा सकता

है, कि वह व्यवहारके जीवनसे दार्शनिक (व्यवहारशून्य मानसिक उड़ान-के) जीवनको ज्यादा पसन्द करता था। जब हम उसके जीवनकी ओर देखते हैं तो यह बात और साफ हो जाती है। उसका जीवन एक विचार-मग्न सूफी या बौद्ध भिक्षुका जीवन था। उसके पास संपत्ति नहीं थी, किन्तु मन उसका किसी राजासे कम न था। पुस्तकोंमें उसे अफलातूँ, अरस्तूका सत्संग, और तज्जन्य अपार आनंद प्राप्त होता था। अपने बाग-के फूल और चिड़ियोंके कलरव बाकी कमीको पूरा कर देते थे। यद्यपि सनातनी मुसलमान फ़ाराबीको सदा काफिर कहते थे, किन्तु वह उनके ज्ञानके तलको बहुत नीचा समझता, उनकी रायकी कोई कदर नहीं करता था। उसके लिए यह काफी सन्तोषकी बात थी, कि पारखी व्यक्ति—चाहे वह कितने ही थोड़े हों—उसकी कदर करते थे। वह उनके लिए महान् तत्त्वज्ञानी था। फ़ाराबीका शुद्ध और सादा जीवन दूसरी तरहके मजहबी पक्षपातसे शून्य व्यक्तियोंपर भी प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता था।

यह सब इसी बातको बतलाते हैं, कि दर्शनमें दूर हटे होनेपर भी फ़ाराबीसे तत्कालीन समाज या शासनको कोई डर न था।

६—फ़ाराबीके उत्तराधिकारी

फ़ाराबी जैसे एकान्तप्रिय प्रकृतिवाले विद्वान्के पास शिष्योंकी भारी भीड़ जमा नहीं हो सकती थी, इसीलिए उसके शिष्योंकी संख्या बहुत कम थी। अरस्तूके कितने ही ग्रन्थोंका अनुवादक अबू-ज़करिया यह्या इब्न-आदी—याकूबी पंथका ईसाई—उसका शिष्य था। अनुवादक होनेके सिवा आदीमें स्वयं कोई खास बात न थी; किन्तु उसका ईरानी शिष्य अबू-सुलैमान मुहम्मद (इब्न-ताहिर इब्न-बहराम अल्) सजिस्तानी एक ख्यात-नामा पंडित था। दसवीं सदीके उत्तरार्धमें सजिस्तानीकी शिष्य-मंडली-में बगदादके बड़े-बड़े विद्वान शामिल थे। सजिस्तानी-गुरु-शिष्य-मंडली-के दार्शनिक पाठ और संवादके कितने ही भाग अब भी सुरक्षित हैं, जिससे

पता लगता है कि उनकी दिलचस्पी दर्शनके गंभीर विषयोंमें कितनी थी। तो भी फ़ाराबीकी तर्कशास्त्रकी परंपरा आगे चलकर हमारे यहाँके नव्य-नैयायिकोंकी भाँति तत्त्व-चिन्तनकी जगह शाब्दिक बहसकी ओर ज्यादा बहक गई। सजिस्तानी-शिष्यमंडली वस्तुतः तर्कको दार्शनिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करनेके लिए साधन न समझ, उसे दिमागी कसरत और बहसके लिए बहस करनेका तरीका समझती थी। उनमें जो तत्त्वबोधकी ओर रुचि रखते थे, उनके लिए सूफियोंका रहस्यवाद था ही, जिसकी भूल-भुलैयाँके ताने-बाने तार्किकोंके तर्कसे भी ज्यादा सूक्ष्म थे। यह सूफी रहस्य-वादकी ओरका झुकाव ही था, जिसके कारण कि (जैसा कि उसके शिष्य तौहीदी १००६ ई० ने लिखा है) अबू-सुलैमान सजिस्तानीके अध्ययन-अध्यापनमें एम्पेदोकल, सुक्रात, अफलातूँ—सभी रहस्यवादी समझे जानेवाले दार्शनिकों—की जितनी चर्चा होती थी, उतनी अरस्तूकी नहीं। सजिस्तानी-शिष्य-मंडलीमें देश-जाति-धर्मकी संकीर्णताका बिलकुल अभाव था, उनका विश्वास था कि यह विभिन्नताएं बाहरी हैं, इन सबके भीतर रहनेवाला सत्य एक है।

§ ३—बू-अली मस्कविया (......-१०३० ई०)

फ़ाराबीके समयसे चलकर अब हम फिर्दोसी (९४०-१०२० ई०) (अबू रेहाँ अल्-)बैरूनी (९७३-१०४८) और महमूद गजनवी (मृ० १०३३ ई०)के समयमें आते हैं। अब विचारकी बागडोर ही नहीं शासनकी बागडोर भी नामनिहादी अरबोंके हाथसे अरब-भिन्न मुसल-मान जातियोंके हाथमें चली गई है, और वह कबीलेशाही इस्लामकी समानता और भाईचारेके भावसे प्रभावित नीचेसे उठी लोकशक्तिको नये शासकों—जिनमें कितने ही गुलामीका मजा खुद चख चुके थे, या उनके बाप-दादोंकी गुलामी उनको भूली न थी—के नेतृत्वमें संगठित कर इस्लाम-की अपूर्ण विजयको अलग-अलग पूरा करना चाहती है। यह समय है, जब कि इस्लामी तलवारका सीधा हिन्दू तलवारसे मुकाबिला होता है और

हिन्दूरक्षक पर्वतमाला हिन्दूकुशका नाम धारण करती है।—महमूद गजनवी काबुलके हिन्दूराज्यके विजयसे ही सन्तोष नहीं करता, बल्कि इस्लामके "झंडे"को बुलन्द करनेके लिए भारतपर हम्लेपर हम्ले करता है। ऊपरी दृष्टिसे देखनेपर यही शकल हमारे सामने आती है, जैसा कि हमारे विद्यालयोंके इतिहासलेखक हमारे सामने उसे पेश करते हैं; किन्तु सतहसे भीतर जानेपर यह हिन्दू और इस्लामके झंडोंके झगड़ेका सवाल नहीं रह जाता—यद्यपि यह ठीक है, कि उस समय उसे भी ऐसा ही समझा गया था।

प्रारंभिक इस्लामपर अरब कबीलाशाहीकी जबरदस्त छाप थी, इसका जिक्र पहले हो चुका है, साथ ही हम यह भी बतला चुके हैं, कि दमिश्ककी खिलाफतने उस कबीलाशाहीको पहिली शिकस्त दी, और बगदादकी खिलाफतने उसे दफना दिया।—यह बात जहाँ तक ऊपरके शासक-वर्गका संबंध है, बिलकुल ठीक है। किन्तु कबीलाशाही कुरान अब भी मुसलमानोंका मुख्य धर्मग्रन्थ था। उसकी पढ़ाईका हर मस्जिद, हर मद्रसेमें उसी तरह रवाज था। अरबी कबीलोंके भीतर सरदार और साधारण व्यक्तियोंकी जो समानता है, उसका न कुरानमें उतना स्पष्ट चित्रण था, और न उसका उदाहरण लोगोंके सामने था—बल्कि खलीफों और धनी मुसलमानोंका जो उदाहरण सामने था, वह बिलकुल उलटा रूप पेश करता था। हाँ, भाई-चारेकी बात कुरानमें साफ और बार बार दुहराई गई थी, मस्जिदमें जुमाकी नमाजके वक्त सुल्तानोंको भी इसे दिखलाना पड़ता था। जिन शक्तियोंसे मुसलमानोंका विरोध था, उनमें इस भाई-चारेका ख्याल इतना खतम हो चुका था, उनका सामाजिक संगठन सदियोंसे इस तरह विशृंखलित हो चुका था, कि "हिन्दू झंडे" या किसी दूसरे नामपर उसे लानेकी बात उस परिस्थितिमें कभी भी संभव न थी। इस्लामी झंडा यद्यपि अब विश्वव्यापी (अन्तर्राष्ट्रीय) इस्लामी कबीलका झंडा नहीं था, तो भी वह ऐसे विचारोंको लेकर हमला कर रहा था, जिससे शत्रुदेशके राजनीतिक ही नहीं सामाजिक ढाँचेको भी चोट पहुँच

रही थी; और शोषणपर आश्रित सदियोंकी बोसीदा जात-पाँतकी इमारतकी नींव हिल रही थी।

मस्कवियाका जन्म ऐसे समय में हुआ था।

१—जीवनी

मस्कवियाके जीवनके बारेमें हमें बहुत मालूम नहीं है। वह सुल्तान अदूदद्दौला (व्वायही?)का कोषाध्यक्ष था, और १०३० ई० में, जब उसकी मृत्यु हुई, तो बहुत बूढ़ा हो चुका था।

मस्कविया वैद्य था, दर्शनके अतिरिक्त इतिहास, भाषाशास्त्र उसके प्रिय विषय थे। किन्तु जिस कृतिने उसे अमर किया है, वह है उसकी पुस्तक "तहज़ीबुल-इख़्लाक़" (आचार-सभ्यता)। उसने इसके लिखनेमें अफलातूँ, अरस्तू, जालीनूस (गलेन)के ग्रन्थोंको, इस्लामिक धर्मशास्त्रके साथ मिलाकर बड़ी सफलतासे इस्तेमाल किया। वह अपने विचारोंमें अरस्तूका सबसे ज्यादा ऋणी है। मस्कवियाका यही तहज़ीबुल-इख़्लाक़ है, जिसके आधारपर ग़ज़ालीने अपने सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ "अह्या-उल्-उलूम"को लिखा। मस्कवियाने आचार-संबंधी रोगों (=दुराचार) को लोभ, कंजूसी, लज्जा आदि आठ किस्मका बतलाया है। इन रोगोंको दूर करनेके उसने दो रास्ते बतलाए हैं—(१) एक तो रोगसे उलटी औषधि इस्तेमाल की जाये, कंजूसीके हटानेके लिए शाहखर्चीका हथियार इस्तेमाल किया जाये। (२) दूसरे, चूँकि सभी आचारिक रोगोंके कारण क्रोध और मोह होते हैं, इसलिए इन्हें दूर करनेके उपाय इस्तेमाल किये जायें।

२—दार्शनिक विचार

(मानव जीव)—मस्कविया मानव जीव और पशु जीवमें भेद करता है, खासकर ईश्वरकी ओर मनुष्यकी बौद्धिक उड़ानको ऐसी खास बात समझता है, जिससे कि पशु-जीवको मानव-जीवकी श्रेणीमें नहीं रखा जा सकता।

मानव जीव एक ऐसा अमिश्रित निराकार द्रव्य है, जो कि अपनी सत्ता, ज्ञान और क्रियाका अनुभव करता है। वह अभौतिक, आत्मिक स्वभाव रखता है, यह तो इसीसे सिद्ध है कि जहाँ भौतिक शरीर एक दूसरेसे अत्यन्त विरोधी **आकारों**—काले, सफेद......के ज्ञानों—मेंसे सिर्फ एकको ग्रहण कर सकता है, वहाँ जीव (आत्मा) एक ही समय कई "आकारों"का ग्रहण करता है। यही नहीं वह इन्द्रिय-ग्राह्य तथा इन्द्रिय-अग्राह्य दोनों प्रकारके "आकारों"को अभौतिक स्वरूपमें ग्रहण करता है—इन्द्रियसे हम कलमकी लंबाई देखते हैं, किन्तु उसका "आकार"सा स्मृतिमें सुरक्षित होता है, वह वही भौतिक लंबाई नहीं है। इसीसे सिद्ध है कि जीव भौतिक सीमासे बद्ध नहीं है। अतएव जीवके ज्ञान और प्रयत्न शरीरकी सीमासे बाहर तककी पहुँच रखते हैं, और बल्कि वह इन्द्रिय-गोचर जगत्की सीमासे भी पार पहुँचते हैं। सच और झूठका ज्ञान जीवमें सहज होता है, इन्द्रियाँ इस ज्ञानको नहीं प्रदान करतीं। इन्द्रियाँ अपने प्रत्यक्षके द्वारा जिन विषयोंको उपस्थित करती हैं, उनकी विवेचना और निर्धारणा करते वक्त वह अपनी उसी सहज शक्तिसे काम लेती हैं। "मैं जानता हूँ" इसको जानना—"आत्म-चेतना"—इस बातका सबसे बड़ा प्रमाण है, कि जीव एक अभौतिक तत्त्व है।

३—आचार-शास्त्र

(१) **पाप-पुण्य**—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मस्कविया ज्यादा प्रसिद्ध है एक आचारशास्त्रीके तौरपर। आचार-शास्त्रमें पहिला प्रश्न आता है—शुभ (=भलाई, नेकी) क्या है? मस्कवियाका उत्तर है—जिसके द्वारा एक इच्छावान् व्यक्ति (=प्राणी) अपने उद्देश्य या स्वभावकी पूर्णताको प्राप्त करता है। नेक (=शुभ) होनेके लिए एक खास तरहकी योग्यता या रुझान होनी जरूरी है। लेकिन हम जानते हैं, हर मनुष्यमें योग्यता एकसी नहीं है। स्वभावतः नेक मनुष्य बहुत कम होते हैं। जो स्वभावतः नेक हैं, वह बुरे नहीं हो सकते, क्योंकि स्वभाव उसीको कहते हैं

जो बदलता नहीं। कितने ही स्वभावतः बुरे कभी अच्छे न होने वाले मनुष्य भी हैं। बाकी मनुष्य पहिलेपहिल न नेक होते हैं न बद, वह सामाजिक वातावरण (संसर्ग) या शिक्षा-दीक्षाके कारण नेक या बद बन जाते हैं।

शुभ (=नेकी) दो तरहका होता है--साधारण शुभ, और विशेष शुभ। इनके अतिरिक्त एक परम शुभ है, जो कि सर्व महान् सत् (=ईश्वर) और सर्व महान् ज्ञानको कहते हैं। सभी शुभ मिलकर इसी परम शुभ तक पहुँचना चाहते हैं। हर व्यक्तिको किसी विशेष शुभके करनेसे उसके भीतर आनन्द या प्रसन्नता प्रकट होती है। यह आनन्द और कुछ नहीं अपने ही मुख्य स्वभावका पूर्ण और सजीव रूपमें प्राकट्य है, अपने ही अन्तस्तम अस्तित्वका पूर्ण अनुभव है।

(२) समाजका महत्त्व--मनुष्य उसी वक्त शुभ(नेक) और सुखी है, जब कि वह मनुष्यकी तरह आचरण करता है--शुभाचार मानव महनीयता है। मानव-समाजके सभी व्यक्ति एक समान नहीं हैं, इसीलिए शुभ, और आनन्द (=सुख)का तल सबके लिए एकसा नहीं है। यदि मनुष्य अकेला छोड़ दिया जाय, तो स्वभावतः जो मनुष्य न नेक है न बद, उसे नेक बननेका अवसर नहीं मिलेगा, इसीलिए बहुतसे मनुष्योंका इकट्ठा (=समाजमें) रहना ज़रूरी है; और इसके लिए पहिला कर्तव्य, तथा सभी शुभाचरणोंकी नींव है मानव-जातिके लिए साधारण प्रेम, जिसके बिना कोई समाज कायम नहीं रह सकता। दूसरे मनुष्योंके साथ और उनके बीच ही मनुष्य अपनी कमियोंको दूर कर पूर्णता प्राप्त कर सकता है, इसीलिए आचार वही हो सकता है, जो कि सामाजिक आचार है। इस तरह मित्रता आत्म-प्रेम (=अपने भीतर केन्द्रित प्रेम)का सीमा-विस्तार नहीं, बल्कि आत्म-प्रेमका संकोच है, वह अपनेपनकी सीमाके बाहर, अपने पड़ोसी-का प्रेम है। इस तरहका प्रेम या मित्रता संसार-त्यागी एकान्तवासी साधुमें संभव नहीं है, यह संभव है, केवल समाज, या सामूहिक जीवन हीमें। जो एकान्तवासी योगी समझता है, कि वह शुभ (=सदाचारी) जीवन बिता रहा है, वह अपनेको धोखा देता है। वह धार्मिक हो सकता

है किन्तु आचारवान् हर्गिज़ नहीं, क्योंकि आचारवान् होनेके लिए समाज चाहिए।

(३) धर्म (=मज़हब)—धर्म या मज़हब, मस्कवियाके विचारसे लोगोंको आचारकी शिक्षा देनेका तरीका है, उदाहरणार्थ, नमाज़ (=भगवान्की उपासना), और हज (=मक्काकी तीर्थयात्रा) पड़ोसी या लोक-प्रेमको बड़े पैमानेपर पैदा करनेका सुन्दर अवसर है।

सांप्रदायिक संकीर्णताका अभाव और मानव-जीवनमें समाजका बहुत ऊँचा स्थान बतलाता है, कि मस्कवियाकी दृष्टि कितनी व्यापक और गंभीर थी।

§ ४—बू-अली सीना (९८०-१०३७ ई०)

फ़ाराबी अपने शान्त अतएव निष्क्रिय स्वभावके कारण चाहे दर्शन-क्षेत्रमें उतना काम न कर सका हो, जितना कि वह अपने गंभीर अध्ययन और प्रतिभाके कारण कर सकता था, किन्तु वह एक महान् विद्वान् था, इसमें सन्देह नहीं। बू-अली सेनके बारेमें तो हम कह सकते हैं, कि उसके रूपमें पूर्वी इस्लामिक दर्शन उन्नतिकी पराकाष्ठापर पहुँचा। बू-अली सीना मस्कविया (मृत्यु १०३० ई०), फ़िर्दोसी (९४०-१०२० ई०), अल्बैरूनी (९७३-१०४८)का समकालीन था; मस्कवियासे भेंट और अल्बैरूनीसे उसका पत्र-व्यवहार भी हुआ था।

१—जीवनी

अबू-अली अल्-हुसैन (इब्न-अब्दुल्ला इब्न-)सीनाका जन्म ९८० ई० में बुख़ाराके पास अफ़्शनमें हुआ था। सीनाके परिवारके लोग पीढ़ियोंसे सरकारी कर्मचारी रहते चले आए थे। उसने प्रारंभिक शिक्षा घरपर पाई। यद्यपि मध्य-एसियाके इस भागमें इस्लामको प्रभुत्व जमाए प्रायः तीन सदियाँ हो गई थीं, किन्तु मालूम होता है, यहाँकी सभ्य जातिके लिए जितना अरबी तलवारके सामने सिर झुकाना आसान था,

उतना अपने जातीय व्यक्तित्त्व (राष्ट्रीय सभ्यता)का भुलाना आसान न था। फ़ाराबीको हम देख चुके हैं, कैसे वह इस्लामकी निर्धारित सीमाको विचार-क्षेत्रमें पसन्द न करता था; फ़ाराबी भी सीनाका ही स्वदेश-भाई था। यही क्यों, फ़ाराबी और सीनाकी मातृभूमि—वर्त्तमान उज़बकस्तान सोवियत् प्रजातन्त्र—ने कितनी आसानीसे चंद वर्षोंके भीतर धर्म और मुल्लोंसे पिंड छुड़ा लिया, और आज उज़बक मध्य-एसियाकी जातियोंमें सबसे आगे बढ़े हुए माने जाते हैं; इससे यह भी पता लगता है, कि तेरह सदियोंमें इस्लामने वहाँके लोगोंकी जातीय भावनाको नष्ट करनेमें सफलता नहीं पाई। ऐसे सामाजिक वातावरणने सीनाके विचारोंके विकासमें कितना प्रभाव डाला होगा, यह आसानीसे समझा जा सकता है। सीनाने स्वयं लिखा है, कि बचपनमें मेरे बाप और चचा नफ़्सके सिद्धान्तपर बातनियोंके मतसे बहस किया करते थे, जिसे मैं बड़े ध्यानसे सुना करता।

प्रारम्भिक शिक्षाको समाप्तकर बू-अली मध्य-एसियाकी इस्लामिक नालन्दा बुखारा[1] में पढ़नेके लिए गया। वहाँ उसने दर्शन और वैद्यकका विशेष तौरसे अध्ययन किया। "होनहार बिरवानके होत चीकने पात"—की कहावतके अनुसार अभी बू-अली जब १७ वर्षका तरुण था, उसी वक्त उसने स्थानीय राजा नूह इब्न-मंसूरको अपनी चिकित्सासे रोग-मुक्त किया। इस सफलतासे उसे सबसे ज़्यादा फायदा जो हुआ वह यह था कि नूहके पुस्तकालयका दर्वाजा उसके लिए खुल गया। तबसे सीना वैज्ञानिक अध्ययन या चिकित्सा-प्रयोगमें अपना गुरु आप बना, इसमें वह कितना सफल

---

[1] **बुखारा वस्तुतः बिहार शब्दका विकृत रूप है। नालन्दाके आर्य महाविहारकी भाँति वहाँ भी "नवविहार" नामक एक जबर्दस्त बौद्ध शिक्षणालय था; जिस तरह नालंदा जैसे विहारोंने एक प्रान्तको विहार नाम दिया, उसी तरह इस "नव विहार"ने नगरको विहार या बुख़ार नाम दिया।**

हुआ, यह अगले पृष्ठ बतलायेंगे। एक बात तो निश्चित है, कि अब तक चलते आए ढर्रेकी पढ़ाईसे इतनी कम आयुमें मुक्त हो जानेसे वह दर्शनमें टीकाकार और गतानुगतिक न बन, स्वतंत्ररूपसे यूनानी दर्शनके तुलनात्मक अध्ययनसे अपनी निजी शैलीको विकसित कर सका।

किसी महत्त्वाकांक्षी विद्वान्के लिए अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिए उस वक्त ज़रूरी था कि वह किसी शासकका आश्रय ले। सीनाको भी वैसा ही करना पड़ा। सीना, हो सकता है, अपनी प्रतिभा और विद्वत्ताके कारण किसी बड़े दरबारमें रसूख हासिल कर सकता, किन्तु उसमें आत्म-सम्मान और स्वतंत्रताका भाव इतना अधिक था, कि वह बहुत बड़े दरबारमें टिक न सकता था। छोटे दरबारोंमें वह बहुत कुछ समानताके साथ निर्वाह कर सकता था, इसलिए उसने अपनी दौड़को वहीं तक सीमित रक्खा। वहाँ भी, एक दरबारमें यदि कोई तबियतके विरुद्ध बात हुई तो दूसरा घर देखा। उसके काम भी भिन्न-भिन्न दरबारोंमें भिन्न-भिन्न थे, कहीं वह शासनका कोई अधिकारी बना, कहीं अध्यापक, और कहीं लेखक। अन्तमें चक्कर काटते-काटते हमदान (पश्चिमी ईरान)के शासक शमसुद्दौलाका वजीर बना। शम्सुद्दौलाके मरनेके बाद उसके पुत्रने कुछ महीनोंके लिए सीनाको जेलमें डाल दिया—सीनाने खान्दान भर तो क्या उत्तराधिकारी तककी कोर्निश करनी नहीं सीखी थी। जेलसे छूटनेपर वह इस्पहाँके शासक अलाउद्दौलाके दरबारमें पहुँचा। अलाउद्दौलाने जब हमदानको जीत लिया, तो अबीसीना फिर वहाँ लौट गया। यहीं १०३७ ई० में ५७ वर्षकी उम्रमें उसका देहान्त हुआ; हमदानमें आज भी उसकी समाधि मौजूद है।—हमदामन (इखबतन) ईरानके प्रथम राजवंश (मद्रवंश)के प्रथम राजा देवक (दयउक्कु, मृत्यु ६५५ ई० पू०)की राजधानी थी।

२—कृतियाँ

सीनाने यूनानी दार्शनिकोंकी कृतियोंपर कोई टीका या विवरण नहीं लिखा। उसका मत था—टीकायें और विवरण ढेरकी ढेर मौजूद हैं,

जरूरत है उनपर विचार कर स्वतन्त्र निश्चयपर पहुँचनेकी। वह जिस निश्चयपर पहुँचा, उसे अपने ग्रन्थोंमें उल्लिखित किया। उसके दर्शनके ग्रन्थोंमें तीन मुख्य हैं--

(१) शफ़ा, (चिकित्सा) (अबू-अबीद जोज़जानीको पढ़ाते वक्त तैयार हुई)। (२) इशारात (=संकेत)। (३) नजात (=मुक्ति)।

इनमें "शफ़ा"के बारेमें उसने खुद कहा है, कि मैंने यहाँ अरस्तूके विचारोंको दर्ज किया है। तो भी इसका यह मतलब नहीं, कि उसमें उसने अपनी बातें नहीं मिलाई हैं। यहाँ "पैगंबरी" "इमामपन"की जो बहस छेड़ी है, निश्चय ही उसका अरस्तूके दर्शनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी तरह "इशारात"में भी पैगंबरी, पाप (=बुराई)की उत्पत्ति, प्रार्थना-का प्रभाव, उपासना-कर्तव्य, मोजज़ा (=चमत्कार) आदिपर जो लिखा है, उसका यूनानी दर्शनसे नहीं इस्लामसे संबंध है। रोश्द (११२६-९८ ई०) सीनाका कड़ा समालोचक था, उसने जगह-जगह उदाहरण देकर बतलाया है कि सीना कितनी ही जगह अरस्तूके विरुद्ध गया, कितनी ही जगह उसने अरस्तूके भावोंको गलत पेश किया, और कितनी ही जगह अरस्तूके नामसे नई बातें दर्ज कर दीं। इन सबका अर्थ सिर्फ यही निकलता है कि सीनाकी तबियतमें निरंकुशता थी।

सीना अपने जीवनके हर क्षणको बेकार नहीं जाने देता था। १७ से ५७ वर्षकी उम्र तकके ४० वर्षोंकी एक-एक घड़ियोंका उसने पूरा उपयोग किया। दिनमें वह सर्कारी अफसरका कर्त्तव्य पूरा करता या विद्यार्थियोंको पढ़ाता, शामको मित्र-गोष्ठी या प्रेमाभिनयमें बिताता; किन्तु रातको वह हाथमें कलम, तथा नींद न आने देनेके लिए सामने मदिरा का प्याला रखे बिता देता था। समय और साधनके अनुसार उसके ग्रन्थोंका विषय होता था। जब पर्याप्त समय तथा पासमें पुस्तकालय रहता, तो वैद्यक (=हिकमत) या दर्शनपर कोई बड़ा ग्रन्थ लिखनेमें लग जाता। जब यात्रामें रहता, तो छोटी छोटी पुस्तकें लिखता। जेलमें उसने कवितायें, तथा ध्यान (=रियाज़त)पर लेखनी चलाई। उसकी कविताओं और

सूफी-निबंधोंमें बहुत ही प्रसाद गुण पाया जाता है। पद्य-रचनापर उसका इतना अधिकार था, कि इच्छा होनेपर उसने साइंस, वैद्यक और तर्ककी पुस्तकोंको भी पद्यमें लिखा। पारसी और अरबी दोनों भाषाओंपर उसका पूर्ण अधिकार था।

३—दार्शनिक विचार

सीना दार्शनिक और वैद्य (=हकीम) दोनों था। रोश्दने दर्शन-क्षेत्र-में उसकी कीर्तिछटाको मंद कर दिया, तो भी वैद्यकके आचार्यके तौर बहुत पीछे तक युरोप उसका सम्मान करता रहा।

(१) मिथ्याविश्वास-विरोध—सीना अपनेसे पहिलेके इस्लामिक दार्शनिकोंसे कहीं ज़्यादा फलित-ज्योतिष और कीमिया—उस वक्तके दो जबरदस्त मिथ्या विश्वासों—का सख़्त विरोधी था। वह इन्हें निरी मूढ़ता समझता था, यद्यपि इसका अर्थ यह नहीं कि आँख मूँदनेके साथ ही लोग उसके नामसे इन विषयोंपर ग्रन्थ लिखनेसे बाज आये हों।

हाँ, उसका बुद्धिवाद साइंसवेत्ताओंका बुद्धिवाद—प्रयोगसिद्ध सिद्धान्त ही सत्य—नहीं बल्कि दार्शनिकोंका बुद्धिवाद था, जिसमें कि इन्द्रियोंको गलत रास्तेपर ले जानेसे बचानेके लिए बुद्धिको तर्कके अस्त्रको चतुराईसे उपयोगपर जोर दिया गया है। तर्क बुद्धिके लिए अनिवार्यतया आवश्यक है, तर्ककी आवश्यकता सिर्फ उन्हींको नहीं है, जिनको दिव्यप्रेरणा मिली हो; जैसे अनपढ़ बद्दूको अरबी व्याकरणकी आवश्यकता नहीं।

(२) जीव-प्रकृति-ईश्वरवाद—फाराबीकी भाँति सीना प्रकृति (मूल भौतिक तत्त्व)को ईश्वरसे उत्पन्न हुआ नहीं मानता था, उसके विचारमें ईश्वर एक ऊँची हस्ती है, जिसे **प्रकृति**के रूपमें परिणत हुआ मानना उसे खींचकर नीचे लाना है, उसी तरह वह जीवको भी ईश्वरसे नीचे किन्तु प्रकृतिसे ऊपर तत्त्व मानता है। उसके मतसे ईश्वर जो सृष्टि करता है उसका अर्थ यही है, कि कर्त्ता (=भगवान) अनादि (अकृत) प्रकृतिको साकार रूप देता है। अरस्तू और सीनाके मतमें यहाँ थोड़ा अन्तर है।

अरस्तू प्रकृतिके अतिरिक्त आकृतिको भी अनादि (=अकृत) मानता है। और सृष्टि करनेका मतलब वह यही लेता है कि कर्त्ताने प्रकृति और आकृति-को मिलाकर साकार जगत् और उसकी वस्तुएँ बनाईं। सीना प्रकृतिको ही अनादि मानता है, और आकृतिको अकृत नहीं कृत (=बनाई हुई) मानता है। निश्चय ही यह सिद्धान्त सनातनी मुसलमानोंके लिए कुफ़्रसे कम न था और यही समझकर ११५० ई० में बगदादमें खलीफा मुस्तन्जिद-ने सीनाके ग्रन्थोंको आगमें जलाया था।

(३) **ईश्वर**—अकृत (अनादि) प्रकृति निराकार है, उस अवस्थामें जगत् तथा उसकी साकार वस्तुओंका अस्तित्व नहीं हो सकता। इस नास्तित्वकी अवस्थासे जगत्को साकार अस्तित्वमें परिणत करनेके लिए एक सत्ताकी जरूरत है, और वही ईश्वर है। ईश्वरकी सिद्धिके लिए सीनाकी यह युक्ति अरस्तूसे भिन्न है; अरस्तूका कहना है कि प्रकृति और आकृति दोनों ही अनादि (अकृत) वस्तुएँ हैं, उनके ही मिलनेसे साकार जगत् पैदा होता है; इस मिलनके लिए गतिकी ज़रूरत है, जो गति कि चिरकालसे जगत्में देखी जाती है, इस गतिका कोई चालक (=गतिकारक) होना चाहिए, जिसको ही ईश्वर कहते हैं।

ईश्वर एक (अद्वितीय) है। उसमें बहुतसे विशेषण माने जा सकते हैं; किन्तु ऐसा मानते वक्त यह ख्याल रखना चाहिए, कि उनकी वजहसे ईश्वर-अद्वैतमें बाधा न पड़े।

(४) **जीव और शरीर**—यूनानी दार्शनिकों तथा उनके अनुयायी इस्लामी दार्शनिकोंकी भाँति सीनाने भी ईश्वरसे प्रथम विज्ञान (=नफ़्स), उससे द्वितीय विज्ञान आदिकी उत्पत्तिका वर्णन किया है, जिसको बहुत कुछ रूखी पुनरावृत्ति समझकर हम यहाँ छोड़ देते हैं। सीनाने जीवका स्थान प्रकृतिसे ऊपर रक्खा है, जो कि भारतीय दर्शन (सेश्वर सांख्य) से समानता रखता है। उस समय, जब कि काबुलमें अभी ही अभी महमूदने हिन्दू-शासन हटाकर अपना शासन स्थापित किया था, किसी घूमते-फिरते योग (सेश्वर-सांख्य)के अनुयायीसे सीनाकी मुलाकात

असंभव न थी, अथवा अरबी अनुवादके रूपमें उसके पास कोई भारतीय दर्शनकी ऐसी पुस्तक भी मौजूद हो सकती है, जिससे कि उसने इन विचारों-को लिया हो। एक बात तो स्पष्ट है, कि सीनाके दर्शनमें सबसे ज्यादा ज़ोर जीव (आत्मा)पर दिया गया है, किसी भी दार्शनिक विवेचनाके वक्त उसकी दृष्टि सदा मानव-जीवपर रहती है। इसी जीवका ख्याल रखनेके कारण ही उसने अपने सबसे महत्त्वपूर्ण दर्शन-ग्रन्थका नाम "शफ़ा" (=चिकित्सा) रखा है, जिसका भाव है जीवकी चिकित्सा।

सीना शरीर और जीवको दो बिलकुल भिन्न पदार्थ मानता है। सभी पिंड भौतिक तत्त्वोंसे मिलकर बने हैं, मानव-शरीर भी उसी तरह भौतिक तत्त्वोंसे बना है, हाँ, वहाँ मात्राके सम्मिश्रणमें बहुत बारीकीसे काम लिया गया है। ऐसे मिश्रण द्वारा मानव जातिकी सृष्टि या विनाश यकायक किया जा सकता है। किन्तु जीव इस तरह भौतिक तत्त्वोंके मिश्रणसे नहीं बना है। जीव शरीरका अभिन्न अंश नहीं है, बल्कि उसका शरीरके साथ पीछेसे संयोग हुआ है। हरएक शरीरको अपना-अपना जीव ऊपरसे मिलता है। प्रारम्भसे ही प्रत्येक जीव एक अलग वस्तु है, शरीरमें रहते हुए सारे जीवन भर जीव अपने वैयक्तिक विकासको जारी रखता है।

मनन करना जीवकी सबसे बड़ी शक्ति है। पाँच बाहरी और पाँच भीतरी इन्द्रियाँ (=अन्तःकरण[1]) जगत्का ज्ञान विज्ञानमय जीवके पास पहुँचाती हैं, जिसका अन्तिम ज्ञानात्मक निर्णय या बोध जीव करता है।

---

[1] वेदान्तियोंके चार मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारकी भाँति सीनाने भी अन्तःकरणको पाँच भागोंमें बाँटे हैं, जो कि मस्तिष्कके आगे, बिचले और पिछले हिस्सेमें हैं, और वह हैं––(१) हिस्स-मुश्तरक (सम्मिलित अन्तः-करण); (२) हिफ़्ज़ मज्मुई (ज्ञानमय) प्रतिबिंबोंकी सामूहिक स्मृति; (३) इद्राक् लाशऊरा (अंशोंका होशके बिना परिचय); (४) इद्राक् शऊरा (होशके साथ संपूर्णकर परिचय); (५) हिफ़्ज़ मआनी (उच्च परिचयोंकी स्मृति)।

बोध-शक्ति या बुद्धि जीवकी शक्तियोंकी चरमसीमा है। पहिले बुद्धिके भीतर चिन्तनकी छिपी क्षमता रहती है, किन्तु बाहरी भीतरी इन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत ज्ञानसामग्री उसकी छिपी क्षमताको प्रकट—कार्यक्षमताके रूपमें परिणत कर देती है; लेकिन ऊपर आकृतिदाता (द्वितीय नफ़्स)की प्रेरणा भी शामिल रहती है; वही बुद्धिको विचार प्रदान करता है। मानव जीवकी स्मृति शुद्ध निराकार कभी नहीं होती, क्योंकि स्मृतिके होनेके लिए पहिले साकार आधार ज़रूरी है।

विज्ञानमय (मानव) जीव अपनेसे नीचे (भौतिक वस्तुओं)का स्वामी है, किन्तु ऊपरकी वस्तुओंका ज्ञान उसे जगदात्मा (=द्वितीय नफ़्स) द्वारा मिलता है। इस तरह ऊपर नीचेके ज्ञानोंको पाकर मनुष्य वास्तविक मनुष्य बनता है, तो भी साररूपेण वह (मानव जीव) एक अमिश्रित, अनश्वर, अमृत वस्तु है। जबतक मानव-जीव शरीर और जगत्में रहता है, तबतक वह उनके द्वारा अधिक शिक्षित, अधिक विकसित होनेका अवसर पाता है; किन्तु जब शरीर मर जाता है, तो जीव जगदात्माका समीपी-सा ही बना रहता है। यही जगदात्माकी समीपता—समान नहीं—नेक ज्ञानी जीवोंकी धनधान्यता है। दूसरे जीवोंको यह अवस्था नहीं प्राप्त होती, उनका जीवन अनन्त दुःखका जीवन है। जैसे शारीरिक विकार रोगको पैदा करता है, उसी तरह जीवकी विकृत अवस्थाके लिए दंड होना ज़रूरी है। स्वर्ग फल भी मानव-जीवको उसी परिमाणमें मिलता है, जिस परिमाणमें कि उसने अपने आत्मिक स्वास्थ्य—बोध—को इस शरीरमें प्राप्त किया है। हाँ, उच्चतम पदपर पहुँचनेवाले थोड़े ही होते हैं, क्योंकि सत्यके शिखरपर बहुतोंके लिए स्थान नहीं है।

(५) हईकी कथा[1]—हमारे यहाँ जैसे "संकल्प सूर्योदय" जैसे नाटक या कथाएं वेदान्त या दूसरे आध्यात्मिक विषयोंको समझानेके लिए लिखी गई हैं, सीनाने भी "हई इब्न-यक़ज़ान" या "प्रबुद्ध-पुत्र जीवक"की कथाको

---

[1] **एक हईकी कथा तुफ़ैल (देखो पृष्ठ २०४)ने भी लिखी है।**

लिखकर उसी शैलीका अनुसरण किया है। जीवक अपनी बाहरी और भीतरी इन्द्रियोंकी सहायतासे पृथिवी और स्वर्गकी बातोंको जाननेकी कोशिश करता भटक रहा है। उसे उत्साहमें तरुणोंको मात करनेवाला एक वृद्ध मिलता है। यह वृद्ध और कोई नहीं, एक ज्ञानी गुरु––दार्शनिक––है; जो कि पथ-प्रदर्शककी भाँति भटकेको रास्ता बतलाना चाहता है। वृद्धका नाम है **हई**, और वह जागृत (=प्रबुद्ध)का पुत्र है। भटकते मुसाफिरके सामने दो मार्ग हैं––(१) एक पश्चिमका रास्ता है जो कि सांसारिक वस्तुओं और पापकी ओर ले जाता है; (२) दूसरा उगते सूर्यकी ओर ले जाता है, यह है सदा शुद्ध आकृतियों, और आत्माका मार्ग। हई मुसाफिरको उगते सूर्यकी ओर ले जानेवाले मार्गपर चलनेको कहता है। दोनों साथ-साथ आगे बढ़ते हुए उस दिव्य ज्ञान-वापीपर पहुँचते हैं, जो चिरतारुण्यका चश्मा है, जहाँ सौंदर्यकी यवनिका सौंदर्य, ज्योतिका घूँघट ज्योति है; जहाँ कि वह **अनन्त रहस्य** वास करता है।

(६) उपदेशमें अधिकारिभेद––जीव और प्रकृतिको भी ईश्वरकी भाँति ही सनातन मानना, कुरानकी बातोंकी मनमानी व्याख्या करना जैसी बहुतसी बातें सीनाकी ऐसी थीं, कि वह कुफ़्रके फतवेके साथ जिन्दा दफना दिया जा सकता था, इस खतरेको सीना समझता था। इसीलिए उसने इस बातपर बहुत जोर दिया है, कि सभी तरहका ज्ञान या उपदेश सबको नहीं देना चाहिए। ज्ञान प्रदान करते वक्त गुरुका काम है, कि वह अपने शिष्यकी योग्यताको देखे, और जो जिस ज्ञानका अधिकारी हो उसको वही ज्ञान दे। पैगंबर मुहम्मद अरबके खानाबदोश बद्दुओंको सभ्य बनाना चाहते थे, उन्होंने देखा कि बद्दुओंको आत्मिक आनन्द आदिकी बातें बतलाना "भैंसके सामने बीन बजाना" होगा, इसलिए उन्होंने उनसे कहा: "क़यामत (=अन्तिम निर्णय)के दिन मुर्दे जिन्दा हो उठेंगे।" बद्दुओंने समझा, हमारा यह प्रिय शरीर सदाके लिए बिछुड़नेवाला नहीं, बल्कि वह हमें फिर मिलनेवाला है और यह उनके लिए आशा और प्रसन्नताकी बात थी। इसी तरह बहिश्त (=स्वर्ग)की दूध-शहदकी नहरें, अंगूरोंके बाग, हूरें

(=अप्सरायें) बद्दुओंके चित्तको आकर्षित कर सकती थीं। मगर इन बातोंको यदि किसी ज्ञानी, योगी, दार्शनिकके सामने कहा जाय तो वह आकर्षण नहीं, घृणा पैदा करेंगी। ऐसे व्यक्ति भगवान्‌की उपासना किसी स्वर्ग या अप्सराकी कामनासे नहीं करते, बल्कि उसमें उनका लक्ष्य होता है भगवत्-प्रेमका आनन्द और ब्रह्म-निर्वाण (=नफ़्सकी आज़ादी)की प्राप्ति।

(अल्-बैरूनी ९७३-१०४८ ई०)

महमूद ग़ज़नवीके समकालीन पंडित अबू-रेहाँ अल्बैरूनीका नाम भारतमें प्रसिद्ध है। यद्यपि अपने ग्रन्थों—खासकर "अल्-हिन्द"—में उसने दर्शनका भी जिक्र किया है, किन्तु उसका मुख्य विषय दर्शन नहीं बल्कि गणित, ज्योतिष, भूगोल, मानवशास्त्र थे। उसका दार्शनिक दृष्टिविन्दु यदि कोई था, तो यही जो कि उसने आर्यभट्ट (४७६ ई०)के अनुयायियोंके मतको उद्धृत करके कहा है—

"सूर्यकी किरणें जो कुछ प्रकाशित करती हैं, वही हमारे लिए पर्याप्त है। उनसे परे जो कुछ है, और वह अनन्त दूर तक फैला हो सकता है, लेकिन उसका हम प्रयोग नहीं कर सकते। जहाँ सूर्यकी किरणें नहीं पहुँचतीं, वहाँ इन्द्रियोंकी गति नहीं, और जहाँ इन्द्रियोंकी गति नहीं उसे हम जान नहीं सकते।"

ख. धर्मवादी दार्शनिक

§ ५—ग़ज़ाली १०५९—११११ ई०

अब हम उस युगमें हैं जब कि बगदादके खलीफ़ोंका सम्मान शासकके तौरपर उतना नहीं था, जितना कि धर्माचार्यके तौरपर। विशाल इस्लामिक राज्य छिन्न-भिन्न होकर अलग-अलग सल्तनतोंके रूपमें परिणत

हो गया था। इन सल्तनतोंमें सबसे बड़ी सल्तनत, जो कि एसियामें थी, वह थी सलेजूकी तुर्कोंकी सल्तनत। इस सल्तनतके बानी तोग्रल बेग (१०३७-६२ ई०) ने ४२९ हिज्री (१०३६ ई०)में सीस्तानकी राजधानी तूसपर अधिकार कर लिया, और धीरे-धीरे सारे ईरानको विजय करते ४४७ हिज्री (१०५४ ई०)में इराक (बगदाद वाले देश)का भी स्वामी बन गया। तोग्रलके बाद अल्प अर्सलन् (१०६२-७२ ई०), फिर बाद मलिकशाह प्रथम (१०७२-९२ ई०) शासक बना। मलिकशाहके शासनमें सलजूकी-सल्तनतका भाग्य-सूर्य मध्याह्नपर पहुँचा हुआ था। मलिकशाहके राज्यकी पूर्वी सीमा जहाँ काशगरके पास चीनसे मिलती, वहाँ पश्चिममें वह यरूशिलम और कुस्तुन्तुनिया तक फैली हुई थी। यही तुर्कोंके शासन-का प्रारम्भ है, जो कि अन्तमें तुर्कीके तुर्कोंके शासन और खिलाफतका अग्रदूत बना।

इस्लामके इन चिरशासित मुल्कोंमें अब इस्लामकी प्रगतिशीलता खतम हो चुकी थी; अब वह दीन-दरिद्रोंका बंधु तथा पुराने सामन्तवंशों तथा धनी पुरोहितोंका संहारक नहीं रह गया था। अब उसने खुद सामन्त और पुरोहित पैदा किये थे, जो पहिलेसे कम खर्चीले न थे, खास कर नये सामन्त तो शौक और विलासप्रियतामें कैसरों और शहंशाहों-का कान काटते थे। (ग़ज़ालीके समकालीन सुल्तान संजर सलजूकी-ने एक गुलाम लड़केके अप्राकृतिक प्रेममें पागल हो उसे लाखोंकी जागीर तथा सात लाख अशर्फियाँ दे दी थीं)। साधारण जाँगर चलानेवाली जनताके ऊपर इससे क्या बीत रही थी, यह ग़ज़ालीके उस वाक्यसे पता लगता है, जिसे कि उसने सुल्तान संजर (१११८-५७ ई०)से कहा था—"अफसोस मुसलमानों (=मेहनत करनेवाली साधारण जनता)की गर्दनें मुसीबत और तकलीफसे टूटी जाती हैं और तेरे घोड़ोंकी गर्दनें सोनेके हमेलोंके बोझसे दबी जा रही हैं।" धर्म-पुरोहितों (=मौलवियों)के बारेमें ग़ज़ाली भी कहता है—"ये (मुल्ला) लोग इन्सानी सूरतमें शैतान (शया-तीन-उल्-उन्स) हैं, जो कि स्वयं पथभ्रष्ट हैं, और दूसरोंको पथभ्रष्ट करते

हैं। आजकलके सारे धर्मोपदेशक ऐसे ही हैं, हाँ, शायद किसी कोनेमें कोई इसका अपवाद हो, किन्तु मुझको कोई ऐसा आदमी मालूम नहीं।"[१]

"पंडित-पुरोहित (=उलमा) . . . सुलतानों और अमीरोंके वेतनभोगी बन गए थे। जिसने उनकी ज़बानें बन्द कर दी थीं। वह प्रजापर होते हर प्रकारके अन्याय, अत्याचारको, अपनी आँखों देखते और जीभ तक नहीं हिला सकते थे। सुल्तान और अमीर हदसे ज़्यादा विलासी और कामुक होते जाते थे। . . . किन्तु पंडित-पुरोहित रोक-टोक नहीं कर सकते थे।"[२]

१—जीवनी

मुहम्मद (इब्न-मुहम्मद इब्न-मुहम्मद इब्न-मुहम्मद) ग़ज़ालीका जन्म ४५० हिजरी (१०५९ ई०)में तूस (सीस्तान) शहरके एक भाग ताहिरान-में हुआ था। इनके घरवालोंका खान्दानी पेशा सूत कातना (=कोरी या तँतवा)का था, जिसे अरबीमें ग़ज़ल कहते हैं, इसीलिए उन्होंने अपने नामके साथ ग़ज़ाली लगाया। ग़ज़ाली छोटे ही थे, तभी उनके बापका देहान्त हो गया। ग़ज़ालीका बाप स्वयं अनपढ़ था, किन्तु उसे विद्यासे बहुत प्रेम था, और चाहता था कि उसका लड़का विद्वान् बने, इसीलिए मरते वक्त उसने मुहम्मदको उसके छोटे भाई अहमदके साथ एक दोस्तके हाथमें सौंपते हुए उनकी शिक्षाके लिए ताकीद की थी। ग़ज़ालीका घर गरीब था। उनके बापका दोस्त भी धनी न था। इसलिए बापकी छोड़ी सम्पत्तिके खतम होते ही दोनों भाइयोंको खैरातकी रोटीपर गुजारा करके अपनी पढ़ाई जारी रखनी पड़ी। शहरकी पढ़ाई खतम कर ग़ज़ालीको आगे पढ़नेकी इच्छा हुई और उसने जर्जानमें जाकर एक बड़े विद्वान् अबू-नस्र इस्माइलीकी शिष्यता स्वीकार की। उस समय पढ़ानेकी यह शैली थी, कि अध्यापक पाठ्य विषयपर जो बोलता जाता था, विद्यार्थी उसे लिखते

---

[१] "अह्याउल्-उलूम्"।

[२] 'अल्-ग़ज़ाली'—शिब्ली नेअमानी (१९२८ ई०), पृष्ठ १९४

जाते थे। सौभाग्यसे सातवीं सदीसे ही, जब कि अरबोंने समरकंदपर अधिकार किया, इस्लामिक देशोंमें कागजका रवाज हो गया था, यद्यपि अभी तक नालंदाके विद्यार्थी तालपत्र और लकड़ीकी पट्टीसे आगे नहीं बढ़े थे। ग़ज़ालीने इस्माइलीसे जो पढ़ा, उसे वह कागजपर लिखते गये थे। कुछ समय बाद जब वह अपने घरको लौट रहे थे तो रास्तेमें डाका पड़ा और ग़ज़ालीके और सामानमें वह खर्रे भी लुट गए। ग़ज़ालीसे रहा न गया, और उसने डाकुओंके सरदारके पास उस कागजको दे देनेके लिए प्रार्थना की। डाकू सरदारने हँसकर कहा—"तुमने क्या खाक पढ़ा है? जब तुम्हारी यह हालत है कि एक कागज न रहा, तो तुम कोरे रह गए।" किन्तु कागज उसने लौटा दिए।

ग़ज़ालीकी पढ़ाई काफी आगे तक बढ़ चुकी थी, और अब छोटे-मोटे विद्वान् उसे संतुष्ट न कर सकते थे। उस वक्त नेशापोर (ईरान) और बगदाद (इराक) दो शहर विद्याके महान् केन्द्र समझे जाते थे; जिनमें नेशापोरमें इमाम अब्दुल्मलिक हरमैन और बगदादमें अबू-इस्हाक शीराजी विद्याके दो सूर्य माने जाते थे। नेशापोर ग़ज़ालीके ही प्रान्त (खुरासान)में था, इसलिए ग़ज़ालीने नेशापोर जाकर हरमैनकी शागिर्दी स्वीकार की।

अरबोंने ईरानपर जब (६४२ ई०) अधिकार किया था, उस वक्त भी नेशापोर एक प्रसिद्ध नगर तथा शिक्षा-संस्कृतिका केन्द्र था; इसीलिए वहाँ वेहकियाके नामसे जो मदरसा खोला गया था, वह बहुत शीघ्रतासे उन्नति करके एक महान् विद्यापीठके रूपमें परिणत हो गया, और इस्लामके सबसे पुराने मदरसे निज़ामिया (बगदाद)का मुकाबिला कर रहा था। हरमैन वेहकिया तथा निज़ामिया (बगदाद)के विद्यार्थी रह चुके थे। अबुल्-मलिक, हरमैन (मक्का-मदीना)में जाकर कुछ दिनों अध्यापन करते थे, इसीलिए हरमैन उनके नामके साथ लग गया था। सुल्तान अलप अर्सलन सलजूकी (१०६२-७२ ई०)का महामंत्री पीछे निज़ामुल-मुल्क बना। वह स्वयं विद्वान्—हसन बिन्-सब्बाह (क़िल्-उल्-मौतके संस्थापक) और (उमर-खय्यामका सहपाठी)-तथा विद्वानोंकी इज़्ज़त करता था।

हरमैनकी विद्वत्ताको वह जानता था, इसलिए उसने नेशापोरमें अपने नाम-पर एक खास विद्यालय––मद्रसा निजामिया––बनवाकर हरमैनको वहाँ प्रधान अध्यापक नियुक्त किया।

ग़ज़ाली हरमैनके बहुत प्रतिभाशाली छात्रोंमें थे। हरमैनके जीवनमें ही उसके योग्य शिष्यकी कीर्ति चारों ओर फैलने लगी थी। ग़ज़ालीकी शिक्षा समाप्त हो गई थी, तो भी वह तब तक अपने अध्यापकके साथ रहे, जब तक कि ४७८ हिजरी (१०८५ या १०८७ ई०)में हरमैनका देहान्त न हो गया। ग़ज़ालीकी आयु उस वक्त अट्ठाईस सालकी थी।

ग़ज़ाली बड़े महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति थे, और महत्त्वाकांक्षाकी पूर्तिके लिए ज़रूरी था कि दरबारका वरदूहस्त प्राप्त हो। इसलिए कितने ही सालोंके बाद ग़ज़ालीने दरबारमें जाना तै किया। निजामुल्मुल्क उनके ही शहर तूसका रहनेवाला था, और विद्वानोंका सम्मान तथा परख करनी भी जानता था। निजामुल्-मुल्कने दरबारमें आनेपर ग़ज़ालीका बड़ा सम्मान किया, और बड़े-बड़े विद्वानोंकी सभा करके ग़ज़ालीकी विद्वत्ता देखनेके लिए शास्त्रार्थ कराया। ग़ज़ाली विजयी हुए और ३४ वर्षकी उम्रमें इस्लामी दुनियाके सबसे बड़े विद्यापीठ बगदादके मद्रसा निजामिया-के प्रधानाध्यापक बनाए गए। जमादी-उल्-अव्वल ४८४ हिजरी (१०९१ या १०९३ ई०)को जब वह बगदादमें दाखिल हुए, तो सारे शहरने उनका शाहाना स्वागत किया। यद्यपि अब वास्तविक राजधानी नेशापोर थी, और बगदादका खलीफा बहुत कुछ सलजूकियोंका पेंशनख्वार-सा रह गया था, तो भी बगदाद अब भी विद्याकी नगरी थी।

४८५ हिजरी (१०९२ ई०)में मलिक शाह सलजूकी मर गया, उस वक्त उसकी प्रभावशाली बेगम तुर्फान खातूनने अमीरों और दरबारियों-को इस बातपर राजी कर लिया कि गद्दीपर उसका चार सालका बेटा महमूद (१०९२-९४ ई०) बैठे, और साथ ही खलीफाके सामने यह भी माँग पेश की, कि ख़ुत्बा (=शुक्रवारके नमाजके बाद शासक खलीफाके नामका पाठ)भी उसीके नामसे पढ़ा जाय। पहिली बातको तो खलीफा मुक्तदरने

डर कर मान लिया, किन्तु दूसरी बातका मानना बहुत मुश्किल था; इसके लिए खलीफाने ग़ज़ालीको तुर्फान खातूनके दरबारमें भेजा, और ग़ज़ालीके व्यक्तित्त्व और समझाने-बुझानेका यह असर हुआ, कि तुर्फान खातूनने अपने आग्रहको छोड़ दिया।

१०९४ ई०में मुक्तदरके बाद मुस्तज़हर खलीफा बना। ग़ज़ालीपर मुस्तज़हरकी खास कृपा थी। उस वक्त बातनी (=इस्माइली) पंथका जोर फिर बढ़ने लगा था, बगदाद हीमें नहीं, और जगहोंपर भी। ग्यारहवीं सदीमें मिश्रपर फातमी खलीफोंका शासन था, वह सभी बातनी थे। काहिराका गणितज्ञ दार्शनिक अबू-अली मुहम्मद (इब्नुल्-हसन) इब्नुल्-रहीम (मृत्यु १०३८ ई०) बातनी था। ईरानमें इस्माइली बातनियों-का नेता हसन बिन-सब्बा (जो कि निज़ामुल्-मुल्कका सहपाठी था)ने एक स्वर्ग (क़िल-उल्-मौत) कायम किया था, और उसका प्रभाव बढ़ता ही जा रहा था। ग़ज़ालीने बातनियोंके प्रभावको कम करनेके लिए एक पुस्तक लिखी, जिसका नाम खलीफाके नामपर "मुस्तज़हरी" रखा।

बगदादकी परंपरा उसकी स्थापनाके समय (७६२ ई०)से ही ऐसी बन चुकी थी, कि वहाँ स्वतंत्र विचारोंकी लहरको दबाया नहीं जा सकता था। तीन सदियोंसे वहाँ ईसाई, यहूदी, पारसी, मोतज़ली, बातनी, सुन्नी सभी शान्तिपूर्वक साधारण ही नहीं बौद्धिक जीवन बिताते आ रहे थे; यकबयक खिलाफतके इस गए-गुजरे जमानेमें, सीना और हसीमकी पुस्तकों-की होली भले ही कभी जला दी जाये, किन्तु अब उस विचार-स्वातन्त्र्य-की लहरको दबाना उतना आसान न था। सनातनी इस्लामके जबरदस्त समर्थक अशअरीके अनुयायी ग़ज़ाली पहिले जोशमें आकर भले ही "मुस्त-ज़हरी" लिख डालें, अथवा "मजालिसे ग़ज़ालिया"में विरोधियोंपर बड़े-बड़े वाग्-बाण बरसा जायें; किन्तु यह अवस्था देर तक नहीं रह सकती थी। ग़ज़ालीने खुद लिखा है[1]—

---

[1] "मुनक़्क़ज़-मिनल्-ज़लाल"।

"मैं एक-एक बातनी, ज़ाहिरी, फिलसफी, (=दर्शनानुयायी), मुत्कल्लिम (=वादविद्यानुयायी), ज़िन्दीक (=नास्तिक)से मिलता था, और उनके विचारोंको जानना चाहता था। चूँकि मेरी प्रवृत्ति आरम्भसे ही सचकी खोजकी ओर थी, इसलिए धीरे-धीरे यह असर हुआ, कि आँख मूँदकर पीछे चलनेकी बान छूट गई। जो (धार्मिक) विश्वास बचपनसे सुनते-सुनते मनमें जम गए थे, उनसे श्रद्धा उठ गई। मैंने सोचा—इस तरहके अन्धानुसरण करनेवाले (धार्मिक) विश्वास तो यहूदी, ईसाई, सभीके पास हैं. . . . और (अन्तमें) किसी बातपर विश्वास नहीं रहा। करीब दो महीने तक यही हालत रही। फिर ख़ुदाकी मेहरबानीसे यह हालत तो जाती रही, किन्तु भिन्न-भिन्न धार्मिक विश्वासोंके प्रति सन्देह अब भी बना रहा। उस वक्त . . . चार सम्प्रदाय मौजूद थे—मुत्कल्लिम्, बातनी, फिल्सफा (=दर्शन) और सूफ़ी। मैंने एक-एक सम्प्रदायके बारेमें जानकारी प्राप्त करनी शुरू की। . . . .अन्तमें मैंने सूफ़ी मतकी ओर ध्यान दिया। जुनेद, शिब्ली, बायज़ीद, बस्तामी—सूफ़ी आचार्योंने जो कुछ लिखा था, उसे पढ़ डाला। . . . . लेकिन चूँकि यह विद्या वस्तुतः अभ्यास करनेकी विद्या है, इसलिए सिर्फ़ पढ़नेसे कुछ फल नहीं प्राप्त हो सकता था। अभ्यासके लिए तप और संयमकी ज़रूरत है। . . . . (सब सोचकर) दिलमें ख्याल आया, कि बगदादसे निकल खड़ा होऊँ, और सभी संबंधोंको छोड़ दूँ। . . . . (किन्तु) दिल किसी तरह मानता न था, कि ऐसे ऐश्वर्य और सम्मानको तिलांजलि दे दूँ। इस तरहकी चिन्तासे नौबत यहाँ तक पहुँची कि ज़बान रुक चली, पढ़ानेका काम बन्द हो गया, धीरे-धीरे पाचनशक्ति जाती रही, अन्तमें वैद्योंने दवा करना छोड़ दिया. . . .।"

ग़ज़ालीका अपना विश्वास पुराने इस्लामकी शरीअतपर दृढ़ था, जो कि बिलकुल श्रद्धापर निर्भर था। यह श्रद्धामय धर्मवाद पहिली अवस्था थी। इसपर बुद्धिवादने प्रहार करना शुरू किया, जिसका असर जो हुआ वह बतला चुके हैं। अब ग़ज़ालीके सामने दो रास्ते थे, एक तो बुद्धिको तिलांजलि देकर पहिलेके विश्वासपर कायम रहना; दूसरा

रास्ता था, बुद्धि जहाँ ले जाय वहाँ जाना। ग़ज़ालीने बगदादके सुख-ऐश्वर्यके जीवनको छोड़कर अपनी शारीरिक कष्ट-सहिष्णुता और त्यागका परिचय दिया; किन्तु बुद्धि अपने रास्तेपर ले जानेके लिए जो शर्त रख रही थी, वह इस त्याग और शारीरिक कष्टसे कहीं कठिन थी। उसमें नास्तिक बनकर "पंडित", मूर्ख सबकी गालियाँ सहनी पड़तीं, उसके नाम पर थू-थू होती। सत्य-शक्तिपर विश्वास न होनेसे वह यह भी ख्याल कर सकता था कि हमेशाके लिए दुनियाके सामने उसके मुँहपर कालिख पुत जायेगी; और निज़ामियाके प्रधानाध्यापकीका सुख-ऐश्वर्य ही नहीं छिनेगा बल्कि शरीरको सरेबाजार कोड़े खानेके लिए भी तैयार होना पड़ेगा। यदि बुद्धिके रास्तेपर पूरे दिलसे जानेका संकल्प करते तो ग़ज़ालीको इन सबके लिए तैयार रहना पड़ता। ग़ज़ाली न पूर्ण मूढ़ विश्वासको अपना सकते थे, और न केवल बुद्धिपर ही चल सकते थे, इसलिए उन्होंने सूफ़ियोंके रास्ते-को पकड़ा, जिसमें यदि दिखावेके लिए कुछ त्याग करना पड़ता है, तो उससे कई गुना मानसिक सन्तोष, सम्मान, प्रभावका ऐश्वर्य मिलता है। दिक्कत यही थी, कि बुद्धिके प्रखर तेजको रोका कैसे जाये, इसके लिए आत्म-सम्मोह[1]की ज़रूरत थी, जो एक बुद्धिप्रधान व्यक्तिके लिए कड़वी गोली ज़रूर थी, किन्तु आ पड़नेपर आदमी आत्महत्या भी कर डालता है।

आखिर चार वर्षके बगदादके जीवनको आखिरी सलाम कह ४८८ हिजरी (१०९५ ई०)में ३८ वर्षकी उम्रमें कमली कंधेपर रख ग़ज़ालीने दमिश्कका रास्ता लिया। दमिश्कमें दो साल रहनेके बाद वह यरूशिलम आदि घूमते-घामते हजके लिए मक्का मदीना गये। मक्कामें बहुत समय तक रहे। इसी यात्रामें उन्होंने सिकन्दरिया और काहिराको भी देखा। ४९९ हिजरी (११०६ ई०)में जब वह पैगंबर इब्राहीमके जन्मस्थान खलीलामें थे, तो उसी वक्त उन्होंने तीन बातोंकी प्रतिज्ञा ली थी—

(१) किसी बादशाहके दरबारमें न जाऊँगा।

---

[1] Selfhypnotisation.

(२) किसी बादशाहके धनको स्वीकार न करूँगा।

(३) किसीसे वाद-विवाद (=शास्त्रार्थ) न करूँगा।

यरूशिलममें ईसाकी जन्मकुटी (भेड़ोंका घर, जहाँ ईसा पैदा हुए थे) में एक बार इस्मइल हाकमी, इब्राहीम शब्बाकी, अबुल्-हसन बस्री आदि सूफियोंके साथ सत्संग चल रहा था, उसी वक्त ग़ज़ालीके मुँहसे एक पद्य[1] निकला, जिसपर बस्रींको समाधि लग गई, जिससे सबपर भारी प्रभाव पड़ा और बहुतोंने अपने गरीबाँ (=कपड़ेके कोर) फाड़ डाले।

इसी जीवनमें ग़ज़ालीने अपनी सर्वश्रेष्ठ पुस्तक "अह्याउल्-उलूम" लिखी।

"हज करनेके बाद घरबारके आकर्षणने (ग़ज़ालीको) जन्मभूमिमें पहुँचाया।"[2] और फिर मेरे एक दोस्तके अपने बारेमें हालके लिखे पत्रके अनुसार ग़ज़ालीको "फिर वही. . . .चहारदीवारी, फिर वही खूँटा, वही पगहा, वही गाय और वही बैल ! बहुत दिन उन्मुक्त रहनेके बाद . . . . स्वयंवृत्त बंधन", लेकिन मेरे दोस्तकी भाँति ग़ज़ालीका "दम घुटने लगा" ऐसा पता नहीं लगता। आखिर सूफीवादमें वेदान्तकी भाँति यह करामात है, कि जब चाहे किसी बातको बंधन बना दे, और जब चाहे उसे मुक्त कर दे।

ग़ज़ाली अब घर-बारवाले थे। ४९९ हिजरी (११०६ ई०) के ग्यारहवें महीनेमें फिर उन्होंने नेशापोरके निज़ामिया विद्यालयमें अध्यापन शुरू किया, किन्तु वहाँ ज़्यादा दिन तक न रह सके। निजामुल्-मुल्क-

---

[1] "फ़िद्दैतक लौ लल्-हुब्ब कुन्तो फ़िद्दैत-नी।
व-लाकिन वे-सेहरुल्-मुक़्लतीन सब्बैत-नी॥
अतयक् लेमा जाक़ सद्री अनिल्-हवा।
व लौ कुन्तो तद्री कैफ़ा शौक़ी अतैत-नी॥"
—अह्याउल्-उलूमकी टीका।

[2] "मुनक़्क़ज मिनल्-ज़लाल"।

का बड़ा बेटा फ़ख़रुल-मुल्क संजर सलजूकीका महामंत्री बना था। उस वक्त एक बातनियों (इस्माइलियों, आगाखाँके पूर्वज हसन बिन-सब्बाहके अनुयायियों)का जोर बढ़ रहा था, यह बतला चुके हैं। उनके खिलाफ कलम ही नहीं बल्कि हुकूमतकी तलवार भी इस्तेमाल हुई, जिसपर बातनियोंने भी अपना जबरदस्त गुप्त संगठन (=असेसिन) बनाया, और ५०० हिजरी (११०७ ई०)में फ़ख़रुल्-मुल्क उनकी तलवारका शिकार हुआ। सब्बाहका "क़िल-उल्-मौत" ही नहीं नेशापोर भी असेसिनोंका गुप्त गढ़ बनता जा रहा था, इसलिए ग़ज़ालीने उसे छोड़ना ही पसन्द किया।

ग़ज़ाली अब एकान्त जीवन पसन्द करते थे, किन्तु उनसे ईर्ष्या रखने-वालोंकी भी कमी न थी। उन्होंने ग़ज़ालीकी किताबोंको उलट-पलटकर यह कहना शुरू किया कि ग़ज़ाली ज़िन्दीकों-मुल्हिदों (दो नास्तिक मतों)-की शिक्षा देता है। चाहे सुल्तान संजर खुद अप्राकृतिक अपराधका अप-राधी हो, किन्तु वह अपना यह कर्त्तव्य समझता था, कि इस्लामकी रक्षाके लिए ग़ज़ाली जैसोंकी खबर ले। संजरने ग़ज़ालीको दरबारमें हाजिर होनेके लिए हुक्म दिया। ग़ज़ाली मशहद-रज़ा (=वर्तमान मशहद शहर) तक गया, और वहाँसे सुल्तानके पास पत्र लिखा[१]—

"बिस्त साल दर-अय्याम सुल्तान शहीद (=मलिकशाह) रोज़गार गुज़ाश्त। व अज़्-ओ व-इस्पहान व बग़दाद अक़्बालहा दीद, व चंद बार मियाने-सुल्तान व अमीरुल्मोमिनीन रसूल बूद् दर्-कारहाये-बुज़ुर्ग। व दर्-उलूमे-दीन नज़्दीक हफ़्ताद् किताब तस्नीफ़ कर्द। पस् दुनियारा चुनाँकि बवद् बदीद, व ब-जुम्लगी ब-यन्दाख़्त। व मुद्दते दर-बैतुल्-मुक़द्दस्, व मक्का क़याम कर्द। व बर्-सरे मश्हदे-इब्राहीम ख़लीलुल्लाह अ़हद कर्द, कि हर्गिज़ पेश्-हेच् सुल्तान न रवद्, व माले-हेच्-सुल्तान न गीरद्, व मुनाज़िरा व तअस्सुब न कुनद्। द्वाज़्दह साल बरीं वफ़ा कर्द। व

[१] "मुकातिबात् ग़ज़ाली"।

अमीरुल्-मोमिनीन् व यमा सुल्तानाँ दुआगोमरा मग्रजूर दाश्तन्द। इकनूँ शुनीदम् कि अज्-मज्लिसे-आली इशारते रफ्ता अस्त ब-हाज़िर आम्दान। फर्मांरा ब-मश्हद आम्दम्, व निगहदाश्त अहदे-ख़लीलरा बलश्करगाह न याम्दम्।"

जिसका भाव यह है कि आपके पिता मलिकशाहके शासनमें मैंने बीस साल गुजारे, अस्फहान (सलजूकी राजधानी) और बगदादमें (शाही) अक़बाल देखे। कितनी ही बार सुल्तान (सल्जूकी) और खलीफा (अमीमोरुलमनीन्)के बीच बड़े-बड़े कामोंके लिए दूत बनकर काम किया। धर्मकी विद्याओंकी सत्तरके नज़दीक पुस्तकें लिखीं...मुद्दतों यरूशिलम, और मक्कामें वास किया। इब्राहीम अल्लाहके दोस्तके शहीद-स्थानपर प्रतिज्ञा की : (१) कभी किसी सुल्तानके सामने न जाना, (२) किसी सुल्तानके धनको नहीं ग्रहण करना, (३) शास्त्रार्थ और हठधर्मी नहीं करनी। बारह साल तक इस (प्रतिज्ञा)को पूरा किया। ख़लीफ़ा तथा सारे सुल्तानोंने (इस) दुआ करनेवाले (फ़क़ीर)को माफ़ किया। अब सुना है कि सरकारने सामने आनेके लिए हुक्म निकाला है। हुक्म मानकर मश्हद-रज़ा तक आया हूँ। खलील (स्थान)पर ली हुई प्रतिज्ञाके ख्यालसे लश्करगाह नहीं आया।

किन्तु ग़ज़ालीकी सारी प्रार्थना व्यर्थ गई, प्रतिज्ञाको तोड़कर उन्हें लश्करगाह ही नहीं संजरके दरबारमें जाना पड़ा। ग़ज़ालीके जनतापर प्रभाव, विद्वत्ता तथा पीछेके कामोंको देखकर संजरने उनका सम्मान किया। संजरके दरबारके दबदबेका कहते हैं, ग़ज़ालीपर इतना रोब छाया, कि वह होश-हवास खोने लगे थे। खैर, यह पीछेके लेखकोंकी कारस्तानी है, ग़ज़ालीके लिए ऐसे दरबारोंमें जाना कोई नई बात नहीं थी। संजरके बर्त्तावसे ग़ज़ालीकी जानमें जान ही नहीं आई, बल्कि उनकी हिम्मत कुछ खरी-खरी सुनानेकी भी हुई, उसीमें सुनहरी हमेलोंके भारसे घोड़ोंकी गरदन दबनेकी बात भी थी। संजरका खान्दान हन्फ़ी मतको मानता था। ग़ज़ालीपर यह भी आरोप था, कि उसने इमाम हनीफ़ाको बुरा भला

कहा है। ग़ज़ालीने अपनी सफाई देते हुए कहा—"मैंने (अपनी) किताब अह्याउल्-उलूममें लिखा है, कि मैं उन (हनीफ़ा)को फ़िक्रा (=धर्ममीमांसा-शास्त्र)में दुनियामें चुना हुआ (अद्वितीय) मानता हूँ।" खैर! ग़ज़ालीने जवानीके जोशमें किसीके खिलाफ चाहे कुछ भी लिखा हो, किन्तु अब वह वैसी तबियत नहीं रखते थे। जैसे-तैसे मामला शान्त हो गया।

बगदादको जब ग़ज़ालीने छोड़ा था, तबसे उनकी विद्वत्ताकी कीर्त्ति बहुत बढ़ गई थी, और ख़लीफ़ा तथा बगदादके दूसरे विद्याप्रेमी हाकिम और अमीर इस बातकी बहुत ज़रूरत महसूस करते थे कि ग़ज़ाली फिर मद्रसा निजामियाकी प्रधानाध्यापकी स्वीकार करें। इसके लिए ख़लीफ़ाका सारे दरबारियोंके हस्ताक्षरसे ग़ज़ालीके पास पत्र आया। संजरके महामंत्रीने बड़े जोर शोरकी शिफारिश की, किन्तु ग़ज़ाली तैयार न हुए, और निम्न कारण बतलाते हुए माफी माँगी—(१) मेरे डेढ़ सौ विद्यार्थियोंको तूससे वहाँ जाना मुश्किल है; (२) मैं पहिलेकी भाँति अब बेबालबच्चेका नहीं हूँ, वहाँ जानेपर घरवालोंको कष्ट होगा; (३) मैंने शास्त्रार्थ तथा वाद-विवाद न करनेकी प्रतिज्ञा की है, जिससे बगदादमें बँचा नहीं जा सकता।

ग़ज़ालीकी अन्तिम पुस्तक "मुस्तफ़्सी" है, जिसे उन्होंने मरनेसे एक साल पहिले ५०४ हिजरी (१११० ई०)में लिखा था। १४ जमादी द्वितीय वृहस्पतिवार ५०५ हिजरी (१९ दिसम्बर ११११ ई०)को तूसमें उनका देहान्त हुआ।

२—कृतियाँ

५०० हिजरी (११०७ ई०)के आसपास जब कि ग़ज़ालीने संजरको अपना प्रसिद्ध पत्र लिखा था, उस वक्त तक वह सत्तरके करीब पुस्तकें लिख चुके थे, यह उनके ही लेखसे मालूम होता है। उसके बादके चार सालोंमें उनका लिखना बन्द नहीं हुआ। एक तरह बीस वर्षकी आयुसे अपने ५४वें ५५वें वर्ष तक (जब कि वह मरे)—लगातार ३४, ३५ वर्ष—उनकी लेखनी चलती रही। अल्लामा शिब्ली नेअमानीने अपनी पुस्तक

"अल्‌ग़ज़ाली"में उनकी ७८ पुस्तकोंकी सूची दी है जिनमें कुछ तो कई-कई जिल्दोंमें हैं। उनके ग्रन्थ मुख्यतः फ़िक़ा (=धर्म-मीमांसा), तर्कशास्त्र, दर्शन, वाद-शास्त्र (=कलाम), सूफीवाद (=अद्वैत ब्रह्मवाद) और आचार-शास्त्रसे संबंध रखते हैं।

ग़ज़ालीकी सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं—

१. अह्याउल्-उलूम् (सूफी, आचार)

२. जवाहरुल्-क़ुरान (सूफी, आचार)

३. मक़ासिदुल् फ़िलासफा (=दर्शनाभिप्राय) (दर्शन)

४. मइयारुल् इल्म (तर्क)

५. तोहाफ़तुल्-फ़िलासफा (=दर्शन-खंडन) (वाद)

६. मुस्तस्फ़ी (फ़िक़ा, धर्मसीमांसा)

अह्याउल्-उलूम् (=विद्या-संजीवनी) और तोहाफतुल्-फ़िलासफा (=दर्शन-खंडन) ग़ज़ालीकी दो सर्वश्रेष्ठ किताबें हैं, जिनमें अह्याउल्उलूम्को दूसरा "कुरान" समझा जाता है।

(१) अह्याउल्-उलूम् (=विद्या-संजीवनी)—ग़ज़ालीके अह्याउल्-उलूम्के कुछ प्रशंसापत्र सुन लीजिए—

(क) प्रशंसापत्र—ग़ज़ालीके समकालीन तथा हरमैनके पास साथ पढ़े अब्दुल्-गाफिर फ़ार्सीका कहना है—"अह्याउल्-उलूम् जैसी कोई किताब उससे पहिले नहीं लिखी गई।"

इमाम नूदी "मुस्लिम्" (हदीस)के टीकाकारका उद्गार है—"अह्याउल्-उलूम् कुरानके लगभग है।"

शेख अबू-मुहम्मद कारज़द्नीने कहा है—"यदि दुनियाकी सारी विद्याएँ (=उलूम्) मिटा दी जायें, तो अह्याउल्-उलूम्से सबको जिन्दा कर दूँगा।"

प्रसिद्ध सूफ़ी शेख अब्दुल्ला ईदरदसको अह्याउल्-उलूम् कंठस्थसी थी।

शेख अली दूसरे सूफ़ीने पचीस बार अह्याउल्-उलूम्का अखंड पाठ

किया, और हर बार पाठकी समाप्तिपर फ़क़ीरों और विद्यार्थियोंको भोज दिया।

क़ुतुब शाज़ली बहुत पहुँचे हुए सूफ़ी समझे जाते थे, एक दिन अह्याउल्-उलूम्को हाथमें लिए "जानते हो, यह क्या किताब है?" कह बदनपर कोड़ोंकी मारका दाग दिखला कर बोले—"पहिले मैं इस किताबसे इन्कार करता था। आज रातको मुझे इमाम ग़ज़ालीने आँ-हज़रत (=पैगंबर मुहम्मद)के दरबारमें पेश किया, और इस अपराधकी सजामें मुझे कोड़े लगाए गए।"

शेख़ मुहीउद्दीन अकबर जगद्विख्यात सूफी गुज़रे हैं। वह अह्याउल्-उलूम्को काबा (मक्का)के सामने बैठकर पढ़ा करते थे।

यह तो ख़ैर, "घरवालों"के मुँहसे अतिरंजित प्रशंसा होनेके कारण उतनी कीमत नहीं रखेगा, किन्तु पिछली सदीके प्रसिद्ध "दर्शन इतिहास"के लेखक जार्ज हेनरी लेविस्का कहना है[१]—

"अगर द-कार्त (१५९६-१६५० ई०)के समयमें अह्याउल्-उलूम्का अनुवाद फ़्रेंच भाषामें हो चुका होता, तो लोग यही कहते कि द-कार्तने अह्याउल्-उलूम्से चुराया है।"

(ख) आधार ग्रन्थ—अह्याउल्-उलूम् या विद्याओंको संजीवित करनेवाली विद्या-संजीवनी कहिए—में यद्यपि दर्शन, आचार और सूफी ब्रह्मवाद सब मिले हुए हैं, किन्तु मुख्यतः वह आचार-शास्त्रका ग्रंथ है। आचारशास्त्रमें ग़ज़ालीके वक्त यूनानी ग्रंथोंके अनुवाद तथा स्वतंत्र ग्रंथ मौजूद थे, जिनमें दार्शनिक मस्कविया (मृ० १०३० ई०)की पुस्तक "तहज़ीबुल-इख़लाक" (आचार-सभ्यता)का जिक्र भी हो चुका है। सबसे पहिले अरस्तूने इस विषयपर दो पुस्तकें (आचार-शास्त्र) लिखीं, जिनपर पोर्फोरि (फोर्फोरियस)ने टीका लिखी थी। हनैन इब्न-इस्हाकने अरस्तूकी

---

[१] History of Philosophy (G. E. Lewis, 4th edition), p. 50.

पुस्तकका अरबीमें अनुवाद किया था। मशहूर यूनानी वैद्य जालीनूस (=गलेन)ने भी इस विषयपर एक पुस्तक "मनुष्य अपने दोषोंको कैसे जान सकता है"के नामसे लिखी थी, जिसका अनुवाद भी शायद अरबीमें हो चुका था, मस्कविया (१०३० ई०)ने इसके उद्धरण अपने ग्रन्थमें जगह-जगह दिये हैं।

यूनानी पुस्तकोंसे प्रेरित होकर भिन्न-भिन्न ग्रंथकारोंने इस विषयपर अरबीमें निम्न पुस्तकें लिखीं--

१. "आराउल्-मदीनतुल्-फ़ाज़िला", फ़ाराबी (८७०-९५०ई०) राज-नीति भी है।

२. "तहज़ीबुल्-इख़लाक", मस्कविया (मृ० १०३० ई०)

३. "अकबर वल्-इस्म" बू-अली सीना (९८०-१०३७ ई०)।

यह तीनों पुस्तकें यूनानी दार्शनिकोंकी भाँति बहुत कुछ मजहबसे स्वतंत्र रहकर लिखी गई हैं।

४. "क़ूवतुल्-क़ुलूब", अबूतालिब मक्की (मजहबी ढंगपर)।

५. "ज़रिया इला मकारिमु'श्-शरीअत्" राग़िब इस्फहानी (मज़हबी ढंग पर)।

इन पाँच पुस्तकोंमेंसे "तहज़ीबुल्-इख़लाक" और "क़ूवतुल्-क़ुलूब"से तो बहुतसी बातें बिलकुल शब्दशः ली गई हैं।[1] और ढंग (मजहब+आचारशास्त्र) तो मक्कीकी किताब जैसा है।

(ग) लिखनेका प्रयोजन—हम बतला चुके हैं कि अह्याउल्-उलूम्-को ग़ज़ालीने उस वक्त लिखा जब कि उनपर सूफीवादका भूत बड़े जोर-से सवार था, और वह कमली ओढ़े अरब--शाम—की खाक छान रहे थे। उन्होंने ब्रह्मानंदको छोड़ इस पुस्तकको लिखनेके लिए कलम क्यों उठाई, इसका उत्तर ग़ज़ालीने स्वयं ग्रन्थके प्राक्कथनमें लिखा है--

---

[1] **अल्लामा शिब्ली नेअ्मानीने अपनी पुस्तक "अल्ग़ज़ाली" (उर्दू)में इसके कई उदाहरण दिये हैं।**

"मैंने देखा कि रोग सारी दुनियापर छा गया है, और चरम (आत्मिक पारलौकिक) सदाचारके रास्ते बंद हो गए हैं। जो विद्वान् मार्ग समझाने-वाले थे, उनसे दुनिया खाली होती जा रही है। जो रह गए हैं वह नामके विद्वान् हैं; निजी स्वार्थोंमें फँसे हुए हैं; और उन्होंने सारी दुनियाको यह विश्वास दिला रखा है, कि विद्या सिर्फ तीन चीजोंका नाम है, शास्त्रार्थ, कथा-उपदेश और फ़तवा ("व्यवस्था")। रही आख़िरत (=परलोक)की विद्या वह तो संसारसे उठ गई है, और लोग उसको भूल-भुला चुके हैं।"

इसी रोगको दूर करने या "भूल-भुलाई" (मृत) विद्याओंको संजीवन देनेके लिए ग़ज़ालीने "विद्यासंजीवनी" लिखनेके लिए लेखनी उठाई।

(घ) ग्रन्थकी विशेषता—शिब्लीने "विद्यासंजीवनी"की कई विशेषतायें विस्तारपूर्वक लिखी हैं; उनके बारेमें संक्षेपमें कहा जा सकता है—(१) ग्रंथकारने विद्वानों और साधारण पाठकों दोनोंकी समझमें आनेके ख्यालसे बहुत सीधी-सादी भाषा (अरबी)का प्रयोग किया है; साथ ही उसके दार्शनिक महत्त्वको कम नहीं होने दिया है। मस्कवियाकी किताब "अत्-तहारत्"को पढ़नेके लिए पहिले भाषाकी दुरारोह दीवारको फाँदना पड़ेगा, तब अर्थपर पहुँचनेके लिए मग़ज़-पच्ची करनी होगी—वह नारियलके भीतर बंद सूखी गरी हैं; किन्तु ग़ज़ालीकी पुस्तक पतले छिलकोंका लँगड़ा आम है। (२) इसमें अधिकारिभेद—गृहस्थ और गृहत्यागी (=अविवाहित रहनेवाले सूफी) आदि—का पूरा ख्याल रखकर उनके योग्य आचार-नियमोंकी शिक्षा दी गई है। (३) उठने-बैठने, खाने-पीने जैसे साधारण आचारोंपर भी व्यापक दृष्टिसे लिखा गया है। (४) क्रोध, आकांक्षा आदिको सर्वथा त्यागके उपदेशसे मनुष्यकी उपयोगी शक्तियोंको कमजोर कर जो निराशावाद, अकर्मण्यता फैलाई जाती है, उसके खिलाफ काफी युक्तियुक्त बहस की गई है। यहाँ हम पिछली दो बातोंके कुछ नमूने पेश करते हैं—

१. **(साधारण सदाचार)**—मेजपर खाना खाना, छलनी (से आटा छानना), अश्नान (=साबुनका काम देनेवाली घास) और पेट भर खाना—

इन चार चीजोंके बारेमें पुराणपंथी मुसलमान विद्वान् यह कहकर नाक-भौं सिकोड़ते थे, कि यह पैगंबरके बाद पैदा हुए बुरे व्यवहार हैं। इसपर ग़ज़ालीने लिखा—"दस्तरख़ान (=सामने बिछी चादर)पर खाना अच्छा है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि सन्दली (=मेज़)पर खाना बुरा या हराम है, क्योंकि इस तरहका कोई हुकुम शरीअत (=धार्मिक पुस्तकों) में नहीं आया है।....मेजपर खानेमें (फायदेकी) यह बात है, कि खाना ज़मीनसे जरा ऊँचा हो जाता है, और खानेमें आसानी होती है....। अश्नान (=घास)से हाथ धोना तो अच्छी बात है, क्योंकि इसमें सफाई और शुद्धता (रहती) है। खाना खानेके बाद हाथ धोनेका हुक्म (जो शरीअतमें है, वह) सफाईके ख्यालसे ही है, और अश्नानसे धोनेमें और ज्यादा सफाई है। पुराने जमानेमें (पैगंबरके समय) यदि इसका उपयोग नहीं किया जाता था, तो इसकी यह वजह होगी कि उस जमानेमें उसका रवाज न था, या वह मिलती न होगी। या (मिथ्याविश्वासके कारण) वह हाथ भी नहीं धोते थे, और तलवोंमें हाथ पोंछ लिया करते थे; लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि हाथ धोना ठीक नहीं।"

खानेके तरीकेमें कितनी ही बातें पश्चिमसे लेते हुए लिखा है—"खाना किसी ऊँची चीजपर रखकर खाना चाहिए। खाने बारी-बारी-से आने चाहिएँ। जूसवाला (सूप आदि) खाना पहिले आना चाहिए। यदि अधिक मेहमान आ चुके हैं, और सिर्फ एक-दो बाकी हों तो खाना शुरू कर देना चाहिए। खानेके बाद मेवे या मिठाई आनी चाहिए।" अनुकरणीय उदाहरणके तौरपर पेश करते हुए लिखते हैं—"बाज लोगोंके यहाँ यह तरीका था, कि सारे खानोंके नाम पर्चेपर लिखकर मेहमानोंके सामने पेश किये जाते थे।"

२. उद्योगपरायणता और कर्मण्यतापर ज़ोर—बच्चोंकी प्रारंभिक शिक्षामें सैर, शारीरिक व्यायाम, मर्दाना खेलोंको रखना ग़ज़ाली ज़रूरी समझते हैं। उन्होंने गानेको मनबहलावकी बात कह उसके औचित्यको यह कहकर साबित किया है कि पैगंबरने खुद हब्शियोंके खेलको

देखा था। इसके अतिरिक्त मैं कहता हूँ कि खेलकूद या मनोविनोद दिलको ताजगी देता है, उससे दिमागी थकावट दूर हो जाती है। मन-का यह स्वभाव है कि जब वह किसी चीजसे घबरा जाता है, तो अंधा हो जाता है, इसलिए उसको आराम देना, इस बातके लिए तैयार करना है कि वह फिर कामके योग्य बन जाये। जो आदमी रात-दिन पढ़ा करता है उसको चाहिए कि किसी-किसी समय खाली बैठे; क्योंकि काम करनेके बाद खाली बैठना और खेल-कूद करना आदमीको गंभीर काम करनेके लिए फिर तैयार कर देता है।"

इस तरह ग़ज़ाली शरीरको कर्मण्य रखनेके लिए गाना, कसरत, खेलकूदकी सिफारिश करते हुए फिर उसके वास्ते मानसिक शक्तियोंके इस्तेमालके लिए इस प्रकार जोर देते हैं—"क्रोधकी शक्तिको नष्ट करना आचारकी शिक्षा नहीं है। आचार-शिक्षाका अभिप्राय यह है, कि आदमीमें आत्मसम्मान और सच्चा शौर्य पैदा हो, यानी न डरपोकपन आये न गुंडापन। . . .क्रोधको बिलकुल नष्ट करना कैसे अभिप्रेत हो सकता है, जब कि खुद वन्दनीय पैगंबर लोग गुस्सेसे खाली न थे। आँ-हजरत (=पैगंबर मुहम्मद)ने स्वयं फरमाया है—'मैं आदमी हूँ, और मुझको भी उसी तरह गुस्सा आता है जिस तरह और आदमियोंको।' आँ-हजरतकी यह हालत थी कि जब आपके सामने कोई अनुचित बात की जाती तो आपके गाल लाल हो जाते थे, हाँ यह अन्तर जरूर था, कि गुस्साकी हालतमें भी आपके मुखारविन्दसे कोई बेजा बात नहीं निक-लती थी।"

"सन्तोषं परमं सुखं" पर लाठी प्रहार करते हुए ग़ज़ाली कहते हैं—"जानना चाहिए कि ज्ञान एक अवस्था पैदा करता है, और उस अवस्थासे काम लिया जाता है। कोई-कोई समझते हैं कि सन्तोषके यह माने हैं, कि जीविका-उपार्जनके लिए न हाथ पैर हिलाए जायँ न कोई उपाय सोचा जाय, बल्कि आदमी इस तरह बेकार पड़ा रहे, जिस तरह चीथड़ा जमीन पर पड़ा रहता है, या मांस पटरेपर रखा रहता है। लेकिन यह मूर्खोंका

विचार है, क्योंकि ऐसा करना शरीअत (=धर्म-आज्ञा) में हराम है।.... यदि तुम इस बातका इन्तजार करो, कि खुदा तुमको रोटीके बिना तृप्त कर देगा, या रोटीको यह शक्ति दे देगा, कि वह स्वयं तुम तक चली आये, या किसी फरिश्तेको मुकर्रर कर देगा कि वह रोटीको चबाकर तुम्हारे पेटमें डाल दे, तो तुम खुदाके स्वभावसे बिलकुल अनभिज्ञ हो।"

मठोंके सन्तोषी साधु-फकीरोंके बारेमें ग़ज़ाली कहते हैं—"मठोंमें बंधानकी रोजीपर बसर करना सन्तोषसे बहुत दूर है। हाँ, यदि माँगा न जाय और भेंट-पूजापर सन्तोष किया जाय तो यह सन्तोषकी महिमा है, लेकिन जब (मठ)की प्रसिद्धि हो चुकी है, तो मठ बाज़ारकी भाँति हैं, और उनमें रहना बाजारमें रहना है। जो आदमी (इस तरहके) बाजारमें आता-जाता हो, वह सन्तोषी नहीं कहा जा सकता....।"

इस तरह ग़ज़ाली सूफी होते हुए भी, उस पंथकी अकर्मण्यताके प्रशंसक नहीं थे।

(ङ) **आचार-व्याख्या**—अह्याउल्-उलूम् (विद्या-संजीवनी) में ग़ज़ालीने आचारकी व्याख्या करते हुए लिखा है, कि मनुष्य दो चीजोंका नाम है। शरीर और जीव। जिस तरह शरीरकी एक खास सूरत-शक्ल है, (वैसे ही) जीवकी भी है। फिर जिस तरह शरीरकी सूरत अच्छी या बुरी होती है, जीवकी भी होती है। जिस तरह बाहरी सूरतके ख्यालसे आदमीको सुरूप या कुरूप कहते हैं, जीवकी (आत्मिक) सूरतके ख्यालसे उसे सदाचारी या दुराचारी कहते हैं। ग़ज़ालीने आचारका संबंध सिर्फ शारीरिक क्रियाओं तक ही सीमित नहीं रखा है, बल्कि उसके लिए यह भी शर्त लगाई है, कि उसके करनेके लिए आदमीमें क्षमता तथा स्थायी झुकाव हो। ग़ज़ालीने आचारके चार मुख्य स्तंभ माने हैं। ज्ञान, क्रोध, काम-इच्छा और न्यायकी शक्तियोंको संयमपूर्वक साम्य (=बीचकी) अवस्थामें रखना। यदि यह चारों शक्तियाँ साम्य-अवस्थामें हों, तो आदमी पूरा सदाचारी होगा, यदि सिर्फ दो या एक हों तो अपूर्ण।

गलेन (=जालीनूस) आदमियोंके सदाचारी या दुराचारी होनेके

बारेमें समझता है, कि कुछ आदमी स्वभावतः सदाचारी, कुछ स्वभावतः दुराचारी होते हैं, और कुछ ऐसे हैं जो न स्वभावतः सदाचारी होते न दुराचारी; इसी तीसरी श्रेणीके आदमियोंके सुधार होनेकी संभावना है! मस्कवियाने गलेनके इसी मतको स्वीकार किया, यह हम कह चुके हैं। अरस्तूका मत इससे उलटा है—सदाचारी या दुराचारी होना मनुष्यमें स्वभावतः नहीं है, इसमें कारण शिक्षा और वातावरण है, हाँ शिक्षा और वातावरणका प्रभाव सबपर समान नहीं पड़ता। ग़ज़ाली-ने अरस्तूके मतको स्वीकार किया है। इसीलिए बच्चोंकी शिक्षापर उन्होंने खास जोर दिया है, जिसके कुछ नमूने लीजिए—

(१) **बच्चोंका निर्माण**—"बच्चेमें जैसे ही विवेचनाशक्ति प्रकट होने लगे, उसी वक्तसे उसकी देखभाल रखनी चाहिए। बच्चेको सबसे पहिले खानेकी इच्छा होती है, इसलिए शिक्षाका आरंभ यहींसे करना चाहिए। उसको सिखलाना चाहिए कि खानेसे पहिले बिसमिल्लाह पढ़ लिया करे। दस्तरखानपर जो खाना सामने और समीप हो, उसीकी ओर हाथ बढ़ाए, साथ खानेवालोंसे आगे बढ़नेकी कोशिश न करे, खाने या खानेवालोंकी तरफ़ नज़र न जमाए। जल्द-जल्द न खाए। कौरको अच्छी तरह चबाए। हाथ और कपड़ेको खानेमें लसरने न दे। उसको समझा दिया जाये कि ज़्यादा खाना बुरा है। कम खाना, मामूली खानेपर सन्तोष करने, (अपना खाना) दूसरोंको खिला देनेकी बड़ाईको उसके मनमें बिठला देना चाहिए।

"(बच्चोंको) सफेद कपड़ा पहननेका शौक दिलाया जाय, और समझाया जाये कि रंगीन, रेशमी, ज़र्दोज़ी कपड़े पहनना औरतों और हिजड़ोंका काम है। जो लड़के इस तरहके कपड़ोंको पहिना करते हैं, उनके संगसे बचाया जाय। आरामतलबी और नाज-सुकुमारतासे घृणा दिलाई जाये।

"जब बच्चा कोई अच्छा काम करे, तो प्रशंसा करके उसके दिलको बढ़ाया जाये, और उसे भेंट-इनाम दिया जाये। यदि बुरी बात करते देखा

जाये तो चेतावनी देनी चहिए, जिसमें बुरे कामोंके करनेमें दिलेर न हो जाये।....किन्तु बार-बार लजवाना नहीं चाहिए....बार-बार कहनेसे बातका असर कम हो जाता है।

"(और उसे सिखलाना चाहिए कि) दिनको सोना नहीं चाहिए। बिछौना बहुत सजा तथा ज्यादा नरम नहीं होना चाहिए....हर रोज कुछ न कुछ पैदल चलना और कसरत करनी चाहिए, जिसमें कि दिलमें अकर्मण्यता और सुस्ती न आने पावे। हाथ-पाँव खुले न रखे, बहुत जल्द-जल्द न चले; धन-दौलत, कपड़ा, खाना, कलम-दावात, किसी चीजपर अभिमान न प्रकट करे....।

"सभामें थूकना, जम्हाई-अँगड़ाई लेना, लोगोंकी तरफ पीठ करके बैठना, पाँवपर पाँव रखना, ठोड़ीके नीचे हथेली रखकर बैठना—इन बातोंसे मना करना चाहिए।

"कसम खानेसे—चाहे वह सच्ची भी हो—रोकना चाहिए। बात खुद न शुरू करनी चाहिए, कोई पूछे तो जवाब दे।....पाठशालासे पढ़कर निकले तो उसे मौका देना चाहिए कि कोई खेल खेले, क्योंकि हर वक्त पढ़ने-लिखनेमें लगे रहनेसे दिल बुझ जाता है, समझ मन्द हो जाती है, तबियत उचट जाती है।"

यह शिक्षायें मस्कवियाने अपने तहज़ीबुल्-इखलाक़में यूनानी ग्रन्थोंसे लेकर दी हैं।

(२) प्रसिद्धिके लिए दान-पुण्य ग़लत—नाम और प्रसिद्धिकी लालचमें अमीर लोग दान-धर्म करते हैं, उनके बारेमें ग़ज़ाली कहता है—

"इन (धनियों, अमीरों, बादशाहों)में बहुतसे लोग, मस्जिद, मद्रसे और मठ (=खानकाहें), बनवाते हैं, और समझते हैं कि, यह बड़े पुण्यका काम है; यद्यपि जिस आमदनीसे उन्हें बनवाया जाता है, वह बिलकुल नाजायज़ तरीकेसे हुई है। यदि आमदनी जायज़ हो, तो भी उनका अभिप्राय वस्तुतः पुण्य नहीं बल्कि प्रसिद्धि और नामपाना होता है। उसी शहरमें ऐसी दुर्गतिमें पड़े आदमी हैं, जिनकी सहायता करना मस्जिद बनानेसे

ज्यादा सवाबका काम है, लेकिन उसकी अपेक्षा इमारत बनवानेको बेहतर समझते हैं; जिसकी वजह सिर्फ यह होती है, कि इमारतसे जो चिरस्थायी प्रसिद्धि मिलती है, वह गरीबोंको देनेसे नहीं हो सकती।"

३—तोहाफ़तुल्-फ़िलासफ़ा (=दर्शन-खंडन)

(क) लिखनेका प्रयोजन—कितनेही मुसलमान इस पुस्तकके नाम और ग़ज़ालीकी सर्वप्रियताको देखकर यह समझनेकी गलती करते हैं, कि ग़ज़ालीने सचमुच दर्शनका विध्वंस (=खंडन) कर दिया। ग़ज़ालीके अपने ही विचार दर्शन छोड़ और हैं क्या? उन्होंने कभी बद्दुओंके सीधे-सादे इस्लामकी ओर लौटनेका नारा नहीं लगाया, यद्यपि उनकी कुछ सामाजिक बातों—कबीलाशाही, भाई-चारा, समानता—को वह जरूर अनुकरणीय बनाना चाहते थे। शिक्षित संस्कृत-नागरिक श्रेणीमें उस वक्त यूनानी दर्शनका बहुत सम्मान था, खुद इस्लामके भीतर "पवित्र-संघ" (अखवानुस्सफ़ा), बातनी आदि सम्प्रदाय पैदा हो गये थे, जो कि अफलातूँ-अरस्तूको सूक्ष्म ज्ञानमें रसूल-अरबीसे भी बड़ा समझते थे; इसलिए इस्लामके जबर्दस्त वकील ग़ज़ालीको ऐसी पुस्तक लिखना जरूरी था, जैसा कि उन्होंने स्वयं पुस्तककी भूमिकामें लिखा है—

"हमारे ज़मानेमें ऐसे लोग पैदा हो गए हैं, जिनको यह अभिमान है, कि उनका दिल-व-दिमाग साधारण आदमियोंसे श्रेष्ठ है। यह लोग मज़हबी आज्ञाओं और नियमोंको घृणाकी निगाहसे देखते हैं। इनका ख्याल है कि अफलातूँ, अरस्तू आदि पुराने हकीम (=मुनि या आचार्य) मज़हबको झूठा समझते थे। चूँकि ये हकीम ज्ञान-विज्ञानके प्रवर्त्तक और प्रतिष्ठापक थे, और बुद्धि तथा प्रतिभामें उनके जैसा कोई नहीं हुआ; इसलिए उनका धर्मको न मानना इस बातका प्रमाण है, कि मजहब (=धर्म) वस्तुतः झूठ और फजूल है; उसके नियम तथा सिद्धान्त मनगढ़न्त और बनावटी हैं, जो सिर्फ देखने हीमें सुन्दर और चित्ताकर्षक मालूम होते हैं। इसी वजहसे मैंने निश्चय किया कि (यूनानी) आचार्योंने आध्यात्मिक विषयपर

जो कुछ लिखा है, उसकी गलतियाँ दिखलाऊँ, और साबित करूँ कि उनके सिद्धान्त और बहसें लड़कोंके खेल हैं।"

(ख) दार्शनिक तत्त्व सभी त्याज्य नहीं—ग़ज़ाली दर्शनकी सत्यताओंको जानते थे, इसलिए दर्शनकी सभी बातोंको गलत कहना उनके लिए असंभव था, उनका तो काम था कुमारिल भट्टकी भाँति दर्शनको खंडन करते हुए भी उसीकी आड़ लेकर लचर विश्वासोंकी स्थापना करना। अस्तु अपनी स्थिति साफ करते हुए ग़जाली लिखते हैं—

"दर्शनमें तीन तरहके सिद्धान्त आते हैं—(१) वह सिद्धान्त, जो केवल शब्द और परिभाषाको लेनेपर इस्लामके सिद्धान्तोंसे भेद रखते हैं, जैसे खुदा (ईश्वर)को वह द्रव्य बतलाते हैं, लेकिन द्रव्यसे उनका अभिप्राय अनित्य (वस्तु) नहीं बल्कि ऐसी वस्तुसे है, जो स्वयं बिना किसीके सहारे, अपना अस्तित्व रखती हैं। इस ख्यालसे खुदाको द्रव्य कहना बिलकुल ठीक है, यद्यपि शरीअत् (=इस्लामी धर्म ग्रंथ)में यह शब्द इस्तेमाल नहीं किया गया है।

"(२) वह सिद्धान्त जो इस्लामके सिद्धान्तोंके विरुद्ध नहीं है। जैसे चन्द्रमामें इस वजहसे ग्रहण लगता है, कि उसके और सूर्यके बीचमें पृथवी आ बाधक हो जाती है। ऐसे सिद्धान्तोंका खंडन करना मेरा काम नहीं है। जो लोग ऐसे सिद्धान्तोंके इन्कार और झुठलानेको इस्लामका अंग समझते हैं, वह वस्तुतः इस्लामपर अन्याय करते हैं; क्योंकि इन सिद्धान्तोंकी बुनियाद गणित-शास्त्रकी युक्तियाँ हैं, जिनको जान लेनेपर उनकी सत्यतामें कोई सन्देह नहीं रह जाता। अब अगर कोई आदमी यह साबित करे, कि ये सिद्धान्त इस्लामके विरुद्ध हैं, तो विद्याके जानकार पुरुषके मनमें स्वयं इस्लामके प्रति सन्देह पैदा हो जायगा।

"(३) तीसरे प्रकारके वे सिद्धान्त हैं, जो कि इस्लामके निश्चित सिद्धान्तोंके विरुद्ध हैं, जैसे जगत्‌की अनादिता, क़यामतसे इनकार आदि। यही सिद्धान्त हैं जिनसे यहाँ हमें काम है, और जिनको झूठा साबित करना हमारी (इस) पुस्तकका प्रयोजन है।"

इसपर हमारे हम-वतन अल्लामा शिब्ली फ़र्माते हैं[1]—

"इस भूमिकाके बाद इमाम (ग़ज़ाली) साहबने दर्शनके २० सिद्धान्तोंको लिया है, और उनका खंडन किया है। लेकिन अफसोस है कि इमाम साहबकी यह मेहनत बहुत लाभदायक नहीं हुई; क्योंकि जिन सिद्धान्तोंको (उन्होंने) इस्लामके खिलाफ समझा है, उनमेंसे १७के बारेमें उन्होंने खुद पुस्तकके अन्तमें व्याख्या की है कि उनकी वजहसे किसीको काफिर नहीं बनाया जा सकता।"

(ग) बीस दर्शन-सिद्धान्त गलत—"दर्शन-खंडन"में ग़ज़ाली कितना सफल हुआ, इसपर अल्लामा शिब्लीकी राय आप पढ़ चुके, यहाँ हम यूनानी दर्शनके उन बीस सिद्धान्तोंको देते हैं (इनमेंसे बहुतसे हिन्दू-दर्शनमें भी पाये जाते हैं, इसके कहनेकी ज़रूरत नहीं)—

यूनानी दर्शन	ग़ज़ाली
१. जगत् अनादि	गलत
२. जगत् अनंत (=नित्य)	गलत
३. ईश्वरका जगत्-कर्त्ता होना भ्रम मात्र	गलत
४. ईश्वरका अस्तित्व	सिद्ध नहीं कर सकते
५. ईश्वर एक	सिद्ध नहीं कर सकते
६. ईश्वरमें गुण नहीं	गलत
७. ईश्वरमें सामान्य और विशेष नहीं	गलत
८. ईश्वर लक्षण-रहित (=अलख) सर्व-व्यापक मात्र है	सिद्ध नहीं कर सकते
९. ईश्वर शरीर-रहित	सिद्ध नहीं कर सकते
१०. दार्शनिक	को नास्तिक होना पड़ता है
११. ईश्वर अपने सिवा औरको जानता है	साबित नहीं कर सकते
१२. ईश्वर अपनेको जानता है	साबित नहीं कर सकते

[1] **"अलग़ज़ाली"**, पृष्ठ १०१

१३. ईश्वर व्यक्तियोंको नहीं जानता	गलत
१४. आसमान (=फरिश्ते) और प्राणी इच्छानुसार गति करते हैं	गलत
१५. आसमानकी गतिके लिए दिये गए कारण	गलत
१६. आसमान सारे (जगत्-)अवयवोंके जानकार हैं	गलत
१७. अप्राकृतिक घटना नहीं होती	गलत
१८. जीव एक द्रव्य है जो न गुण है न शरीर	साबित नहीं कर सकते
१९. जीव नित्य है	साबित नहीं कर सकते
२०. क़यामत (=प्रलय) और मुर्दोंका जी उठना नहीं होता	गलत

४—दार्शनिक विचार

ग़ज़ाली सभी दार्शनिक सिद्धान्तोंके विरोधी न थे, यह तो ऊपरके लेखसे साफ हो गया; अब हम यहाँ उनके कुछ सिद्धान्तोंको देते हैं—

(१) जगत् अनादि नहीं—यूनानी दार्शनिकोंका जगत्-नित्यतावाद इस्लामके लिए खतरेकी चीज थी, यह इस्लामके ईश्वर-अद्वैत (=तौहीद) पर ही सख़्त हमला न था, बल्कि अनीश्वरवादकी ओर खींचनेवाला जबर-दस्त हथियार था; जैसा कि ग़ज़ालीने "दार्शनिकको नास्तिक होना पड़ता है" अपनी प्रतिपाद्य विषयके बारेमें लिखते हुए प्रकट किया है। दार्शनिक कहते थे कि जगत् एक सान्त, गोल, किन्तु कालमें अनन्त—सदा रहनेवाला—है, सदासे वह ईश्वरसे निकलता आ रहा है, वैसे ही जैसे कि कार्य (घड़ा) अपने कारण (मिट्टी) से।

ग़ज़ालीका कहना है कि जो कालमें सान्तता मानता है, उसे देशमें भी सान्तता माननी पड़ेगी। यह कहना कि हम वैसा इसलिए मानते हैं क्योंकि देश बाहरी इन्द्रियोंका विषय है, किन्तु काल आन्तरिक इन्द्रिय (=अन्तः-करण)का, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, आखिर इन्द्रिय-ग्राह्य (विषय)-को तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। फिर जैसे देशका पिंड (=विषय)-के साथ एक संबंध है, उसी तरह कालका संबंध पिंड (=विषय)-

की गतिसे बराबर बना रहता है। काल और देश दोनों ही वस्तुओंके आपसी संबंधमात्र हैं—देश वस्तुओंकी उस स्थितिको प्रकट करता है, जो उनके साथ-साथ रहनेपर होती है, काल वस्तुओंकी उस स्थितिको बतलाता है, जो उनके एक साथ न रहनेपर (आगे-पीछे होनेसे) होती है। ये दोनों ही जगत्की वस्तुओं (=पिंडों, इन्द्रिय-विषयों)के भीतर और उनके साथ बने हैं, अथवा कहना चाहिए कि देश-काल हमारे मानस-प्रतिबिंबों (मनके भीतर जिन रूपोंमें वस्तुएँ ज्ञात या याद होती हैं)के पारस्परिक संबंध हैं, जिन्हें कि ईश्वरने बनाया है। इस प्रकार देश और कालमें एककी सान्तताको स्वीकार करना दूसरेकी सान्तताका नहीं करना, गलत है। दोनों ही वस्तुतः कृत और सादि हैं। और फिर सादि (देश-कालमें अवस्थित) जगत् भी सादि होगा। अतएव ईश्वरके सृजन (=जगत्-उत्पादन)में किसी जगत्-अनादिता आदिकी बात नहीं, वह जगत् बनानेमें सर्वत्र-स्वतन्त्र है।

(२) कार्यकारणवाद और ईश्वर—ग़ज़ालीके जगत्के आदि-अनादि होनेके बारेमें क्या ख्याल हैं, यह बतला चुके; किन्तु सवाल यहीं खतम नहीं हो जाता। यदि ईश्वरको सर्वतंत्र-स्वतंत्र—बिना कारण (मिट्टी)के कार्य (घड़ा) बनानेवाला—मानते हैं, तब तो कार्य-कारणका सवाल ही नहीं उठता, ईश्वर खुद हर वक्त वैसे ही बना रहा है, फिर तो इमाम अश्अरीका कार्य-कारण-रहित परमाणुवाद ठीक है। ग़ज़ालीके सामने दो मुसीबतें थीं। कार्यकारणवाद माननेपर यूनानी दार्शनिकोंकी भाँति जगत्को (प्रवाह या स्वरूपसे) अनादि मानना होगा; यदि कार्य-कारण-वादको न मानें तो अश्अरीके "परमाणुवाद"में फँसना पड़ेगा। आइये "तोहाफ़तुल्-फिलासफ़ा"से उनके शब्दोंमें इस बहसको लें—

"(यूनानी) दार्शनिकोंका ख्याल है, कि कार्य और कारणका जो संबंध दिखाई पड़ता है, वह एक नित्य (=समवाय) संबंध है; जिसकी वजहसे यह संभव नहीं कि कारण (मिट्टी)के बिना कार्य (घड़ा) पाया जाये। सारे साइंस (=प्रयोग-सिद्ध ज्ञान)का आधार इसी (कार्य-कारण)वादपर है।

"लेकिन मैं (ग़ज़ाली) जो इस (वाद)के विरुद्ध हूँ, उसकी वजह यह है कि इसके माननेसे पैगंबरोंकी करासात (=दिव्य चमत्कार) गलत हो जाती है; क्योंकि यदि यह स्वीकार कर लिया जाये, कि दुनियाकी हर चीजमें 'नित्य-संबंध' पाया जाता है, तो ऐसी अवस्थामें अ-प्राकृतिक घटनाएँ (=करामात) असंभव हो जायेंगी, और धर्मका आधार अप्राकृतिक घटनाओं (करामात, या कारण बिना ईश्वरके सृष्टि करनेके सिद्धान्त) पर है।[1] ....(इसीलिए हम मानते हैं कि) आग और आँचमें, सूर्योदय और प्रकाशमें कोई नित्य संबंध नहीं पाया जाता, बल्कि ये सारे कार्य-कारण ईश्वरकी इच्छासे (हर क्षण नये) पैदा होते हैं।"[2]

दार्शनिक वैसा क्यों मानते हैं? इसलिए कि "जलानेवाली चीज अर्थात् आग इच्छा करके नहीं जलाती, बल्कि वह अपने स्वभावसे मजबूर है कि कपड़ेको जलावे, अतएव यह कैसे संभव है कि आग कपड़ेको जलावे, किन्तु (किसी सिद्ध पुरुषकी आज्ञा मान अपनी इच्छाको रोक) मस्जिदको न जलावे।...."[3]

अब सवाल होगा कि आगके स्वभाव और उसकी मजबूरीका ज्ञान कैसे हुआ—

"साफ है कि इस प्रश्नका उत्तर सिवाय इसके और कुछ नहीं हो सकता कि आग जब कपड़ेमें लगाई जाती है तो हम सदा देखते हैं कि वह जला देती है, लेकिन हमें बार-बारके देखनेसे यदि कुछ मालूम होता है, तो वह यह है कि आगने कपड़ेको जलाया। (इससे) यह कैसे मालूम हुआ कि आग ही जलानेका कारण है। उदाहरणोंको देखो—सब जानते हैं कि विवाह-क्रियासे मानव-वंशकी वृद्धि होती है, किन्तु यह तो कोई नहीं कहता कि यह क्रिया बच्चेकी उत्पत्तिका (—नित्य संबंध होनेसे अवश्य ही—) कारण है?"[4]

---

[1] तोहाफ़तुल्-फिलासफ़ा, पृष्ठ ६४ [2] वही, पृष्ठ ६५
[3] वही, पृष्ठ ६६
[4] वही, पृष्ठ ६६

इस सारी बहससे ग़ज़ाली कार्य-कारणवादके किलेकी दीवारमें एक छोटा सा सूराख करना चाहते हैं, जिससे सृष्टिको सादि, ईश्वरको सर्वतंत्र-स्वतंत्र तथा पैगंबरोंकी करामातको सच्ची साबित कर सकें।

ग़ज़ाली यहाँ अश्अरीके "परमाणुवाद"के बहुत पास पहुँच गए हैं। किन्तु अब फिर उनको होश आता है, और कहते हैं[1]—

"कारणोंके कारण (ईश्वर)ने अपना कौशल दिखलानेके लिए यह ढंग स्वीकार किया है, उसने कार्योंको कारणोंसे बाँध दिया है,[2] कार्य अवश्य कारणके बाद अस्तित्वमें आयेगा, यदि कारणकी सारी शर्तें पाई जायँ। यह इस तरहके कारण हैं, जिनसे कार्योंका अस्तित्व बँधा हुआ है—वह कभी उनसे अलग नहीं होता; और यह भी ईश्वरकी प्रभुता और इच्छा है।....जो कुछ आसमान और जमीनमें है, वह आवश्यक क्रम और अनिवार्य नियम (=हक़)के अनुसार पैदा हुआ है। जिस तरह वह पैदा हुआ, और जिस क्रमसे पैदा हुआ, इसके विरुद्ध और कुछ हो ही नहीं सकता। जो चीज किसी चीजके बाद पैदा हुई, वह इसी वजहसे हुई कि उसका पैदा होना इसी शर्तपर निर्भर था।...जो कुछ दुनियामें है, उससे बेहतर या उससे पूर्णतर संभव ही नहीं था। यदि संभव था और तब भी ईश्वरने उसको रख छोड़ा, और उसको पैदा करके अपने अनुग्रहको प्रकट नहीं किया, तो यह कृपासे उलटी कृपणता (=कंजूसी) है, उलटा जुल्म है। यदि वैसा संभव होनेपर भी ईश्वर वैसा करनेमें समर्थ नहीं है, तो इससे ईश्वरकी बेचारगी साबित होती है, जो कि ईश्वरताके विरुद्ध है।"[2]

(३) ईश्वरवाद—ग़ज़ालीका दार्शनिकोंसे जिन बीस बातोंमें मतभेद है, उनमें तीन मुख्य हैं, एक "जगत्की अनादिता" जिसके बारेमें कहा जा चुका। दूसरा मतभेद स्वयं ईश्वरके अस्तित्वके संबंधमें है।

---

[1] **"मुसब्बबुल्-अस्बाब् इज्रा सनतन् बे-रब्तिल्-मुसब्बबाते बिल्-अस्बाबे इज्हारन् लिल्-हिकमते।"** [2] **'अह्याउल्-उलूम्'।**

दार्शनिक ईश्वरको सर्वश्रेष्ठ तत्त्व माननेके लिए तैयार हैं, किन्तु साथ ही वह कहते हैं कि वह ज्ञानमय (=ज्ञानसार) है। जो (उसके) ज्ञानमें है, वही उससे निकलकर अस्तित्वमें आता है; किन्तु वह इच्छा नहीं करता, इच्छा तभी होती है, जब कि किसी बातकी कमी हो। इच्छा भौतिक पदार्थोंके भीतरकी गति है—पूर्णसत्य आत्मा (=ब्रह्म) किसी बातकी इच्छा नहीं कर सकता। इसलिए ईश्वर अपनी सृष्टिको ध्यानमें पाता है, उसमें इच्छाके लिए गुंजाइश नहीं।

किन्तु ग़ज़ाली ईश्वरको इच्छारहित माननेको तैयार नहीं। उनके मतसे (ईश्वरकी इच्छा) सदा उसके साथ रहती है, और उसी इच्छासे वह सृष्टिको बिना किसी मजबूरी (प्रकृति-जीव तत्त्वोंके पहिलेसे मौजूद होने)के बनाता है। दार्शनिकोंके लिए ईश्वरका ज्ञान सृष्टिका कारण है, ग़ज़ालीके लिए ईश्वरकी इच्छा; चूँकि वह इच्छापूर्वक हर चीज-को बनाता है, इसलिए उसे सिर्फ वस्तु सामान्यका ही ज्ञान नहीं बल्कि वस्तु-व्यक्ति (=एक-एक वस्तु)का भी ज्ञान है, और इस तरह ग़ज़ाली **भाग्यवाद**के फंदेमें फँसते हैं, और फिर कर्म-स्वातंत्र्य न होनेसे मनुष्यके उद्योगपरायण होने आदिकी शिक्षा बेकार हो जाती है।

(४) **कर्मफल**—ईश्वरको सर्वतंत्र-स्वतंत्र (प्रकृति-जीव तत्त्वों पर निर्भर न होना) सिद्ध करनेके लिए इस्लामके वकील ग़ज़ालीको जगत्-का सादि होना, तथा ईश्वरको इच्छावान् मानना पड़ा; "ईश्वरेच्छा बलीयसी" माननेपर भाग्यवादसे बचना असंभव हुआ। जीवका पहिले-पहिल एक ही बारके लिए जगत्में उत्पन्न होना यह सिद्धान्त ऊपरकी बातों-को लेते हुए ग़ज़ालीको और मुश्किलमें डाल देता है। आखिर खुदाने मनुष्योंकी मानसिक शारीरिक योग्यतामें भेद क्यों किया ?—खैर इसका उत्तर तो वह दे नहीं सकते थे, क्योंकि उसकी न्यायताके लिए उन्हें पिथागोर या हिन्दुओंकी भाँति पुनर्जन्म मानना पड़ता, और फिर जगत्-जीव-अनादिताका सवाल उठ खड़ा होता। किन्तु इस्लामने कर्मके अनु-सार सजा-इनाम (नर्क-स्वर्ग) पानेकी जो बात कही है, उससे भी ईश्वरपर

आक्षेप आता है। सजा (=दंड) सिर्फ दो ही मतलबसे दी जा सकती है या तो बदला लेनेके लिए, जो कि ईश्वरके लिए शोभा नहीं देता; अथवा सुधारनेके लिए किन्तु वह भी ठीक नहीं क्योंकि सुधारके बाद मनुष्यको फिर कार्यक्षेत्रमें उतरने (जगत्में पुन: जन्मने) का मौका कहाँ मिलता है? ईश्वरको ऐसा करनेसे अपने लिए कोई लाभकी इच्छा हो, यह बात मानना तो ईश्वरकी ईश्वरतापर भारी धब्बा होगा। इस शंकाका उत्तर ग़ज़ालीने अपनी पुस्तक "मज़मून बे: अला-गैर-अहले-ही" में दिया है।—जिसका भाव यह है—स्थूल जगत्में कार्यकारणका जो क्रम देखा जाता है, उससे किसीको इन्कार नहीं हो सकता। संखिया घातक है, गुलाब जुकाम पैदा करता है। यह चीजें जब इस्तेमाल की जायेंगी तो उनके असर ज़रूर प्रकट होंगे। अब यदि कोई आदमी संखिया खाये और मर जाए, तो यह आक्षेप नहीं किया जा सकता, कि ईश्वरने क्यों उसको मार डाला, या ईश्वरको उसके मार डालनेसे क्या मतलब था। मरना संखिया खानेका एक अनिवार्य परिणाम है। उसने संखिया अपनी खुशीसे खाई और जब खाई, तो उसके परिणामका प्रकट होना अवश्यंभावी था। यही बात आत्मिक जगत्में भी है। भले बुरे जितने कर्म हैं, उनका अच्छा-बुरा प्रभाव जीवपर लगातार होता है। अच्छे कामोंसे जीवमें दृढ़ता आती है, बुरे कामोंसे गंदगी। यह परिणाम किसी तरह रुक नहीं सकते। जो आदमी किसी बुरे कामको करता है, उसी समय उसके जीवपर एक खास प्रभाव पड़ जाता है, इसीका नाम सज़ा (दंड) है। मान लो एक आदमी चोरी करता है, इस कामके करने-के साथ ही उसपर भय सवार हो जाता है। वह चाहे पकड़ा जाये या नहीं, दंडित हो या नहीं, उसके दिलपर दाग लग चुका, और यह दाग मिटाए नहीं मिट सकता। जिस तरह ईश्वरपर यह आक्षेप नहीं हो सकता कि संखिया खानेपर ईश्वरने अमुक आदमीको क्यों मार डाला, उसी तरह यह आक्षेप भी नहीं हो सकता कि बुरा काम करनेके लिए, ईश्वरने दंड क्यों दिया? क्योंकि उस बुरे कामका यह अवश्यंभावी परिणाम था, इस-लिए वह हुए बिना नहीं रह सकता था। ग़ज़ालीके अपने शब्द हैं—

"भगवान्के ग्रंथके विधि-निषेधोंके अनुसार न चलनेपर जो फल (=अज़ाब) होगा, वह क्रोध या बदला लेना नहीं है। उदाहरणार्थ जो आदमी बीवीसे प्रसंग नहीं करेगा, ईश्वर उसे सन्तान नहीं देगा, जो आदमी खाना-पीना छोड़ देगा, ईश्वर उसे भूख-प्यासकी तकलीफ देगा। पापी-पुण्यात्माका क़यामत (=ईश्वरीय न्यायके दिन) की यातनाओं और सुखोंके साथ यही संबंध है। पापीको क्यों यातना दी जायेगी—यह उसी तरह कहना है कि प्राणी विषसे क्यों मर जाता है, और विष क्यों मृत्युका कारण है ?"

ईश्वरने अपने धार्मिक विधि-निषेधोंकी जहमतमें आदमियोंको क्यों डाला, इसके उत्तरमें ग़ज़ाली कहते हैं—

"जिस तरह शारीरिक रोगोंके लिए चिकित्सा-शास्त्र (वैद्यक) है, उसी तरह जीवके लिये भी एक चिकित्सा-शास्त्र है, और वंदनीय पैगंबर लोग उसके वैद्य हैं। कहनेका ढंग है कि बीमार इसलिए अच्छा नहीं हुआ कि वह वैद्य (की आज्ञा) के विरुद्ध गया, इस वजहसे अच्छा हुआ कि वैद्यकी आज्ञाका पालन किया। यद्यपि रोगका बढ़ना इसलिए नहीं हुआ कि रोगी वैद्य (की आज्ञा) के विरुद्ध गया; बल्कि (असली) वजह यह थी, कि उसने स्वास्थ्यके उन नियमोंका अनुसरण नहीं किया, जो कि वैद्यने उसे बताए थे।"[1]

(५) जीव (=रूह)—पैगंबर मुहम्मदको भी लोगोंने जीवके बारेमें सवाल करके तंग किया था, जिसपर अल्लाहने अपने पैगंबरको यह जवाब देनेके लिये कहा—"कह जीव मेरे रबके हुक्मसे है"[2]। जब कुरान और पैगंबर तकको इससे ज्यादा कहनेकी हिम्मत नहीं है, तो ग़ज़ालीका आगे बढ़ना खतरेसे खाली नहीं होता, इसलिए बेचारोंने "अह्याउल्-उलूम्" में यह कहकर जान छुड़ानी चाही, कि यह उन रहस्योंमें है, जिनको

---

[1] "मज्नून बेः अला-ग़ैरे-अह्ले-ही", पृष्ठ १०

[2] "क़ुल् अ'र्-रूहो मिन्-अम्रे रब्बी"—क़ुरान

प्रकट करना ठीक नहीं; लेकिन "मज़्नून-सग़ीर" में उन्होंने इस चुप्पीको तोड़ना ज़रूरी समझा—आखिर "रबके हुक्मसे" जीवका होना बद्दुओं-को सन्तोष भले ही दे सकता था, किन्तु फ़ाराबी और सीनाके शागिर्दोंको उससे चुप नहीं किया जा सकता था; इसलिए ग़ज़ाली दर्शनकी भाषामें कहते हैं—"वह (जीव) द्रव्य है, शरीर नहीं। उसका संबंध बदनसे है, किन्तु इस तरह कि न शरीरसे मिला न अलग, न भीतर न बाहर, न आधार न आधेय।"

द्रव्य है—क्योंकि जीव वस्तुओंको पहिचानता है, पहिचानना या पहिचान एक गुण है। गुण विना द्रव्यके हो नहीं सकता, अतएव जीवको जरूर द्रव्य होना चाहिए, अन्यथा उसमें गुण नहीं रह सकता।

शरीर नहीं है, क्योंकि शरीर होनेपर उसमें लंबाई चौड़ाई होगी, फिर उसके अंश हो सकेंगे; अंश हो सकनेपर यह हो सकता है, कि एक अंशमें एक बात पाई जाये और दूसरे अंशमें उससे विरुद्ध बात जैसे लकड़ीके फट्ठेमें आधेका रंग सफ़ेद, आधेका रंग काला। और फिर यह भी संभव है, कि जीवके एक भागमें राम (जिसका कि वह जीव है)का ज्ञान हो, और दूसरे भागमें उसी रामकी बेवकूफ़ीका। ऐसी अवस्थामें जीव एक ही समयमें एक वस्तुका जानकार भी हो सकता है, और गैरजानकार भी। और यह असंभव है।

न मिला न अलग, न भीतर न बाहर है, क्योंकि यह गुण शरीर (=पिंड)के हैं, जब जीव शरीर ही नहीं है तो वह मिला-अलग-भीतर-बाहर कैसे हो सकता है।

क़ुरान और आप्त पुरुषोंने जीव क्या है, इसे बतानेसे इन्कार क्यों किया, इसका उत्तर ग़ज़ाली देते हैं—दुनियामें साधारण और असाधारण दो तरहके लोग हैं। साधारण लोगोंकी तो बुद्धिमें ही जीव जैसी चीज नहीं आयेगी, इसीलिए तो **हंबलिया** और **करामिया** सम्प्रदायवाले ईश्वर-को साकार मानते हैं, क्योंकि उनके ख्यालसे जो चीज साकार नहीं उसका अस्तित्व नहीं हो सकता। जो व्यक्ति साधारण लोगोंकी अपेक्षा कुछ

विस्तृत विचार रखते हैं, वह शरीरका निषेध करते हैं, तो भी ईश्वरका दिशावान होना मानते हैं। अश्-अरिया और मोतज़ला सम्प्रदायवाले इस तरहके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं जिसमें न शरीर हो, न दिशा। लेकिन वह इस प्रकारके अस्तित्वको सिर्फ ईश्वरके व्यक्तित्त्व तथा ईश्वरके गुणके साथ ही मानते हैं। यदि जीवका अस्तित्व भी इस तरहका हो, तो उनके विचारसे ईश्वर और जीवमें कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। जैसे भी देखें, चूँकि जीवकी वास्तविकता क्या है यह साधारण और असाधारण दोनों प्रकारके लोगोंकी समझसे बाहरकी बात थी, इसलिए उसके बतानेसे टालमटोल की गई।

ग़ज़ालीने जीवका जो लक्षण बतलाया है, वह यूनानी और भारतीय दर्शन जाननेवालोंके लिए नई बात नहीं है।

"न हन्यते हन्यमाने शरीरे"की आवाजमें आवाज मिलाते हुए ग़ज़ाली कहते हैं—

"व लैस'ल्-बद्नो मिन् क़वामे ज़ाते-का
फ़ इन्हदाम'ल्-बद्ने ला यअ्दमो-का।"

("शरीर तेरे अपने लक्षणों (स्वरूपों)में नहीं है, इसलिए शरीरका नष्ट होना तेरा नष्ट होना नहीं है।")

(६) क़यामतमें पुनरुज्जीवन—जो मनुष्य दुनियामें मरते हैं, वह क़यामत (=अन्तिम न्याय)के दिन फरिश्ता इस्राफीलके नरसिंगे (=सूर)के बजते ही उठ खड़े होंगे। इस तरहके पुनरुज्जीवनको इस्लाम भी दूसरे सामीय (यहूदी, ईसाई) धर्मोंकी भाँति मानता है। बद्दुओंमें भी कुछ वस्तुवादी थे, जो इसे ख़ामख़ाकी कबाहत समझते थे, जैसा कि बद्दू कवि अल्-हाद अपनी स्त्रीको सुनाकर कहता है—

"अमोतो सुम्म बअ्स सुम्म नश्रा। हदीसे ख़ुराफात या' उम्-अम्रू"

(मरना फिर जीना फिर चलना-फिरना। अमरू की माँ! यह तो ख़ुराफातकी बातें हैं।) ग़ज़ाली इस बातको अपने और दार्शनिकोंके बीचके तीन बड़े मतभेदोंमें मानता है। दार्शनिक सिर्फ जीवको अमर मानते हैं,

शरीरको वह नश्वर समझते हैं। इस्लाममें क़यामतमें मुर्दोंके जिन्दा उठ खड़े होनेको लेकर दो तरहके मत थे—(१) एक तो अब्दुल्ला बिन्-अब्बास जैसे लोगोंका जो कि क़यामतके बाद मिलनेवाली सारी चीजोंको आजकी दुनियाकी चीजोंसे सिर्फ नाममात्रकी समानता मानते थे—शराब होगी किन्तु उसमें नशा न होगी, आहार होगा किन्तु पेशाब-पाखाना नहीं होगा। इसी तरह शरीर मिलेगा किन्तु यही शरीर नहीं। (२) दूसरा गिरोह अश्-अरियोंका था, जो कि क़यामतवाले जिस्म क्या सभी चीजोंको इसी दुनियाकी तथा बिलकुल ऐसी ही मानते थे। इनके अलावा तीसरा गिरोह बाहरी विचारों और दर्शनसे प्रभावित सूफी लोगोंका था जो कहते थे—

"हूर-ो ख़ुल्द-ो कौसर् ऐ वाअ़ज़ अगर ख़ुश्कर्द ईं।
वज़्मे मा-हम् शाहिद-ो नक़्ल-ो शराबे बेश् नेस्त॥"

(धर्मवक्ता ! अप्सरा, बाग और नहर यदि स्वर्गमें हमें ख़ुश करनेके लिए हैं, तो वह हमारी आमोदमंडली और शराबसे बेहतर तो नहीं हैं।)

ग़ज़ाली तीसरे पथके पथिक होते हुए भी पहिले दो गिरोहोंको अपने साथ रखना चाहते थे—

"बहारे-आलमे-हुस्न-श् दिल-ो जाँ ताज़ मी-दारद्।
ब-रंग'स्हाबे-सूरतरा ब-बू अर्बाबे-मानी-रा॥"

(उस प्रियतमके सौंदर्यकी दुनियाकी बहार अपने रंगसे सूरतके प्रेमियोंके और सुगंधसे भावके प्रेमियोंके दिलो-जानको ताजा रखती है।)

खैर ! यह तो वहिश्तमें मिलनेवाली दूसरी चीजोंकी बात कही। सवाल फिर भी वही मौजूद है—क़यामतमें जिन्दा हो उठेको वही पुराना छोड़ा शरीर मिलेगा या दूसरा ? अश्-अरियोंका कहना था—बिलकुल वही शरीर और वैसी ही आकृति (सूरत)। इसपर प्रश्न होता था—जो चीज नष्ट हो गई उसका फिर लौटकर अस्तित्वमें आना असंभव है। और फिर मान लो एक आदमी दूसरे आदमीको मारकर खा गया, और एकके शरीर-परमाणु दूसरेके शरीर-परमाणु बन गए तो हत्यारेका शरीर क़यामतमें यदि ठीक वही हो जो कि दुनियामें था, तो मारे गए

व्यक्तिका शरीर बिलकुल वैसा ही नहीं हो सकता।

ग़ज़ालीका मत है, कि कयामतमें मुर्दे जिन्दा हो उठेंगे, यह ठीक है, शरीर बिलकुल वही पुराना होगा यह ज़रूरी नहीं।

(७) सूफ़ीवाद—ग़ज़ालीका लड़खड़ाता पैर सूफीवादके सहारे सँभल गया, इसके बारेमें पहिले भी कहा जा चुका है, और उसके समकालीन किसी महाविद्वानकी गवाही चाहते हों तो अबुल्-वलीद तर्तूशीके शब्द सुनिए—

"मैंने ग़ज़ालीको देखा। निश्चय, वह अत्यन्त प्रतिभाशाली, पंडित, शास्त्रज्ञ है। बहुत समय तक वह अध्ययन-अध्यापनमें लगा रहा; किन्तु अन्तमें सब छोड़-छाड़कर सूफियोंमें जा मिला, और दार्शनिकोंके विचारों तथा मन्सूर-हल्लाज (सूफी)के रहस्य (वचनों)को मजहबमें मिला दिया। फक़ीहों (=इस्लामिक मीमांसकों) तथा वाद-शास्त्रियों (=मुत्कल्लमीन्) को उसने बुरा कहना शुरू किया, और मजहबकी सीमासे निकलनेवाला ही था। उसने "अह्याउल्-उलूम्" लिखा, तो चूँकि .... पूरी जानकारी नहीं थी इसलिए मुँहके बल गिरा, और सारी किताबमें निर्बल प्रमाणवाली (मौज़ूअ) पैगंबर-वचनों(-परंपरा)को उद्धृत किया।"

तर्तूशी बेचारे रटन्तू पीर थे, इसलिए वह ग़ज़ालीकी दूरदर्शिता, और विचार-गांभीर्यको क्यों समझने लगे, उन्होंने तो इतना ही देखा, कि वह उनके जैसे फकीहों और मुत्कल्लमीनों (=मुलंटों)के हलवे-मांडेपर भारी हमला कर रहा है।

सूफीवादपर ग़ज़ालीकी कितनी आस्था थी, इसका पता उनके इन शब्दोंसे मालूम होता है—

"जिसने तसव्वुफ (=सूफीवाद)का मज़ा नहीं चखा है, वह पैगंबरी क्या है, इसे नहीं जान सकता, पैगंबरीका नाम भले ही जान ले।.... सूफियोंके तरीकेके अभ्याससे मुझको पैगंबरीकी असलियत और विशेषता प्रत्यक्षकी तरह मालूम हो गई।"[1]

---

[1] **"मुनक्क़ज़् मिन'ल्-ज़लाल"।**

ग़ज़ालीके पहिले हीसे इस्लाममें भीतर-भीतर सूफ़ी-मत फैल चुका था, यह हम बतला चुके हैं किन्तु ग़ज़ालीने ही उसको एक सुव्यवस्थित शास्त्रका रूप दिया। ग़ज़ालीके पहिले सूफ़ीवादपर दो पुस्तकें लिखी जा चुकी थीं—

(१) "क़ूवतु'ल्-क़ुलूब" अबूतालिब मक्की।
(२) "रिसाला क़ेसरिया" इमाम क़ेसरी।

पहिले कुछ लोग कर्म-योग (शौच-संतोष आदि)पर जोर देते थे, और कितने ही समाधि-योग (=मुकाशफा)पर। ग़ज़ाली पहिले शख़्स थे जिन्होंने दोनोंको बड़ी खूबीके साथ मिलाया, जैसे कि इतिहासका दार्शनिक इब्न-खल्दून कहता है[1]—

"ग़ज़ालीने **अह्याउल्-उलूम्**में दोनों तरीकोंको इकट्ठा कर दिया.... जिसका परिणाम यह हुआ कि सूफ़ीवाद (=तसव्वुफ) भी एक बाकायदा शास्त्र बन गया, जो कि पहिले उपासनाका ढंग मात्र था।"

सूफ़ियोंका "अहं ब्रह्मवाद" (अन'ल्-हक़) शंकरके ब्रह्मवाद जैसा है। सूफ़ी बहस नहीं करना चाहते, वह जानते हैं, बुद्धिको वह दर्शनसे कुंठित नहीं कर सकते, इसीलिए रहस्यवादकी शरण लेते हैं।

"ज़ौक़े-ईं बादा न दानी ब-खुदा ता न चशी।"

(खुदाकी कसम! जब तक नहीं पीता, तब तक वह इस प्यालेका स्वाद नहीं जान सकता।)

ग़ज़ालीका सूफ़ीवाद क्या था, इसे हम पहिले सूफ़ीवादके प्रकरणमें दे आए हैं, इसलिए यहाँ दुहरानेकी ज़रूरत नहीं।

(८) पैग़ंबरवाद—दार्शनिकोंका इस्लाम और सभी सामीय धर्मोंपर एक यह भी आक्षेप था, कि वह इस तरहकी भोली-भाली बातोंपर विश्वास करते हैं—खुदा अपनी ओरसे खास तरहके आदमियों (=पैगंबरों) को तथा उनके पास अपनी शिक्षा-पुस्तक भेजता है। ग़ज़ाली पैगंबरीको ठीक साबित करते हुए कहते हैं—[2]

---

[1] **"मुक़द्दमये-तारीख़"**। [2] **"मुनक़्क़ज़ मिन'ल्-जलाल"**।

"आदमी जन्मते बिलकुल अज्ञ पैदा होता है। पैदा होते वक्त वह....किसी चीजसे परिचित नहीं होता। सबसे पहिले उसे स्पर्शका ज्ञान होता है, जिसके द्वारा वह उन चीजोंसे परिचय प्राप्त करता है, जो कि छूनेसे संबंध रखती हैं, फिर गर्मी-सर्दी, खुश्की-नमी, नर्मी-सख्तीको। ....फिर देखनेकी शक्ति...फिर सुनने....चखनेकी शक्ति....। इस तरह इन्द्रियाँ (तैयार हो जाती हैं)...। फिर नया युग शुरू होता है। अब उसे विवेककी शक्ति प्राप्त होती है, और वह उन चीजोंकी जानकारी प्राप्त करता है, जो इन्द्रियोंकी पहुँचसे बाहर हैं। यह युग सातवें वर्षसे शुरू होता है। इससे बढ़नेपर बुद्धि (=अक्ल)का युग आता है, जिससे संभव-असंभव, उचित-अनुचितका ज्ञान होता है। इससे बढ़कर एक और दर्जा है, जो बुद्धिकी सीमासे भी आगे है; जिस तरह विवेक और बुद्धिके ज्ञेयों (=विषयों)की जानकारीके लिए इन्द्रियाँ बिलकुल बेकार हैं, उसी तरह इस दर्जेके ज्ञेयों (=विषयों)के लिए बुद्धि बिलकुल बेकार है। इसी दर्जेका नाम पैगंबरी (=नबूवत्) है।"

पैगंबर और उसके पास खुदाकी ओरसे भेजे संदेश (=वही)के बारेमें ग़ज़ालीका कहना है[1]—

"मनुष्योंमें कोई इतना जड़बुद्धि होता है कि समझानेपर भी बहुत मुश्किलसे समझता है। कोई इतना तीक्ष्णबुद्धि होता है कि जरासे इशारे-से समझ जाता है। कोई इतना पूर्ण (प्रतिभा रखनेवाला) है, कि बिना सिखाए सारी बातें उसके मनसे पैदा होती हैं।....बंदनीय पैगंबरोंकी यही उपमा है, क्योंकि बिना किसीसे सीखे-सुने उनके मनमें सूक्ष्म बातें स्वयं खुल जाती हैं। इसीका नाम अल्हाम (=ईश्वर-संदेशका पाना) है, और आँ-हजरत (मुहम्मद)ने जो यह फर्माया कि पवित्रात्माने मेरे दिलमें यह फूँका, उसका यही अभिप्राय है।"

पैगंबरीके लिए करामात (=चमत्कार)को प्रमाण माना जाता है, और

---

[1] "अह्याउ'ल्-उलूम्"।

करामातको ठीक सिद्ध करनेके लिए ग़ज़ालीकी क्या दलील है, यह कार्य-कारणवादके प्रकरणमें बतलाया जा चुका है।

(९) क़ुरानकी लाक्षणिक व्याख्या—मोतज़ला और पवित्र-संघ (=अख़वानुस्सफा)के वर्णनमें बतलाया जा चुका है, कि वह कुरानके कितने ही वाक्योंका शब्दार्थ छोड़ लाक्षणिक अर्थ ले अपने मतकी पुष्टि करते थे। इमाम अहमद बिन्-हंबल लाक्षणिक अर्थका सबसे जबरदस्त दुश्मन था। वह समझता था, कि यदि इस तरह लाक्षणिक अर्थ करनेकी आजादी दी जायेगी, तो अरबी इस्लामको सिर्फ क़ुरानके लफ़्जोंको लेकर चाटना पड़ेगा लेकिन निम्नोक्त पैगंबर-वाक्यों (=हदीसों)में उसे भी मुख्यार्थकी जगह लाक्षणिक अर्थ स्वीकार करना पड़ा—

"(काबाका) कृष्ण-पाषाण (=संग-असवद्) खुदाका हाथ है।" "मुसलमानोंका दिल खुदाकी अँगुलियोंमें है।" "मुझको यमनसे खुदाकी खुश्बू आती है।"

सूफियोंका तो लाक्षणिक अर्थके बिना काम ही नहीं चल सकता, और ग़ज़ाली किस तरह बहिश्तके बागों-हूरों-शराबोंका लाक्षणिक अर्थ करते हैं, इसका वर्णन किया जा चुका है।

(१०) धर्ममें अधिकारिभेद—हर एक सूफीके लिए मुल्लोंकी चोट-से बचनेके लिए बाहरसे शरीअतकी पाबंदीकी भी जरूरत है, साथ ही तसव्वुफ (=सूफीवाद)के प्रति सच्चा-ईमान रखनेसे उसे बहुतसी शरीअत-की पाबंदियों और विचारोंका भीतरसे विरोध करना पड़ता है। इस "भीतर कुछ बाहर कुछ"की चालसे लोगोंके मनमें सन्देह हो सकता है, इसलिए अधिकारि-भेदके सिद्धान्तकी कल्पना की गई। इसका कुछ ज़िक्र साधारण और असाधारण लोगके तौरपर "कयामतमें पुनरुज्जीवन"के प्रकरणमें आ चुका है। इस अधिकारिभेदवाले सिद्धान्तकी पुष्टिमें पैगंबरके दामाद तथा चौथे खलीफा (शीओंके सर्वस्व) अलीका वचन उद्धृत किया जाता है[1]—

---

[1] "सहीह-बुख़ारी"।

"जो बात लोगोंकी अक़्लमें आए वह उनसे बयान करो, और जो न आए उसे छोड़ दो।"

ग़ज़ालीने वैसे तो बातनी शीओंके विरुद्ध कई पुस्तकें लिखी थीं, मगर जहाँ तक अलीके इस वचनका संबंध है, वह उनसे बिलकुल सहमत थे। यहाँ अपने विरोधियोंको फटकारते हुए वह कहते हैं—

"विद्याओंके गुप्त और प्रकट दो भेद होनेसे कोई समझदार आदमी इन्कार नहीं कर सकता। इससे सिर्फ वही लोग इन्कार करते हैं जिन्होंने बचपनमें कुछ बातें सीखीं और फिर उसीपर जम गए।"[१]

अपने मतलबको और स्पष्ट करते हुए ग़ज़ाली दूसरी जगह लिखते हैं[२]—

"खुदाने (कुरानमें) कहा है—'बुला, अपने भगवान्के पथकी ओर हिक्मत (=युक्ति) और सुन्दर उपदेशके द्वारा और ठीक तरह बहस कर।'[३] जानना चाहिए कि हिकमत (=युक्ति)के द्वारा जो लोग बुलाए जाते हैं वह और हैं; और जो नसीहत और बहसके जरिएसे बुलाए जाते हैं वह और। यदि हिकमत (=दर्शन) उन लोगोंके लिए इस्तेमाल की जाय जो कि नसीहतके अधिकारी हैं, तो उनको नुकसान होगा—जिस तरह दुधमुँहें बच्चेको चिड़ियाका गोश्त खाना नुकसान करता है। और नसीहतको यदि उन लोगोंके लिए इस्तेमाल किया जाये जो कि हिकमत (=दर्शन)के अधिकारी हैं, तो उनको घृणा होगी—जैसे कि बलिष्ठ आदमीको औरतका दूध पिलाया जाय। और नसीहत यदि पसंद लगनेवाले ढंगसे न की जाय, तो उसकी मिसाल होगी सिर्फ खजूर खानेकी आदतवाले बद्दूको गेहूँका आटा खिलाना।...."

(११) बुद्धि (=दर्शन) और धर्मका समन्वय—हम ग़ज़ालीकी जीवनीमें भी देख चुके हैं, किस तरह बगदाद पहुँचनेपर उनके हृदयमें

---

[१] **"अह्याउल्-उलूम्"।** [२] **"क़स्तास् मुस्तक़ीम्"।**

[३] **"अद्ऊ इला-सबीले रब्बि-क बि'ल्-हिक्मते, व'ल्-मोअ़ज़ति'ल्-हस्नते व जादल्-हुम् बि'ल्-लती हिया अह्-सनो"।**

धर्म (=मजहब) और बुद्धिका झगड़ा खड़ा हुआ, और तर्तूशीके शब्दोंमें वह "मजहबसे निकलनेवाला ही था।" किन्तु उन्होंने अपने भीतर बुद्धि और धर्ममें समन्वय (=समझौता) करनेमें सफलता पाई, उनके सूफीवाद, अधिकारिभेदवाद, लाक्षणिकव्याख्यावाद, इसी तरफ किये हुए प्रयत्न हैं। ग़ज़ालीका यह प्रयत्न खतरेसे खाली न था, इसका उदाहरण तो संजरके सामने उसकी तलबीके बयानमें देख चुके हैं। ग़ज़ालीके जीवनहीमें उनकी कीर्ति इस्लामिक जगत्में दूर दूरतक फैल गई थी। किस तरह उनके शिष्य मुहम्मद (इब्न-अब्दुल्लाह) तोमरतने स्पेन-मराकोके मुसलमानोंमें "ग़ज़ाली संप्रदाय" फैलाने तथा एक नये मोहिदीन राजवंशकी स्थापनामें सफलता पाई, इसे हम आगे बतलानेवाले हैं; किन्तु तोमरतकी सफलताके पहिले ग़ज़ालीके जीवनहीमें ५०० हिजरी (११०७ ई०) में ऐसा मौका आया, जब कि स्पेनमें खलीफा अली (इब्न-यूसुफ) बिन्-वाशकीनके हुक्मसे मरियामें ग़ज़ालीकी पुस्तकों—खासकर "अह्याउल्-उलूम्"—को बड़े मजमेके सामने जलाया गया।

विरोधको देखते हुए भी ग़ज़ालीने तै कर लिया था, कि बुद्धि और धर्मके झगड़ेमें उनकी क्या स्थिति होनी चाहिए—

"कुछ लोगोंका ख्याल है, कि बौद्धिक विद्याओं तथा धार्मिक विद्याओं में (अटल) विरोध है, और दोनोंका मेल कराना असंभव है; किन्तु यह विचार कमसमझीके कारण पैदा होता है।"[1]

"जो आदमी बुद्धिको तिलांजलि दे सिर्फ (अंध-)अनुगमनकी ओर लोगोंको बुलाता है, वह मूर्ख (=जाहिल) है, और जो आदमी केवल बुद्धि-पर भरोसा करके कुरान और हदीस (=पैगंबर-वचन) की पर्वा नहीं करता वह घमंडी है। खबरदार! तुम इनमें एक पक्षके न बनना। तुमको दोनोंका समन्वय (=जामेअ) होना चाहिए, क्योंकि बौद्धिक विद्याएं आहारकी तरह हैं, और धार्मिक विद्याएं दवाकी तरह।"[2]

---

[1] "अह्याउल्-उलूम्"। [2] वही।

बौद्धिक विद्याओंके प्रति उनके यही विचार थे, जिन्होंने ग़ज़ालीको यह लिखनेके लिए मजबूर किया कि दर्शनके अंधशत्रु इस्लामके नादान दोस्त हैं—

"बहुत से लोग इस्लामकी हिमायतका अर्थ यह समझते हैं कि दर्शन-के सभी सिद्धान्तोंको धर्मके विरुद्ध साबित किया जाये। लेकिन चूँकि दर्शनके बहुतसे सिद्धान्त ऐसे हैं, जो पक्के प्रमाणोंसे सिद्ध हैं, इसलिए जो आदमी उन प्रमाणोंसे अभिज्ञ है, वह उन सिद्धान्तोंको पक्का समझता है। इसके साथ जब उसे यह विश्वास दिलाया जाता है, कि ये सिद्धान्त इस्लामके विरुद्ध हैं, तो उन सिद्धान्तोंमें सन्देह होनेकी जगह, उसे खुद इस्लाममें सन्देह पैदा हो जाता है। इसके कारण इन नादान दोस्तोंसे इस्लामको सख्त नुकसान पहुँचता है।"

ग़ज़ालीके ये विचार सनातनी विचारोंके मुसलमानों तथा उनको हर वक्त भड़कानेके लिए तैयार मुल्लोंको अपना विरोधी बनानेवाले थे, इसे फिरसे कहनेकी ज़रूरत नहीं। तो भी ग़ज़ालीका प्रयत्न सफल हुआ, इसे उनके विरोधी इब्न-तैमियाके ये शब्द बतला रहे हैं[१]—

"मुसलमान और आँखवाले (मुल्ले?) लोग तर्क (=शास्त्रियों)के ढंगको समझते आते थे। इस (तर्क)के प्रयोगका रवाज अबू-हामिद (ग़ज़ाली)के समयसे हुआ, उसने यूनानी तर्क शास्त्रके मन्तव्योंको अपनी पुस्तक—मुस्तस्फी—में मिला लिया।"

५—सामाजिक विचार

हो नहीं सकता था, कि ग़ज़ालीके जैसा उर्वर मस्तिष्क अपने विचारोंको दर्शन और धर्म तक ही सीमित रखता। यहाँ उसके समाज-संबंधी विचारोंपर भी कुछ प्रकाश डालना चाहते हैं।

(१) राजतंत्र-संबंधी—ग़ज़ालीने इस्लामी साहित्यमें कबीलोंके भीतरकी सादगी, भाईचारा आदिके बहुतसे उदाहरण पढ़े थे, जब वह उनसे

[१] "अर्-रद्द अल'ल्-मन्तिक़्"।

अपने समकालीन राजाओंके आचरणसे मिलाते थे तो उनके दिलमें असन्तोषकी आग भड़के बिना नहीं रह सकती थी। इसीलिए ग़ज़ालीने अपने समयके राजतंत्रपर कितनी ही बार चोटें की हैं। जैसे—

"हमारे समयमें सुल्तानोंकी जितनी आमदनी है, कुल या बहुत अधिक हराम है, और क्यों हराम न हो? हलाल आमदनी तो ज़कात (=ऐच्छिक कर) और लड़ाई-लूट (=गनीमतके माल)का पाँचवाँ हिस्सा (यही दो) हैं। सो इन चीजोंका इस समयमें कोई अस्तित्व नहीं। सिर्फ जज़िया (अनिवार्य कर) रह गया है, जिसे ऐसे जालिमाना ढंगसे वसूल किया जाता है, कि वह उचित और हलाल नहीं रहता।[1]"

ग़ज़ालीने सुल्तानके पास न जानेकी शपथ ली थी, जिसे यद्यपि संजरकी जबर्दस्तीके सामने झुककर एक बार तोड़नेकी नौबत आई, तो भी ग़ज़ाली इन सुल्तानोंसे सहयोग न रखनेको अपने ही तक सीमित न कर दूसरोंको भी वैसा ही करनेकी शिक्षा देते थे[2]—

"आदमीको सुल्तानोंके दरबारमें पग-पगपर गुनाह (=पाप) करना पड़ता है। पहिली ही बात यह है, कि शाही मकान बिलकुल जबर्दस्तीके जरिए बने होते हैं, और ऐसी भूमिपर पैर रखना पाप है। दरबारमें पहुँचकर सिर झुकाना, हाथको बोसा (=चुम्बन) देना, और ज़ालिमका सम्मान करना पाप है। दरबारमें जरदोज़ीके पर्दे, रेशमी लिबास, सोनेके बर्तन आदि जितनी चीजें आती हैं सभी हराम हैं और इनको देखकर चुप रहना पाप है। आखिरमें बादशाहके तन-धनकी कुशल-क्षेमके लिए दुआ माँगनी पड़ती है, और यह पाप है।"

इसलिए ग़ज़ालीकी सलाह है—

"आदमी इन सुल्तानों(=राजाओं)से इस तरह अलग-अलग रहे कि कभी उनका सामना न होने पाये। यही करना उचित है, क्योंकि इसीमें मंगल है। आदमीको यह विश्वास रखना फर्ज है, कि इन (=सुल्तानों)के

---

[1] "अह्याउल्-उलूम्"। [2] वही।

अत्याचारके प्रति द्वेष रक्खे। आदमीको चाहिए कि न वह उनकी कृपा-का इच्छुक हो, और न उनकी प्रशंसा करे, न उनका हाल-चाल पूछे और न उनके संबंधियोंसे मेल-जोल रखे।"[१]

एक जगह ग़ज़ालीके निष्क्रिय असहयोगने चन्द शर्तोंके साथ कुछ सक्रियताका रूप भी लेना चाहा है—

"सुल्तानों (=राजाओं)का विरोध करनेसे यदि देशमें फसाद (=खून-खराबी) होनेका डर हो, तो (वैसा करना) अनुचित है। किन्तु अगर सिर्फ अपनी जान-मालका खतरा हो, तो उचित ही नहीं बल्कि वह बहुत ही श्लाघनीय है। पुराने बुजुर्ग हमेशा अपनी जानको खतरेमें डालकर स्वतंत्रताका परिचय देते थे, और सुल्तानों तथा अमीरोंको हर समय टोकते रहते थे। इस कामके लिए यदि कोई आदमी जानसे मारा जाता था, उसे सौभाग्यशाली माना जाता था, क्योंकि वह शहीदका दर्जा पाता था।"[२]

यहीं तक नहीं उनके दिलमें यह भी ख्याल काम कर रहा था, कि ऐसे राज्योंको हटाकर एक आदर्श राज्य कायम किया जाये, जिसके शासक-में जहाँ एक ओर बद्दू कबीलेके सरदारकी सादगी तथा भायप हो, वहाँ दूसरी ओर उसमें अफलातूनी प्रजातंत्रके नेता दार्शनिकों अथवा खुद ग़ज़ाली जैसे सूफीके गुण हों। इस विचारको कार्यरूपमें परिणत करने-में ग़ज़ाली स्वयं तो असमर्थ रहे, किन्तु उनकी सलाहसे उनके शिष्य तोमरतने उसे कार्यरूपमें परिणत किया, यह हम अभी बतलानेवाले हैं।

(२) कबीलाशाही आदर्श—ग़ज़ाली न व्यवहार-कुशल विचारक थे, न उनकी प्रकृतिमें साहस और जोखिम उठानेकी प्रवृत्ति थी। सुल्तानों-अमीरोंके दर्बारसे वह तंग थे, एक ओर सल्जूकी सुल्तान या बग-दादके खलीफाके यहाँ जानेपर झुककर दोहरे शरीरसे सलाम फिर हाथपर चुंबन देना, दूसरी ओर अरबोंका पैगंबर मुहम्मदके आनेपर भी सम्मानार्थ

---

[१] "अह्याउल्-उलूम्"। [२] "अह्याउल्-उलूम्"।

खड़ा न होना, ग़ज़ालीके दिमागको सोचनेपर मजबूर करता था। शायद ग़ज़ाली स्वयं अमीरज़ादा या शाहजादा होते तो दूसरी तरहकी व्याख्या कर लिए होते; किंतु उन्हें अपने बचपनके दिन याद थे, जब कि भर्तृहरि[1]के शब्दोंमें—

"भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किंचित् फलं,
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला।
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहे साशंकया काकवत्।"

अनाथ ग़ज़ालीने कितने ही दिन भूखों और कितनी ही जाड़ेकी रातें ठिठुरते हुए बिताई होंगी। दूसरोंके दिए टुकड़ोंको खाते वक्त उन्होंने अच्छी तरह अनुभव किया होगा, कि उनमें कितना तिरस्कार भरा हुआ है। यद्यपि ३४ वर्षकी उम्रमें पहुँचनेपर उन्हें वह सभी साधन सुलभ थे, जिनसे कि वह भी एक अच्छे अमीरकी जिन्दगी बिता सकते थे, किन्तु यहाँ वह उसी तरह मानसिक समझौता करनेमें सफल नहीं हुए जैसे धर्मवाद और बुद्धिवादके झगड़ेमें। उन्होंने पैगंबर और उनके साथियों (सहाबा)के जीवनको पढ़ा था, उनकी सादगी, समानता उन्हें बहुत पसंद आई, और वह उसीको आदर्श मानते थे। उन्हें क्या पता था, प्रकृतिने लाखों सालके विकासके बाद मानवको कबीलेके रूपमें परिणत होनेका अवसर दिया था। अपनी बढ़ती आवश्यकता, संख्या, बुद्धि और जीवन-साधनोंने जमा होकर उसे अगली सीढ़ी सामन्तवादपर जानेके लिए मजबूर किया था। कबीलाशाही प्रभुत्वको हटाकर सामन्तशाही प्रभुत्व स्थापित करनेमें हजारों वर्षों तक जो नर-संहार होता रहा, म्वाविया और अली अथवा कर्बलाका झगड़ा भी उसीका एक अंश था, किन्तु बहुत छोटा नगण्यसा अंश। इतने संघर्षके बाद आगे बढ़े इतिहासके पहिएको पीछे हटाना प्रकृतिके लिए कितना असंभव काम था, यह ग़ज़ालीकी समझमें नहीं आ सकते थे, इसीलिए वह असंभवके संभव होनेकी (करनेकी नहीं) लालसा रखता था।

---

[1] "वैराग्यशतक"।

उनके ग्रंथोंमें जगह-जगह उद्धृत बद्दू समाजकी निम्न घटनाएं ग़ज़ाली-के राजनीतिक आदर्शका परिचय देती हैं—

१. "एक बार अमीर म्वाविया (६६१-८० ई०)ने लोगोंकी वृत्तियाँ बन्द कर दी थीं। इसपर अबू-मुस्लिम खौलानीने भरे दरबारमें उठकर कहा—'ऐ म्वाविया ! यह आमदनी तेरी या तेरे बापकी कमाई नहीं है'।"

२. "अबू-मूसाकी रीति थी, कि खुत्बा (=उपदेश)के वक्त खलीफा उमर (६४२-४४ ई०)का नाम लेकर उनके लिए दुआ करते थे।.... ज़ब्बाने ठीक खुत्बा देते वक्त ही खड़े होकर कहा—'तुम अबू-बकरका नाम क्यों नहीं लेते, क्या उमर अबू-बकरसे बड़ा है ?'.... (उमरने इस बातको सुनकर) ज़ब्बाको मदीना बुलवाया। जब्बाने उमरसे पूछा—'तुमको क्या हक था, कि मुझे यहाँ बुलवाते ?'.... फिर उसने (अबू-मूसाकी खुशामद वाली) सब बात ठीक-ठीक बतलाई। उमर रोने लगे, और बोले—'तुम सचपर हो, मुझसे कसूर हुआ, माफ करना'।"

३. "हारून और सफ़ियान सोरीमें बचपनकी दोस्ती थी। जब हारून बगदादमें खलीफा (७८६-८०९ ई०) बना तो सब लोग उसको बधाई देने आए, किन्तु सफ़ियान नहीं आया। हारूनने स्वयं सफ़ियानसे मिलनेकी इच्छा प्रकट की, लेकिन उसने पर्वा न की, अन्तमें हारूनने सफ़ियानको पत्र लिखा—

"मेरे भाई सफ़ियान,.....तुमको मालूम है कि भगवान्‌ने सभी मुसलमानोंमें भाईका संबंध कायम किया है। अब भी मेरे और तुम्हारे बीच पहिलेके संबंध वैसे ही हैं, मेरे सारे दोस्त मेरी खिलाफतके लिए बधाई देने मेरे पास आए और मैंने उन्हें बहुमूल्य इनाम दिये। अफसोस है कि, आप अब तक नहीं आए। मैं खुद आता, लेकिन यह खलीफाकी शानके खिलाफ है। कुछ भी हो अब अवश्य तशरीफ लाइये।"

सफ़ियानने पत्रको न पढ़कर फेंक दिया और कहा कि मैं इसे हाथ नहीं लगाना चाहता, जिसे कि जालिम (=राजा)ने छुआ है। फिर उसी पत्रकी पीठपर यह जवाब दूसरेसे लिखवाया—

"बंदा निर्बल सफ़ियानकी ओरसे धनपर लट्टू हारूनके नाम। मैंने पहिले ही तुझे सूचित कर दिया था, कि मेरा तुझसे कोई संबंध नहीं। तूने अपने पत्रमें स्वयं स्वीकार किया है, कि तूने मुसलमानोंके कोषागार (=बैतु'ल्-माल)के रुपयेको ज़रूरतके बिना अनुचित तौरसे खर्च किया। इसपर भी तुझको सन्तोष नहीं हुआ, और चाहता है, कि मैं कयामतमें (=अन्तिम न्यायके दिन) तेरी फजूलखर्चीकी गवाही दूँ। हारून! तुझको कल खुदाके सामने जवाब देनेके लिए तैयार रहना चाहिए। तू तख़्तपर (बैठकर) इजलास करता है, रेशमी लिबास पहिनता है। तेरे दर्वाजे-पर चौकी-पहरा रहता है। तेरे अफसर स्वयं शराब पीते हैं, और दूसरोंको शराब पीनेकी सजा देते हैं; खुद व्यभिचार करते हैं, और व्यभिचारियों-पर रोब जारी करते हैं। खुद चोरी करते हैं, और चोरोंका हाथ काटते हैं। पहिले इन अपराधोंके लिए तुझको और तेरे अफसरोंको सजा मिलनी चाहिए, फिर औरोंको।.... अब फिर कभी मुझको पत्र न लिखना।"

"यह पत्र जब हारूनके पास पहुँचा, तो वह (आत्मग्लानिके मारे) चीख उठा, और देर तक रोता रहा।"

ग़ज़ाली एक ओर दार्शनिक उड़ानकी आजादी चाहता था, दूसरी ओर कबीलाशाहीकी सादगी और समानता—कहाँ कबीलाशाही और कहाँ ख्यालकी आज़ादी!

(३) **इस्लामिक पंथोंका समन्वय**—इस्लामके भीतरी सम्प्रदायों-के झगड़ोंको दूर करना ग़ज़ालीके अपने उद्देश्योंमें था। दर्शनमें उनके जबर्दस्त विरोधी रोश्दका कहना है[1]—

"ग़ज़ालीने अपनी किताबोंमें सम्प्रदायोंमेंसे किसी खास सम्प्रदायको नहीं दूषा है। बल्कि (यह कहना चाहिए कि) वह अश्अरियोंके साथ अशअरी, सूफियोंके साथ सूफ़ी और दार्शनिकोंके साथ दार्शनिक है।"

ग़ज़ालीके वक्त इस्लाम सिन्ध और काश्गरसे लेकर मराको और

---

[1] "फ़स्लु'ल्-मुक़ाला"।

स्पेन तक फैला हुआ था, इस विस्तृत भूखंडपर इस्लामसे भिन्न धर्म खतम हो गए थे, या उनमें इस्लामसे आँख मिलानेकी शक्ति नहीं रह गई थी। किन्तु खुद इस्लामके भीतर बीसियों सम्प्रदाय पैदा हो गए थे। इनमें सबसे ज़्यादा जोर तीन फिर्कोंका था—अश्अरी, हंबली और बातनी (=शीआ)। इन सम्प्रदायोंका प्रभाव सिर्फ धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित न था, बल्कि उन्होंने शासनपर अपना अधिकार जमाया था। स्पेनमें हंबली सम्प्रदायके हाथमें धार्मिक राजनीतिक शक्ति थी। बातनी (=शीआ) मिश्रपर अधिकार जमाए हुए थे। खुरासान (पूर्वी ईरान)से इराक तक अश्अरियोंका बोलबाला था। बातनी चूँकि शीआ थे, इसलिए उनके विरुद्ध अली-म्वावियाके समयसे सुलगाई आग अब भी यदि धाँय-धाँय कर रही थी, तो कोई आश्चर्य नहीं; किन्तु ताज्जुब तो यह था, कि अश्अरी और हंबली दोनों सुन्नी होनेपर भी एक दूसरेके खूनके प्यासे रहते थे। शरीफ़ अबुल्-क़ासिम (४७५ हिजरी या १०८२ ई०) बहुत बड़ा उपदेशक था। महामंत्री निजामुल्मुल्कने उसे बड़े सम्मानके साथ निज़ामिया (बगदाद)का धर्मोपदेष्टा बनाया था। वह मस्जिदके मेंबर (=धर्मासन) से खुले आम कहता था कि हंबली काफिर हैं। इतनेहीसे उसे सन्तोष नहीं हुआ, बल्कि उसने महाजजके घरपर जाकर ऐसी ही बातें कीं, जिसपर भारी मारकाट मच गई। अल्प अर्सलन् सल्जूकी (१०६२-७२ ई०)-के शासनकालमें शीओं और अश्अरियोंपर मुद्दतों मस्जिदके धर्मासनसे लानत (धिक्कार) पढ़ी जाती थी। निज़ामुल्-मुल्क जब महामंत्री हुआ तो उसने अश्अरियोंपर पढ़ी जानेवाली लानतको तो बंद कर दिया, किन्तु शीआ बेचारोंकी वही हालत रही। अबू-इस्हाक शीराज़ी बगदादकी विद्वन्मंडलीके सरताज थे, और वह भी हंबलियोंको बुरा-भला कहना अपना फर्ज समझते थे, इसकी ही वजहसे एक बार बगदादमें भारी मारकाट मच गई थी।

जहाँ जिस सम्प्रदायका जोर था, वहाँ दूसरेको "दशननमें जीभ बेचारी" बनकर रहना पड़ता था। इब्न-असीर मोतज़ला-सम्प्रदायका प्रधान नेता

और भारी विद्वान् था, उसकी मृत्यु ४७८ हिजरी (१०८५ ई०)में हुई। अपने सम्प्रदाय-विरोधियोंके डरके मारे पूरे पचास साल तक वह घरसे बाहर नहीं निकल सका था। इन झगड़ों, खून-खराबियोंकी जड़को बुरा कहते हुए ग़ज़ाली लिखते हैं—

"(धार्मिक) विद्वान् बहुत सख्त हठधर्मी दिखलाते हैं, और अपने विरोधियोंको घृणा और बेइज्जतीकी नजरसे देखते हैं। यदि यह लोग विरोधियोंके सामने नर्मी, मुलायमियत और प्रेमके साथ काम लेते, और हितैषीके तौरपर एकान्तमें उन्हें समझाते, तो (ज़्यादा) सफल होते। लेकिन चूँकि अपनी शान-शौकत (जमाने)के लिए जमातकी ज़रूरत है, जमात बाँधनेके लिए मजहबी जोश दिखलाना तथा अपने सम्प्रदाय-विरोधियोंको गाली देना ज़रूरी है, इसलिए विद्वानोंने हठधर्मीको अपना हथियार बनाया है, और इसका ही नाम धर्म-प्रेम तथा इस्लाम-विरोध-परिहार रखा है; हालाँकि यह वस्तुतः लोगोंको तबाह करना है।"[1]

पैगंबर मुहम्मदके मुँहसे कभी निकला था—"मेरे मजहबमें ७३ फ़िर्क़े (=सम्प्रदाय) हो जायेंगे, जिनमेंसे एक स्वर्गगामी होगा, बाकी सभी नरक-गामी।" इस हदीस (=पैगंबर-वाक्य)को लेकर भी हर सम्प्रदाय अपनेको स्वर्गगामी और दूसरोंको नरक-गामी कहकर कटुता पैदा करता था। ग़ज़ालीने इस्लामके इस भयंकर गृहकलहको हटानेके लिए एक ग्रंथ "तफ़रक़ा बैनु'ल्-इस्लाम व'ज़्-ज़न्दक़ा" [इस्लाम और जिन्दीकों (नास्तिकों)का भेद] लिखा है; जिसमें वह इस हदीसपर अपनी राय इस तरह देते हैं—

"हदीस सही है, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वह (बाकी ७२ फ़िर्क़े-वाले) लोग काफिर हैं, और सदा नरकमें रहेंगे। बल्कि इसका असली अर्थ यह है, कि वह नरकमें. . . . अपने पापकी मात्राके अनुसार. . . . रहेंगे।"

ग़ज़ालीने अपनी इस पुस्तकमें काफिर (नास्तिक) होनेके सभी लक्षणोंसे इन्कार करके कहा, कि काफिर वही है, जो मुसलमान नहीं है,

---

[1] "अह्याउल्-उलूम्"।

और "वह सारे (आदमी) मुसलमान हैं जो कल्मा ('अल्लाहके सिवाय दूसरा ईश्वर नहीं, मुहम्मद अल्लाहका भेजा हुआ है')[१] पढ़नेवाला है, और मुसलमान होनेके नाते सभी भाई-भाई हैं। इन सम्प्रदायोंका जो मतभेद है, उसका मूल इस्लामसे कोई सम्बन्ध नहीं, वह गौण और बाहरी बातें हैं।"

ग़ज़ालीने अपनी इस उदाराशयताको मुसलमानों तकही सीमित नहीं रखा बल्कि उन्होंने लिखा है—

"बल्कि मैं कहता हूँ कि हमारे समयके बहुतसे तुर्क तथा ईसाई रोमन लोग भी भगवान्के कृपापात्र होंगे।"[२]

इस प्रयत्नका फल ग़ज़ालीको अपने जीवनमें ही देखनेको मिला। अश्अरियों और हंबलियोंके झगड़े बहुत कुछ बंद हो गए। बगदादके शीओं और सुन्नियोंमें ५०२ हिजरी (११०९ ई०)में सुलह हो गई, और वह आपसी मार-काट बन्द हो गई, जिससे राजधानीके मुहल्लेके मुहल्ले बर्बाद हो गए थे।

६—ग़ज़ालीके उत्तराधिकारी

अपनी पुस्तकोंकी भाँति ग़ज़ालीके शिष्योंकी भी भारी संख्या थी, जिनमें कितनेही इस्लामके धार्मिक इतिहासमें खास स्थान रखते हैं, पाठकोंके लिए अनावश्यक समझकर हम उनके नामोंकी सूची देना नहीं चाहते। ग़ज़ालीकी शिक्षाका महत्त्व इसीसे समझिए कि मुसलमानोंकी भारी संख्या आज भी उन्हेंही अपना नेता मानती है। हाँ, उनके एक शिष्य तोमरतके बारेमें हम आगे लिखनेवाले हैं, क्योंकि उसने अपने गुरुके धर्म-मिश्रित राजनीतिक स्वप्नको साकार करनेमें कुछ हद तक सफलता पाई।

---

[१] "ला इलाह इल्ल'ल्लाह मुहम्मदुन्-र्रसूलल्लाह"।

[२] "तफ़क़ा बैनु'ल्-इस्लाम व'ज़्-ज़िन्दक़ा"।

सप्तम अध्याय

स्पेनके इस्लामी दार्शनिक

§ १–स्पेनकी धार्मिक और सामाजिक अवस्था

१–उमैय्या शासक

जिस वक्त इस्लामिक अरबोंने पूर्वमें अपनी विजय-यात्रा शुरू की थी, उसी समय पश्चिमकी ओर—खासकर पड़ोसी मिश्रपर—भी उनकी नज़र जानी ज़रूर थी। मिश्रके बाद पश्चिमकी ओर आगे बढ़ते हुए वह तूनिस् और मराको (=मराकश) तक पहुँच गए। पैगंबरके देहान्त हुए एक सौ वर्ष भी नहीं हुए थे, जब कि ९२ हिजरी (७०६ ई०) में तारिक (इब्न-ज़ियाद) लेसीने १२ हजार बर्बरी (=मराको-निवासी) सेनाके साथ स्पेनपर हमला किया। स्पेनपर उस वक्त एक गॉथिक वंशका राज्य था, जो दो हजार वर्षसे शासन करता आ रहा था—जिसका अर्थ है, वह समयके अनुसार नया होनेकी क्षमता नहीं रखता था। किसानोंकी अवस्था दयनीय थी, ज़मींदारोंके जुल्मोंका ठिकाना न था। दासता-प्रथाके कारण लोगोंकी दशा और असह्य हो रही थी—किसानों और दासोंके बच्चे पैदा होते ही जमींदारों और फौजी अफ़सरोंमें बाँट दिये जाते थे। जनता इस जुल्मसे त्राहि-त्राहि कर रही थी, जब कि तारिककी सेना अफ़्रीकाके तटसे चलकर समुद्रके दूसरे तटपर उस पहाड़ीके पास उतरी जिसका नाम पीछे जब्रुल-तारिक (=तारिककी पहाड़ी) पड़ा, और जो बिगड़कर आज ज़िब्रालटर बन गया है। राजा रोद्रिकने तारिकका सामना करना चाहा,

किन्तु पहिली ही मुठभेड़में उसकी ऐसी हार हुई, कि निराश हो रोद्रिक नदीमें डूब मरा। दूसरे साल अफ़्रीकाके मुसलमान गवर्नर मूसा-बिन्-नसीर-ने स्वयं एक बड़ी फौज लेकर स्पेनपर चढ़ाई की, स्पेनमें किसीकी मजाल नहीं थी, कि इस नई ताकतको रोकता। तो भी मुल्कमें थोड़ी बहुत अशान्ति धर्म और जातिके नामपर कुछ दिनों तक और जारी रही। किन्तु तीन चार सालके बाद प्रायः सारा स्पेन मुसलमानोंके हाथमें आ गया—"जायदादें मालिकोंको वापस की गईं, मज़हबी स्वतंत्रताकी घोषणा की गई। दूसरी जातियोंको अपने धार्मिक कानूनके अनुसार जातीय मुकदमोंके फैसलेकी इजाज़त दी गई।" मूसाका बेटा अब्दुल्-अज़ीज़ स्पेनका पहिला गवर्नर बनाया गया।

इसके कुछ ही समय बाद बनी-उमैय्याके शासनपर प्रहार हुआ। उसकी जगह अब्दुल्-अब्बासने अपनी सल्तनत कायम की, और उमैय्या खान्दानके राजकुमारोंको चुन-चुनकर मौतके घाट उतारा। उसी समय (७५० ई०?) एक उमैय्या राजकुमार अब्दुर्रहमान दाख़िल भागकर स्पेन आया और उसने स्पेनको उमैय्यावंशके हाथसे जानेसे रोक दिया। अब्दुर्रहमान दमिश्कके सांस्कृतिक वायुमंडलमें पला था, इसलिए उसके शासनमें स्पेनने शिक्षा और संस्कृतिमें काफी उन्नति की; और पश्चिमके इस्लामिक विद्वानोंने पूर्वसे संबंध जोड़ना शुरू किया।

जब तक इस्लाम मराको तक रहा, तब तक अरबोंका संबंध वहाँके बर्बर लोगोंसे था, जो कि स्वयं बद्दुओंसे बेहतर अवस्थामें न थे। किन्तु स्पेनमें पहुँचनेपर वही स्थिति पैदा हुई, जो कि बगदाद जाकर हुई थी। दोनों ही जगह उसे एक पुरानी संस्कृत जातिके संपर्कमें आनेका मौका मिला। बगदादमें अरबोंने ईरानी बीबियोंके साथ ईरानी सभ्यतासे विवाह किया, और स्पेनमें उन्होंने स्पेनिश स्त्रियोंके साथ रोमन-सभ्यताके साथ। इसका परिणाम भी वही होना था, जो कि पूर्वमें हुआ। अभी उस परि-णामपर लिखनेसे पहिले ऐतिहासिक भित्तिको जरा और विशद कर देनेकी ज़रूरत है।

स्पेनपर उमैय्योंका राज्य ढाई सौ सालसे ज़्यादा रहा। स्पेनिश उमैय्योंका वैभव-सूर्य तृतीय अब्दुर्रहमान (९१२-६१ ई०)के शासनकालमें मध्याह्नपर पहुँचा था। इसीने पहिले-पहिल खलीफाकी पदवी धारण की थी। उसके बाद उसका पुत्र हकम द्वितीय (९६१-७६ ई०)ने भी पिताके वैभवको कायम रखा। धन और विद्या दोनोंमें अब्दुर्रहमान और हकमका शासनकाल (९१२-७६ ई०) पश्चिमके लिए उसी तरह वैभवशाली था, जिस तरह हारून मामूनका शासनकाल (७८६-८३३ ई०) पूर्वके लिए। हाँ, यह ज़रूर था कि स्पेनके मुसलमानी समाजमें अपने पूर्वज या अब्बासियों द्वारा शासित समाजकी अपेक्षा विद्यानुरागके पीछे सारा समय बितानेवालोंकी अपेक्षा कमाऊ लोग ज्यादा थे। अब्दुर्रहमान-की प्रजामें ईसाइयोंके अतिरिक्त यहूदियोंकी संख्या भी शहरोंमें पर्याप्त थी। कैसर हर्दियनने विजन्तीनसे देशनिकाला देकर पाँच लाख यहूदियोंको स्पेनमें बसाया था। ईसाई शासनमें उन्हें दबाकर रखनेकी कोशिश की जाती थी, किन्तु इस्लामिक राज्य कायम होनेपर उनके साथ बेहतर बर्ताव होने लगा, और इन्होंने भी देशकी बौद्धिक और सांस्कृतिक प्रगतिमें भाग लेना शुरू किया। स्पेनके यहूदियोंका भी धार्मिक केन्द्र बगदादमें था, जहाँ सर्कार-दर्बारमें भी यहूदी हकीमों और विद्वानोंका कितना मान था, इसका जिक्र पहिले हो चुका है। स्पेनमें पहिलेसे भी रोमन-केथलिक जैसे धार्मिक संकीर्णताके लिये दुःख्यात सम्प्रदायका जोर था। मुसल्मान आए, तो अरब और अर्ध-अरब इतनी अधिक संख्यामें आकर बस गए, कि स्पेनके शहरों और गाँवोंमें अरबी भाषा आम बोल चाल हो गई। ये अरब पूर्वके साम्प्रदायिक मतभेदोंको देखकर नहीं चाहते थे कि वहाँ दूसरे सम्प्रदाय सर उठायें। उन्होंने हंबली सम्प्रदायको स्वीकार किया था, जिसमें कुरानका वही अर्थ उन्हें मंजूर था, जो कि एक साधारण बद्दू समझता है। ईसाइयों और अरबोंकी इस पक्की किलाबंदीमें यदि कोई दरार थी, तो यही यहूदी थे, जिनका संबंध बगदाद जैसे "वायु बहै चौआई" वाले विचार-स्वातंत्र्य-केन्द्रसे था। ये लोग चुपके चुपके दर्शनकी पुस्तकोंको

पढ़ते और प्रचार करते थे। इनके अतिरिक्त कितने ही प्रतिभाशाली मुसलमान भी "निषिद्ध फल"के खानेके लिए पूर्वकी सैर करने लगे। अब्दुर्रहमान बिन्-इस्माइल ऐसे ही लोगोंमें था, जिसने पूर्वकी यात्रा की, और ईरानके साबी विद्वानोंके पास रहकर दर्शनकी शिक्षा ग्रहण की। इसीने लौटकर पहिले-पहिल पवित्र-संघ (अखवानुस्सफ़ा)-ग्रंथावलीका स्पेनमें प्रचार किया। यह ४५८ हिजरी (१०६५ ई०)में मरा था।

२—दर्शनका प्रथम प्रवेश

हकम द्वितीय स्पेनका हारून था। उसे विद्यासे बहुत प्रेम था, और दार्शनिकोंकी वह खास तौरसे बहुत इज़्ज़त करता था। उसे पुस्तकोंके संग्रहका बहुत शौक था। दमिश्क, बगदाद, काहिरा, मर्व, बुखारा तक उसके आदमी पुस्तकोंकी खोजमें छुटे हुए थे। उसके पुस्तकालयमें चार लाख पुस्तकें थीं। इस पुस्तकालयका प्रधान पुस्तकाध्यक्ष अल्-हज़्ज़ी बयान करता है कि पुस्तकालयकी ग्रंथ सूची ४४ जिल्दों—प्रत्येक जिल्दमें बीस पृष्ठ—में लिखी गई थी। हकमको पुस्तकोंके जमा करनेका ही नहीं पढ़नेका भी बहुत शौक था, पुस्तकालयकी शायद ही कोई पुस्तक हो जिसे उसने एक बार न पढ़ा हो, या जिसपर हकमने अपने हाथसे ग्रंथकारका नाम, मृत्युकाल आदि न लिखा हो; उसका दर्शनकी पुस्तकोंका संग्रह बहुत जबर्दस्त था।

हकमके मरने (९७६ ई०)के बाद उसका बारह सालका नाबालिग़ बेटा हश्शाम द्वितीय गद्दीपर बैठा, और काजी मंसूर इब्न-अबीआमर उसका वली मुकर्रर हुआ। आमरने हश्शामकी माँको अपने काबूमें करके दो सालोंमें पुराने अफ़सरों और दरबारियोंको हटाकर उनकी जगह अपने आदमियोंको भर दिया। और फिर हश्शामको नाम मात्रका बादशाह बनाते हुए उसने अपने नामके सिक्के जारी किए, खुत्बे (मस्जिदमें शुक्रके उपदेश) अपने नामसे पढ़वाने शुरू किए; देशके लोग और बाहरवाले भी आमरको खलीफा समझने लगे थे। आमरने तलवारसे यह शक्ति

नहीं प्राप्त की, बल्कि यह उसकी चालबाजियोंका पारितोषिक था। इन्हीं चालबाजियोंमें एक यह भी थी कि वह अपनेको मजहबका सबसे जबर्दस्त भक्त ज़ाहिर करता था। "उसने (इसके लिए) आलिमों और फक़ीहों (=मीमांसकों)का एक जलसा बुलाया। एक छोटेसे भाषणमें उनसे प्रश्न किया कि तुम्हारे ख्यालमें दर्शन और तर्कशास्त्रकी कौन-कौनसी पुस्तकें देशमें फैलकर भोले-भाले मुसलमानोंके ईमानको खराब कर रही हैं। स्पेनके मुसलमान अपनी मजहबी हठधर्मीके लिए मशहूर ही थे, और दर्शनसे उन्हें हमेशा टकराना पड़ता था। इन लोगोंने तुरन्त प्रचारके लिए निषिद्ध पुस्तकोंकी एक लंबी सूची तैयार करके इब्न-अबी-आमरके सामने रखी। आमरने उन्हें विदा कर दर्शनकी पुस्तकोंको जलानेका हुक्म दिया।"[1]

हकमका बहुमूल्य पुस्तकालय बातकी बातमें जलकर राख हो गया; जो पुस्तकें उस वक्त जलनेसे बच गईं वह पीछे (१०१३ ई०) बर्बरोंके गृह-युद्धमें जल गईं। हकमके शासनमें दार्शनिकोंको बहुत बड़े-बड़े दर्जे मिले थे, यह कहनेकी ज़रूरत नहीं कि आमरने उन्हें पहिले ही दूधकी मक्खीकी तरह निकाल फेंका। खैरियत यही थी कि आमर यहूदियोंका कतल-आम नहीं कर सकता था, जिससे और जबतक वह स्पेन (युरोप)की भूमिपर थे, तबतक दर्शनका उच्छेद नहीं किया जा सकता था।

३—स्पेनिश् यहूदी और दर्शन

दसवीं सदीमें स्पेनकी राजधानी कार्दोवा (=क़र्तबा)की आबादी दस लाखसे ज्यादा थी, और पश्चिममें उसका स्थान वही था, जो कि पूर्वमें बग-दादका। वहाँ स्पेन और मराकोके ही नहीं युरोपके नाना देशोंके गैर-मुस्लिम विद्यार्थी भी विद्या पढ़ने आया करते थे—यह कहनेकी ज़रूरत

---

[1] **"इब्न-रोश्द" (मुहम्मद यूनस् अन्सारी फिरंगीमहली), पृष्ठ २७से उद्धृत।**

नहीं कि इस वक्तकी सभ्य दुनियाके पश्चिमार्द्ध (पश्चिमी एसिया और युरोप)की सांस्कृतिक भाषा अरबी थी, उसी तरह जैसे कि प्रायः सारे पूर्वार्द्ध (भारत, जावा, चम्पा, आदि)की संस्कृत। अरबी और इब्रानी (यहूदियोंकी भाषा) बहुत नजदीककी भाषाएं हैं, इसलिए यहूदियोंको और भी सुभीता था। दर्शनके क्षेत्रमें यहूदियोंका पहिलेसे भी हाथ था, किन्तु जब हकम द्वितीयने अपने समयके प्रसिद्ध दार्शनिक हकीम हस्दा बिन-इस्हाकको अपना कृपा-पात्र बनाया, तबसे उन्होंने दर्शनके झंडेको और आगे बढ़ानेकी जद्दोजहद शुरू की। इब्न-इस्हाकने जब पहिले-पहिल अरस्तूके दर्शनका प्रचार करना शुरू किया, तो यहूदी धर्माचार्योंने फतवा निकालकर मुखालफत करनी चाही, किन्तु वह बेकार गई; और ग्यारहवीं सदी पहुँचते-पहुँचते अरस्तू स्पेनके यहूदियोंका अपना दार्शनिक-सा बन गया।

(१) **इब्न-जिब्रोल** (१०२१-७० ई०)—जिब्रोल माल्ताके एक यहूदी परिवारमें पैदा हुआ था। यह स्पेनका सबसे बड़ा और मशहूर दार्शनिक था। जिब्रोलकी प्रसिद्ध दार्शनिक पुस्तक "यन्बूउ'ल्-ह्यात" है। इसके दार्शनिक विचार थे—दुनियामें दो परस्पर-विरोधी शक्तियाँ हैं: भूत (मूल प्रकृति या हेवला) और आत्मा (=विज्ञान) या "आकार"। लेकिन यह दो वस्तुएं वस्तुतः एक **परमसामान्य** (परमतत्त्व)के भीतर हैं, जिसे जिब्रोल सामान्यभूत (या सामान्यप्रकृति) कहता है। जिब्रोल-के इस विचारको रोश्दने और विकसित किया है।

(२) **दूसरे यहूदी दार्शनिक**—जिब्रोलके बाद दूसरा बड़ा यहूदी दार्शनिक मूसा बिन-मामून हुआ, जिसका जन्म ११३५ ई०में कार्दोवामें हुआ था। यह एक प्रतिभाशाली विद्वान् था। तोमरतके उत्तराधिकारी अब्दुल्मोमिनने जब स्पेनपर अधिकार करके दर्शनके उत्पादन-क्षेत्र यहूदियोंपर गजब ढाना, तथा देश निकाला देना शुरू किया, तो मूसा मिश्र चला गया, जहाँ मिश्रके सुल्तान सलाहुद्दीनने उसे अपना (राज-)वैद्य बना लिया और वहीं ६०५ हिजरी (१२१२ ई०)में उसकी मृत्यु हुई।

कोई-कोई विद्वान् मूसाको रोश्दका शिष्य कहते हैं।

मूसाके बाद उसका शिष्य तथा दामाद यूसुफ-बिन्-यह्या एक अच्छा दार्शनिक हुआ।

स्पेनिश् यहूदी दर्शनप्रेमियोंकी संख्या घटनेकी जगह बढ़ती ही गई, किन्तु अब रोश्द-सूर्यके उग आनेपर वह टिमटिमाते तारे ही रह सकते थे।

४—मोहिदीन शासक

ग्यारहवीं सदीमें उमैय्या शासक इस अवस्थामें पहुँच गए थे, कि देश-की शक्तिको कायम रखना उनके लिए मुश्किल हो गया। फलतः सल्तनत-में छोटे-छोटे सामन्त स्वतंत्र होने लगे। वह समय नजदीक था, कि पड़ोसी ईसाई शासक स्पेनकी सल्तनतको खतम कर देते, इसी वक्त समुद्रके दूसरे (अफ्रीकी) तटके बर्बरोंने १०१३ ई० में हमला किया और कार्दोवाको जलाया, बर्बाद किया। इसके बाद उन्होंने मराकोमें एक सल्तनत कायम की जिसे ताशकीन (मुल्समीन) कहते हैं। अली (बिन्-यूसुफ) ताशकीन (—११४७ ई०) वंशका अन्तिम बादशाह था, जबकि एक दूसरे राजवंश—मोहिदीन—ने उसकी जगह ली।

(१) मुहम्मद बिन्-तोमरत (मृ० ११४७ ई०)—मोहिदीन शासन-का संस्थापक मुहम्मद (इब्न-अब्दुल्लाह) बिन्-तोमरत मराकोके बर्बरी कबीले मस्मूदीमें पैदा हुआ था। उसका दावा था कि हमारा वंश अलीकी सन्तानमेंसे है। देशमें उपलभ्य शिक्षाको समाप्त कर वह पूर्वकी ओर आया और वहाँ जिन विद्वानोंसे उसने शिक्षा ग्रहण की, उनमें ग़ज़ालीका प्रभाव उसपर सबसे ज्यादा पड़ा। ग़ज़ालीके पास वह कई साल रहा, और इस समय इस्लाम और खासकर स्पेनकी इस्लामी सल्तनतकी दुरवस्थापर गुरु-चेलोंमें अकसर चर्चा हुआ करती थी। ग़ज़ाली भी एक धर्म-राजनीतिक सल्तनतका स्वप्न देख रहे थे, और इधर तोमरत भी उसी मर्जका मरीज था। इतिहास-दार्शनिक इब्न-खल्दून इस बारेमें लिखता है—

"जैसाकि लोगोंका ख्याल है, वह (तोमरत) ग़ज़ालीसे मिला, और

उससे अपनी योजनाके बारेमें राय ली। ग़ज़ालीने उसका समर्थन किया, क्योंकि वह ऐसा समय था, जबकि इस्लाम सारी दुनियामें निर्बल हो रहा था, और कोई ऐसा सुल्तान न था, जो कि सारे पंथ (मुसलमानों) को संगठित कर उसे कायम रख सके। किन्तु ग़ज़ालीने (अपनी सहमति तब प्रकट की, जब कि उसने, पूछकर जान लिया कि उसके पास उतना साधन और जमात है, जिसकी सहायतासे अपनी शक्ति और रक्षाका प्रबन्ध कर सकता है।"[1]

ग़ज़ालीके आशीर्वादसे उत्साहित हो तोमरत देशको लौटते हुए मिश्रमें पहुँचा। काहिरामें उसके उत्तेजनापूर्ण व्याख्यानोंसे ऐसी अशान्ति फैली, कि हुकूमतने उसे शहरसे निकाल दिया। सिकन्दरियामें चन्द दिनों रहनेके बाद वह तूनिस होता मराको पहुँचा। तोमरत पक्का धर्मान्ध था, उसके सामने जरासी भी कोई बात शरीअतके विरुद्ध होती दिखाई पड़ती, कि वह आपेसे बाहर हो जाता। मराकोके बर्बर कबीलोंमें काफी बद्दूइयत मौजूद थी, इसलिए उनके वास्ते यह आदर्श मुल्ला था, इसमें सन्देह नहीं। थोड़े ही समयमें ग़ज़ालीके शागिर्द, बगदादसे पढ़कर लौटे इस महान् मौलवी-की चारों ओर ख्याति फैल गई। वह बादशाह, अमीर, मुल्ला सबके पीछे लट्ठ लिए पड़ा था; और इसके लिए वहाँ बहुत मसाला मौजूद था। मुल्समीन (ताशकीन) खान्दानमें एक अजब रवाज था, उनकी औरतें खुले मुँह फिरती थीं, किन्तु मर्द मुँहपर पर्दा डालकर चलते थे। व्यभिचार आम था, भले घरोंकी बहू-बेटियोंकी इज़्ज़त फौजके लोगोंके मारे नहीं बचती थी—शहरोंमें यह सब कुछ खुल्लमखुल्ला चल रहा था। शराब खुले आम बिकती थी। मामला बढ़ते देख मुल्समीन सुल्तान अली बिन्-ताशकीनने तोमरत-के साथ शास्त्रार्थ करनेके लिए विद्वानोंकी एक सभा बुलाई। शास्त्रार्थ-में तोमरतकी जीत हुई, बादशाहने उसके विचारोंको स्वीकार किया।[2]

---

[1] इब्न-खल्दून, जिल्द ५, पृष्ठ २२६ [2] स्मरण रहे यही अली बिन्-ताशकीन् था, जिसने ग़ज़ालीकी पुस्तकोंको जलवाया था।

इसपर दर्बारवाले दुश्मन बन गए, और तोमरतको भागकर अम्सामदा नामक बर्बरी कबीलेके पास शरण लेनी पड़ी। यहाँसे उसने अपने मतका प्रचार और अनुयायियोंको सैनिक ढंगपर संगठित करना शुरू (११२१ ई०) किया। इसी समय अब्दुलमोमिन उसका शागिर्द बना। तोमरत अपने जीवनमें अपने विचारोंके प्रचार तथा लोगोंके संठनमें ही लगा रहा, उसे चंद कबीलोंके संगठनसे ज्यादा सफलता नहीं हुई, किन्तु उसके मरनेके बाद उसका शागिर्द अब्दुल्-मोमिन उसका उत्तराधिकारी हुआ, जिसने ५४२ हिजरी (११४७ ई०)में मराकोपर अधिकार कर मुल्समीनकी सल्तनतको खतम कर दिया।

(२) अब्दुल्-मोमिन (११४७–६३ ई०)—तोमरत अपनेको मोहिद् (अद्वैतवादी) कहता था, इसलिए, उसका संस्थापित शासन मोहिदों (मोहिदीन) का शासन कहा जाने लगा, और अब्दुल्-मोमिन मोहिदीनका पहिला सुल्तान था। अब्दुलमोमिन कुम्हारका लड़का था, और सिर्फ अपनी योग्यता और हिम्मतसे तोमरतके मिशनको सफल करनेमें समर्थ हुआ था। मराकोमें इस तरह उसने अपना राज्य स्थापित कर तोमरतकी शिक्षाके अनुसार हुकूमत चलानी शुरू की। इसकी खबर उस पार स्पेनमें पहुँची। स्पेनकी सल्तनत टुकड़े-टुकड़ेमें बँटी हुई थी। इन छोटे-छोटे सुल्तानोंकी विलासिता और जुल्मसे लोग तंग थे, उन्होंने स्वयं एक प्रतिनिधि मंडल अब्दुलमोमिनके पास भेजा। अब्दुलमोमिनने उसका बहुत स्वागत किया, और आश्वासन देकर लौटाया। थोड़े ही समय बाद अब्दुलमोमिनने स्पेनपर हमला किया, और स्पेनको भी मराकोकी सल्तनतमें मिला लिया।

तोमरतने अपनेको अश्अरी घोषित किया था, इसलिए अब्दुलमोमिनने भी उसे सरकारी पंथ घोषित किया, लेकिन यह अश्अरी पंथ ग़ज़ालीकी शिक्षासे प्रभावित था, इसलिए दर्शनका अंधा दुश्मन नहीं बल्कि बुद्धिकी कदर करता था। यद्यपि उसके शासनके आरम्भिक दिनोंमें सख्तीके कारण कितने ही यहूदियों और उनके दार्शनिकोंको देश छोड़कर भागना पड़ा था, किन्तु आगे अवस्था बदली। हकम द्वितीयके बाद यह पहिला

समय था जब कि दर्शनके साथ हुकूमतने सहानुभूति दिखानी शुरू की। अबूमर्दा बिन-जुह्र और इब्न-तुफैल उस वक्त स्पेनमें दो प्रसिद्ध दार्शनिक थे, अब्दुल्मोमिनने दोनोंको ऊँचे दर्जे दिये। अब्दुल्मोमिन शिक्षाका बड़ा प्रेमी था। अब तक विद्यार्थी मस्जिदोंमें ही पढ़ा करते थे, मोमिनने मद्रसोंके लिए अलग खास तरहकी इमारतें बनवाईं। उसका ख्याल था, कि जो बुराइयाँ इस्लाममें आयेदिन घुस आया करती हैं, उनके दूर करनेका उपाय शिक्षा ही है।

मोमिनके बाद (११६३ ई०) उसका पुत्र मुहम्मद ४८ दिन तक राज कर सका, और नालायक समझ गद्दीसे उतार दिया गया; उसके बाद उसका भाई याकूब मन्सूर (११६३-८४) गद्दीपर बैठा, इसमें मोमिनके बहुतसे गुण थे, कितनी ही कमजोरियाँ भी थीं, जिन्हें हम रोश्दके वर्णनमें बतलायेंगे।

§ २–स्पेनके दार्शनिक

१–इब्न-बाजा[1] (मृ० ११३८ ई०)

(१) **जीवनी**—अबू-बक्र मुहम्मद (इब्न-यहिया इब्न-अल्-सायग़) इब्न-बाजाका जन्म स्पेनके सरगोसा नगरमें ग्यारहवीं सदीके अन्तमें उस वक्त हुआ था, जब कि स्पेनिश सल्तनत खतम होकर स्वतंत्र सामन्तोंमें बँटनेवाली थी। स्पेनके उत्तरमें अर्धसभ्य लड़ाकू ईसाई सर्दारोंकी अमलदारियाँ थीं, जिनसे हर वक्त खतरा बना रहता था। देशकी साधारण जनता उसी दयनीय अवस्थामें पहुँच गई थी जो कि तारिकके आते वक्त थी। मुल्समीन दर्शनके कितने प्रेमी थे, यह तो ग़ज़ालीके ग्रंथोंकी होलीसे हम जान चुके हैं, ऐसी अवस्थामें बाजा जैसे दार्शनिकको एक अजनबी दुनियामें आये जैसा मालूम हो तो कोई ताज्जुब नहीं। बाजाकी कीमतको सरगोसाके गवर्नर अबू-बक्र इब्न-इब्राहीमने समझा, जो स्वयं

[1] Avempace.

दर्शन, तर्कशास्त्र, गणित, ज्योतिषका पंडित था। उसने बाजाको अपना मित्र और मंत्री बनाया, जिसका फल यह हुआ कि मुल्ला (=फकीह) और सैनिक उसके खिलाफ हो गए और वह ज्यादा दिन तक गवर्नर नहीं रह सका।

बाजाके जीवनके बारेमें सिर्फ इतना ही मालूम है कि सरगोसाकी पराजयके बाद १११८ ई०में वह शेविलीमें रहा, जहाँ उसने अपनी कई पुस्तकें लिखीं। एक बार उसे अपने विचारोंके लिए जेलकी हवा खानी पड़ी, और रोश्दके बापने उसे छुड़ाया था। वहाँसे वह फेज़ राजदर्बार-में पहुँचा और वहीं ११३८ ई०में उसका देहान्त हुआ। कहा जाता है कि बाजाके प्रतिद्वंद्वी किसी हकीमने उसे जहर देकर मरवा दिया। अपने छोटेसे जीवनसे बाजा स्वयं ऊबा हुआ था, और अन्तिम शान्तिमें पहुँचनेके लिए वह अकसर मृत्युकी कामना करता था। आर्थिक कठिनाइयाँ तो होंगी ही, सबसे ज्यादा अखरनेवाली बात उसके लिए थी, सहृदय विचार-वाले मित्रोंका अभाव और दार्शनिक जीवनके रास्तेमें पग-पगपर उपस्थित होनेवाली कठिनाइयाँ। उस वातावरणमें बाजाको अपना दम घुटता-सा मालूम होता था, और वह फाराबीकी भाँति एकान्त पसन्द करता था।

(२) **कृतियाँ**—बाजाने बहुत कम पुस्तकें लिखी हैं और जो लिखी भी हैं, उन्हें सुव्यवस्थित तौरसे लिखनेकी कोशिश नहीं की। उसने छोटी-छोटी पुस्तकें अरस्तू तथा दूसरे दार्शनिकोंके ग्रंथोंपर संक्षिप्त व्याख्याके तौर-पर लिखी हैं। बाजाकी पुस्तकोंमें "तद्बीरु'ल्-मुत्वह्हद्" और "हयातु'ल्-मोतज़िल" ज़्यादा दिलचस्प इस अर्थमें हैं, कि उनमें बाजाने एक राज-नीतिक दृष्टिकोण पेश किया है। रोश्दने इस दृष्टिकोणके बारेमें लिखा है—'इब्न'स्-सायग़ (बाजा)ने हयातु'ल्-मोतज़िलमें एक ऐसा राजनीतिक दृष्टिकोण पेश किया है, जिसका संबंध उन मानव-समुदायोंसे है, जो अत्यन्त शान्तिके साथ जीवन व्यतीत करना चाहते हैं।"[1]

---

[1] "अल्-इत्तिसाल"।

बाजाका विचार है, कि राज्य (हकूमत) की बुनियाद आचारपर होनी चाहिए। उसके ख्यालसे एक स्वतंत्र प्रजातंत्रमें वैद्यों और जजों (न्यायाधीशों) की श्रेणीका होना बेकार है। जब आदमी सदाचारपूर्ण जीवन बितानेके लिए अभ्यस्त हो जायेंगे, और खाने-पीने तथा आमोद-प्रमोदमें संयम और मितव्ययिताकी बान डाल लेंगे, तो ज़रूर ही वैद्योंकी ज़रूरत नहीं रह जायगी। इसी तरह जजोंकी श्रेणी इसलिए बेकार है कि ऐसे समाजमें व्यभिचार तथा आचारिक पतनका पता नहीं होगा; फिर मुकदमा कहाँसे आयेगा ? और जज लोग फैसला क्या करेंगे ?

(३) दार्शनिक विचार—बाजासे एक सदी पहिले जिब्रोल हो चुका था। ग़ज़ाली बाजासे सत्ताईस साल पहिले मरे थे। पूर्वके दूसरे दार्शनिकों खासकर फाराबीका उसपर बहुत ज़्यादा असर था। बाजाकी रायमें दिव्य प्रकाश द्वारा सत्य-साक्षात्कारके पूर्ण लाभ मात्रसे सुखी होनेकी बातसे आनंदित हो ग़ज़ाली वास्तविक तत्त्व तक नहीं पहुँच सका। दार्शनिकको ऐसे आनंदको भी छोड़ना होगा, क्योंकि धार्मिक रहस्यवाद द्वारा जो प्रतिबिंब मानसतलपर प्रकट होते हैं वह सत्यको खोलते नहीं ढाँकते हैं। किसी भी तरहकी आकांक्षासे अकंपित शुद्ध चिन्तन ही महान् ब्रह्मके दर्शनका अधिकारी बनाता है।

(क) प्रकृति-जीव-ईश्वर—बाजाके अनुसार जगत्में दो प्रकारके तत्त्व हैं—(१) एक वह जो कि गतियुक्त होता है; (२) दूसरा जो कि गति-रहित है। जो गतियुक्त है, वह पिंड (=जड़) और परिच्छिन्न (=सीमित) होता है; परिच्छिन्न शरीर होनेके कारण वह स्वयं अपने भीतर सदा होती रहती गतिका कारण नहीं हो सकता। उसकी अनन्त गतिके लिए एक ऐसा कारण चाहिए, जो कि अनन्त शक्ति या नित्य-सार हो, यही ब्रह्म (=नफ़्स) है। पिंड (=शरीर) या प्राकृतिक (जड़) तत्त्व परतः गतियुक्त होता है, ब्रह्म (=नफ़्स) स्वयं अचल रहते, पिंड (जड़ तत्त्व) को गति प्रदान करता है; (३) जीव तत्त्व इन दोनों (जड़, ब्रह्म) तत्त्वोंके बीचकी स्थिति रखता है—उसकी गति स्वतः है। पिंड और

जीवका संबंध एक दूसरेसे कैसे होता है, इस प्रश्नको बाजा महत्त्व नहीं देता, उसके लिए सबसे बड़ी समस्या है—'मानवके अन्दर जीव और ब्रह्म आपसमें कैसा संबंध रखते हैं?"

(a) **"आकृति"**—अफलातूंकी भाँति बाजा मान लेता है कि जड़ (भूत) तत्त्व बिना "आकृति"के नहीं रह सकता, किन्तु "आकृति" बिना जड़ तत्त्वके भी रह सकती है, क्योंकि ऐसा न माननेपर विश्वके परिवर्तनकी कोई व्याख्या नहीं हो सकती—यह परिवर्तन वास्तविक आकृतियोंके आने और जानेसे ही संभव है। बाजाकी इस बातको समझनेके लिए एक उदाहरण लीजिए—घड़ा आकृति (मुटाई, गोलाई आदि) और भूत तत्त्व (मिट्टी) दोनोंके मिलनेसे बना है। जब मिट्टीसे आकृति नहीं जुड़ी थी, तब वहाँ घड़ा नहीं था। चिरकालसे मिट्टी पड़ी थी, किन्तु घड़ा वहाँ नदारद था, क्योंकि आकृति उससे आकर नहीं मिली थी। अब आकृति आकर मिट्टीसे मिलती है, मिट्टी घड़ेका रूप धारण करती है। जब यह आकृति मिट्टीको छोड़कर चली जाती है, तो घड़ा नष्ट हो जाता है। पिथागोर, अफलातूं, अरस्तू सभी इस "आकृति" पदार्थपर सबसे ज्यादा जोर देते हैं, और कहते हैं कि वह पिंडसे बिलकुल स्वतंत्र पदार्थ है, और वही जगत्के परिवर्तनका कारण है।

(b) **मानवका आत्मिक विकास**—इन आकृतियोंके कई दर्जे हैं, सबसे निचले दर्जेमें हेंवला (सक्रिय-प्रकृति)में पाई जानेवाली आकृतियाँ हैं, और सबसे ऊपर शुद्ध आत्मिक (ब्रह्म) आकृति। मानवका काम है सभी आत्मिक **आकृतियों**का एक दूसरेके साथ साक्षात्कार (बोध) करना—पहिले सभी पिंडमय पदार्थोंकी सभी बुद्धिगम्य आकृतियोंका बोध, फिर वाह्यान्तःकरणों द्वारा उपस्थापित सामग्रीसे जीवका जो स्वरूप प्रतीत होता है, उसका बोध; फिर खुद मानव-विज्ञान[1] और उसके ऊपरके कर्त्ता-विज्ञान

---

[1] यूनानी दर्शनका अनुसरण करते इस्लामिक दार्शनिक जीव (=रूह)से विज्ञान (=नफ़्स)को अलग मानते हैं।

आत्माका बोध और अन्तमें ब्रह्माण्डके शुद्ध विज्ञानोंका बोध। इस तरह जीवके लिए वांछनीय बोधका विकास क्रम हुआ—

(१) प्राकृतिक-"आकृति"
(२) जीव-"आकृति"
(३) मानव-विज्ञान-"आकृति"
(४) क्रिया-विज्ञान-"आकृति"
(५) ब्रह्माण्ड–विज्ञान (ब्रह्म)-"आकृति"

वैयक्तिक तथा इन्द्रिय-ज्ञेय भौतिक तत्त्व—जो कि विज्ञान (=नफ़्स)-की क्रियाका अधिकरण है—से क्रमशः ऊपर उठते हुए मानव अमानुष दिव्य तत्त्व (ब्रह्म) तक पहुँचता है (मुक्ति प्राप्त करता) है।

(ख) ज्ञान बुद्धि-गम्य—ग़ज़ालीने ज्ञानसे परे योगि-प्रत्यक्ष (=मुकाशफ़ा)को मुक्तिका साधन बतलाया, बाजा "ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः" (ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं) के शब्दार्थका अनुयायी है; इसीलिए दिव्यतत्त्व तक पहुँचने (=मुक्ति)के लिए (रहस्यमय) सूफीवादको नहीं, दर्शनको पथप्रदर्शक मानता है। दर्शन **सामान्य**का ज्ञान है। सामान्य-ज्ञान प्राप्त होता है, विशेष या व्यक्तिके ज्ञानसे चिन्तना—कल्पना—के द्वारा, किन्तु इसमें ऊपरके बोधदायक विज्ञानकी सहायताकी भी ज़रूरत है। इस सामान्य या अनन्त—जिसमें कि सत्ता ("है") तथा प्रत्यक्ष विषय ("होना") एक हैं—के ज्ञानसे तुलना करनेपर, वाह्य वस्तुओंकी सभी मानस प्रतीतियाँ और चिन्तन भ्रमात्मक हैं। वास्तविक ज्ञान सामान्य ज्ञान है, जो सिर्फ बुद्धि-गम्य है। इससे पता लगा कि इन्द्रिय-गम्य ज्ञानसे सदा लिप्त मजहबी और योगिक स्वप्न (ध्यान) देखनेसे मानव-विज्ञान पूर्णता (मुक्ति)को नहीं प्राप्त हो सकता, उसे पूर्णता तक पहुँचनेका रास्ता एक ही है और वह है बुद्धिगम्य-ज्ञान। चिन्तन सर्वश्रेष्ठ आनन्द है, और उसीके लिए जो कुछ बुद्धिगम्य है, उसे जानना होता है। बुद्धिगम्य ज्ञान केवल **सामान्य**का ज्ञान

---

[1] **आलम्-अफ़लाक्=आसमानोंकी दुनिया, फरिश्ते।**

है, और वही **सामान्य** वस्तुसत् है, इन्द्रिय-गम्य **व्यक्ति** वस्तु-सत् नहीं हैं, इसलिए, इस जीवनके बाद व्यक्तिके तौरपर मानव-विज्ञानका रहना संभव नहीं। मानव-विज्ञान तो नहीं, किंतु हो सकता है, मानव-जीव (जो कि व्यक्तिका ज्ञान करता है, और उसके अस्तित्वको अपनी इच्छा और क्रियासे प्रकट करता है) मृत्युके बाद ऐसे वैयक्तिक अस्तित्वको जारी रखने तथा कर्मफल पानेकी क्षमता रखता हो। लेकिन विज्ञान (=नफ़्स) या जीवका बौद्धिक (इन्द्रियक नहीं) अंश सबमें एक है। यह सारी मानवताका **विज्ञान**—अर्थात् वह एक **बुद्धि** मानवताके भीतरका **मन** या विज्ञान ही एक मात्र नित्य सनातन तत्त्व है, और वह विज्ञान भी अपने ऊपरके **कर्त्ता-विज्ञानके** साथ एक होकर।

बाजाके सिद्धान्तको हम फाराबीमें भी अस्पष्टरूपमें पाते हैं, और बाजाके योग्य शिष्य रोश्दने तो इसे इतना साफ किया कि मध्यकालीन युरोपकी दार्शनिक विचारधारा में इसे रोश्दका सिद्धान्त कहा जाता था।

(ग) मुक्ति—विज्ञान (=नफ़्स)के उस चरम विकास—सामान्य-विज्ञानके समागम—को बहुत कम मनुष्य प्राप्त होते हैं। अधिकांश मानव अँधेरेमें ही टटोलते रहते हैं। यह ठीक है, कितनेंही आदमी **ज्योति** और वस्तुओंकी रंगीन दुनियाको देखते हैं, किंतु उनकी संख्या बहुत ही कम है, जो कि देखे हुए सारका बोध करते हैं। वही, जिन्हें कि सारका बोध होता है, अनन्त जीवनको पाते तथा स्वयंज्योति बन जाते हैं।

ज्योति बनना या मुक्त होना कैसे होता है, इसके लिए बाजाका मत है—बुद्धि-पूर्वक क्रिया और अपनी बौद्धिक शक्तिका स्वतंत्र विकास ही उसका उपाय है। बुद्धि-क्रिया स्वतंत्र (=बिना मजबूरीकी) क्रिया है; वह ऐसी क्रिया है जिसके पीछे उद्देश्यप्राप्ति या प्रयोजनका ख्याल काम कर रहा है। उदाहरणार्थ, यदि कोई आदमी ठोकर लगनेके कारण उस पत्थरको तोड़ने लगता है, तो वह छोटे बच्चे या पशुकी भाँति उद्देश्य-रहित काम कर रहा है; यदि वह इसी कामको इस ख्यालसे कर रहा है, कि दूसरे उससे ठोकर न खायें, तो उसके कामको मानवोचित तथा बुद्धि-

पूर्वक कहा जायेगा।

(घ) **"एकान्तता-उपाय"**—बाजाकी एक पुस्तकका नाम "तद्-बीरुल्-मुत्वह्हद्" या एकान्तताका उपाय है। आत्माकी चरम उन्नतिके लिए वह एकान्तता या एकान्तचिन्तनके जीवनपर सबसे ज़्यादा ज़ोर देता है, फ़ाराबीने इस विचारको अपनी मातृभूमि (मध्य-एसिया)के बौद्ध-विचारोंके ध्वंसावशेषसे लिया था, और बाजाने इसे फाराबीसे लिया—और इस सारे लेन-देनमें बौद्ध दुःख (निराशा)-वाद चला आये तो आश्चर्य ही क्या ? एकान्तताके जीवनके पीछे समाजपर व्यक्तिकी प्रधानताकी छाप स्पष्ट है और इसीलिए बाजा एक ऐसे अ-सामाजिक समाजकी कल्पना करता है, जिसमें वैद्यों और जजों (न्यायाधीशों)की जरूरत नहीं, जिसमें एक दूसरेकी स्वच्छंदतापर प्रहार किए बिना मानव कमसे कम पारस्परिक संपर्क रखते आत्माराम हो विहरें।—"वह पौधोंकी भाँति खुली हवामें उगते हैं, उन्हें मालीके चतुर हाथोंकी आवश्यकता नहीं, वह (अज्ञानी) लोगोंके निकृष्ट भोगों और भावुकताओंसे दूर रहते हैं। वह संसारी समाजके चाल-व्यवहारसे कोई सरोकार नहीं रखते। और चूँकि वह एक दूसरेके मित्र हैं, इसलिए उनका जीवन पूर्णतया प्रेमपर आश्रित है। फिर सत्यस्वरूप ईश्वरके मित्रके तौरपर वह अमानुष (दिव्य) ज्ञान-विज्ञानकी एकतामें विश्राम पाते हैं।[1]

२—इब्न-तुफ़ैल[2] (मृत्यु ११८५ ई०)

अब्दुल्मोमिन् (११४७-६३)के शासनका जिक्र हम कर चुके हैं। उसके पुत्र यूसुफ (११६३-८४ ई०) और याकूब (११८४-९८ ई०)का शासन-काल मोहिदीन वंशके चरम-उत्कर्षका समय है। इन्हींके समय स्पेनमें फिर दर्शनका मान बढ़ा। इस वक्त दर्शनके मान बढ़नेका मतलब

---

[1] "The Philosophy in Islam" (by Dr. T. J. De Boer), pp. 180-81 [2] Abubacer.

था समाजमें शारीरिक श्रमसे मुक्त मनुष्योंकी अधिकता, और जिसका मतलब था गुलामी और गरीबीके सीकड़ोंका कमकर जनतापर भारी भार और उसके बर्दाश्त करनेके लिए मजहब और परलोकवादके अफीसकी कड़ी पुड़ियोंका उत्साहके साथ वितरण। यही समय भारतमें जयचन्द और "खंडनखंडखाद्य" (शून्यवादी वेदान्त)के कर्त्ता श्रीहर्ष कविका है।

(१) **जीवनी**—अबू-बक्र मुहम्मद (इब्न-अब्दुल्मलिक) इब्न-तुफ़ैल (अल्-क़ैसी)का जन्म गर्नाताके गादिस[1] स्थानमें हुआ। उसका जन्म-संवत् अज्ञात है। उसने अपनी जन्मभूमि हीमें दर्शन और वैद्यकका अध्ययन किया। बाजा (मृत्यु ११३८ ई०) शायद उस वक्त तक मर गया था, किन्तु इसमें शक नहीं बाजाकी पुस्तकोंने उसके लिए गुरुका काम किया था। शिक्षा-समाप्तिके बाद तुफ़ैल गर्नाता[2]के **अमीर**का लेखक हो गया। किन्तु तुफ़ैलकी योग्यता देर तक गर्नाताकी सीमाके भीतर छिपी नहीं रह सकती थी और कुछ समय ही बाद (११६३ ई०) सुल्तान यूसुफ़ने उसे मराको बुलाकर अपना वज़ीर और राजवैद्य नियुक्त किया। तुफ़ैल सर्कारी काम-से जो समय बँचा पाता, उसे पुस्तकावलोकनमें लगाता था। उसका अध्ययन बहुत विस्तृत ज़रूर था, किन्तु वह उन विद्वानोंमें था, जिनको अध्ययनके फलको अपने ही तक सीमित रखनेमें आनंद आता है; इसीलिए लिखनेमें उसका उत्साह नहीं था।

यूसुफके बाद याकूब (११८४-९८ ई०) सुल्तान बना, उसने भी तुफ़ैलका सम्मान बापकी तरह ही किया। इसीके शासनमें ११८५ ई०में तुफ़ैलकी मराकोमें मृत्यु हुई।

(२) **कृतियाँ**—तुफ़ैलकी कृतियोंमें कुछ कवितायें तथा "हई इब्न-यक़ज़ान" (प्रबुद्ध-पुत्र जीवक)की कथा है। "हईकी कथा" डेढ़ सौ साल पहिलेकी बू-अली सीना (९८०-१०३७ ई०) रचित "हई इब्न-यक़ज़ान"-

---

[1] Gaudix.　　[2] Granada.

की नकल नाममें जरूर है, किन्तु विचार उसमें तुफ़ैलके अपने हैं।

(३) दार्शनिक विचार—(क) बुद्धि और आत्मानुभूति[1]—बुद्धि-पूर्वक ज्ञानकी प्रधानताको माननेमें तुफ़ैल भी बाजासे सहमत है, यद्यपि वह उतनी दूर तक नहीं जाता, बल्कि कहीं-कहीं तो ग़ज़ालीकी भाँति उसकी टाँग लड़खड़ाने लगती है—

"आत्मानुभूति" ("योगि प्रत्यक्ष") से जो कुछ दिखाई देता है, उसे शब्दों द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह (आत्मानुभूति द्वारा देखा तत्त्व) गौरवपूर्ण ऊँचे अर्थोंवाले शब्दोंके पहिनावेमें पड़कर दुनियाके चलते-फिरते पदार्थों जैसे लगने लगते हैं; जो कि सत्य(स्वरूप) आत्माके विचारसे देखनेपर उनसे कोई संबंध नहीं रखते। यही वजह है, कि कितने ही (विद्वान्) लोग अपने भावोंको प्रकट करनेमें असमर्थ रहे, और बहुतोंने इस राहमें ठोकरें खाईं।"[2]

(ख) हईकी कथा—दो द्वीप हैं, जिनमेंसे एकमें हमारे जैसा मानव-समाज अपनी सारी रूढ़ियोंके साथ है; और दूसरेमें एक अकेला आदमी प्रकृतिकी गोदमें आत्मविकास कर रहा है। समाजवाले द्वीपमें मनुष्यकी निम्न प्रवृत्तियोंका राज है, जिसपर यदि कोई अंकुश है तो मोटे ज्ञानवाले धर्मका बाहरी नियंत्रण। किन्तु इसी द्वीपमें इसी परिस्थितिमें पलते दो आदमी—सलामाँ और असल बुद्धिपूर्वक (बौद्धिक) ज्ञान तथा अपनी इच्छाओंपर विजय प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं। सलामाँ व्यवहारकुशल मनुष्य है, वह सार्वजनिक धर्मके अनुसार बने हुए लोगोंपर शासन करता है। **असल** मननशील तथा सन्तप्रवृत्तिका आदमी है, वह पर्यटन करते दूसरे द्वीपमें पहुँच जाता है। पहिले वह उसे एक निर्जन द्वीप समझता है, और वहाँ स्वाध्याय तथा योगाभ्यासमें लग जाता है।

लेकिन, इस द्वीपमें हई यक़्ज़ान—(प्रबुद्ध)का पुत्र हई (जीवक)—एक पूर्ण दार्शनिक विद्यमान है। हई इस द्वीपमें बचपनमें ही फेंक दिया

---

[1] Intuition. [2] **रिसाला "हई बिन्-यक़्ज़ान", पृष्ठ १३६**

गया था, अथवा अयोनिज प्राणीकी तरह वहीं उत्पन्न हुआ था। बचपनमें हरिनियोंने उसे दूध पिलाया, सयाना होनेपर उसे सिर्फ अपनी बुद्धिका सहारा रह गया था। उसने अपनी बुद्धिको पूरा इस्तेमाल किया, और उसके द्वारा उसने शारीरिक आवश्यकताओंकी ही पूर्ति नहीं की, बल्कि निरीक्षण और मनन द्वारा उसने प्रकृति, आसमानों (=फरिश्ते), ईश्वर और स्वयं अपनी आन्तरिक सत्ताका ज्ञान प्राप्त करते हुए ७×७ (४९) वर्ष तक उस उच्चतम अवस्थाको प्राप्त हो गया है, जिसे ईश्वरका सूफीवाला साक्षात्कार या समाधि-अवस्था कहते हैं। जब असल वहाँ पहुँचा, तो हई इसी अवस्थामें था। हईको भाषा नहीं मालूम थी, इसलिए पहिलेपहिल दोनोंको एक दूसरेके विचारोंके जाननेमें दिक्कत हुई, किन्तु जब वह दिक्कत दूर हो गई, तो उन्होंने एक-दूसरेको अपने तजर्बे बतलाये; जिससे पता लगा कि हईका दर्शन और **असल**का धर्म एक ही सत्यके दो रूप हैं, फर्क दोनोमें इतना ही है कि पहिला दूसरेकी अपेक्षा कम ढँका है।

जब हई (जीवक)को मालूम हुआ, कि सामनेके द्वीपमें ऐसे लोग बसते हैं, जो अंधकार और अज्ञानमें अपना जीवन बिता रहे हैं; तो उसने निश्चित किया कि वहाँ जाकर उन्हें भी सत्त्यका दर्शन कराये। जब उसे उन लोगोंसे वास्ता पड़ा, तो पता लगा कि वह सत्त्यके शुद्ध दर्शन करनेमें असमर्थ हैं; तब उसने समझा कि पैगंबर मुहम्मदने ठीक किया जो कि उन्होंने लोगोंको पूर्ण ज्योति न प्रदान कर, उसके मोटे रूपको प्रदान किया। इस तरह हार स्वीकार कर हई अपने मित्र असलको लिये फिर अपने द्वीपमें चला गया, और वहाँ अपनी शुद्ध दार्शनिक भावनाके साथ जीवनके अन्तिम क्षण तक भगवान्‌की उपासना करता रहा।

सीना और तुफ़ैलके हईमें फर्क है, दोनों ही हई प्रबुद्ध-पुत्र या दार्शनिक हैं, किन्तु जहाँ सीनाका हई अपने दार्शनिक ज्ञानसे दूसरेको मार्ग बतलानेमें सफल होता है, वहाँ तुफ़ैलका हई हार मानकर मुहम्मदी मार्गकी प्रशंसा करता हुआ लौट आता है। तो भी दोनोंमें एक बात ज़रूर एकसी है—दोनों ही ज्ञान-मार्गको श्रेष्ठ मानते हैं।

(ग) ज्ञानीकी चर्या—हईकी चर्याके रूपमें तुफ़ैलने ज्ञानी या दार्शनिककी दिनचर्या बतलाई है। हई कर्मको छोड़ता नहीं, वह उसे करता है, किंतु इस उद्देश्यसे कि सबमें एक (अद्वैत तत्त्व)को ढूँढ़े और उस स्वयं-विद्यमान परम(-तत्त्व)से अपनेको मिला दे। हई सारी प्रकृतिको उस सर्वश्रेष्ठ सत्ता तक पहुँचनेके लिए प्रयत्नशील देखता है। हई (कुरानकी) इस बातको नहीं मानता, कि पृथिवीकी सारी वस्तुएं मनुष्यके लिए हैं। मनुष्यकी भाँति ही पशु और वनस्पति भी अपने लिए और भगवान्‌के लिए जीते हैं, इसलिए हई उचित नहीं समझता कि उनके साथ मनमाना बर्ताव करे। वह अपनी शारीरिक आवश्यकताओंको कम करके उतना ही रहने देता है, जितना कि जीनेके लिए अत्यन्त ज़रूरी है। वह पके फलोंको खाता है, और उनके बीजोंको बड़ी सावधानीसे धरतीमें गाड़ देता है, जिसमें किसी वनस्पति-जातिका उच्छेद न हो। कोई दूसरा उपाय न रहनेपर ही हई मांस ग्रहण करता है, और वहाँ भी वह इस बातका पूरा ख्याल रखता है, कि किसी जातिका उच्छेद न हो। "जीनेके लिए पर्याप्त, सोनेके लिए पर्याप्त नहीं" हईके आहारका नियम है।

पृथ्वीके साथ उसके शरीरका संबंध कैसा होना चाहिए, उसका निदर्शन है, हईकी यह शरीर-चर्या। लेकिन उसका जीवन-तत्त्व उसे **आसमानों** (=फरिश्ते)से संबद्ध कराता है; आसमानों (=फरिश्तों)की भाँति ही उसे अपने पास-पड़ोसके लिए उपयोगी बनना तथा अपने जीवनको शुद्ध रखना चाहिए। इसी भावको सामने रखते हुए, अपने द्वीपको स्वर्गके रूपमें परिणत करनेके लिए हई अपने पास-पड़ोसके पौधोंको सींचता, खोदता तथा पशुओंकी रक्षा करता है; अपने शरीर और कपड़ोंको शुद्ध रखनेका बहुत अधिक ध्यान रखता है; और कोशिश करता है कि, आसमानी पिंडों (ग्रहों, आदि)की भाँति ही अपनी हर एक गतिको सबकी अनुकूलताके साथ रखे।

इस तरह हई अपनी आत्माको पृथिवी और आस्मानसे ऊपर उठाते हुए **शुद्ध-आत्मा** तक पहुँचानेमें समर्थ होता है। यही वह समाधि (=आत्म-

विस्मृति)की अवस्था है, जिसे किसी भी कल्पना, शब्द, मानसप्रतिबिंब द्वारा न जाना जा सकता है, न प्रकट किया जा सकता है।

३—इब्न[1]-रोश्द (११२६-९८ ई०)

बू-अली सीनाके रूपमें जैसे पूर्वमें दर्शन अपने उच्चतम शिखरपर पहुँचा, उसी तरह रोश्द पश्चिमी इस्लामिक दर्शनका चरम् विकास है। यही नहीं, रोश्दका महत्त्व मध्यकालीन युरोपीय दर्शन-चक्रको गति देकर आधुनिक दर्शनके लिए क्षेत्र तैयार करनेमें साधन होनेके कारण और बढ़ जाता है।

(१) जीवनी—अबू-वलीद मुहम्मद (इब्न-अहमद इब्न-मुहम्मद इब्न-अहमद इब्न-अहमद) इब्न-रोश्दका जन्म सन् ११२६ ई० (५२० हिजरी)में स्पेनके प्रसिद्ध शहर कार्दोवा (क़र्तवा)में एक शिक्षित परिवारमें हुआ था। कार्दोवा उस समय विद्याका महान् केन्द्र तथा १० लाखकी आबादीकी महानगरी थी। रोश्दके खान्दानके लोग ऊँचे-ऊँचे सरकारी पदोंपर रहते चले आए थे। रोश्दका दादा मुहम्मद (१०५८-११२६ ई०) फ़िका (=इस्लामिक मीमांसा)का भारी पंडित कार्दोवाका महाजज (क़ाज़ी-उल्-क़ुज़्ज़ात्) तथा जामा-मस्जिदका इमाम था। रोश्दका बाप अहमद (१०९४-११६८ ई०) भी अपने बापकी तरह कार्दोवाका क़ाज़ी (जज) और जामा मस्जिदका इमाम हुआ था। रोश्दका घर स्वयं एक बड़ा विद्यालय था, जहाँ उसके बाप-दादाके पास दूर-दूरके विद्यार्थी काफ़ी संख्यामें आकर पढ़ते थे; फिर बालक रोश्दकी पढ़ाईका माँ-बापने कितना अच्छा प्रबंध किया होगा इसे कहनेकी ज़रूरत नहीं। रोश्दने पहिले-पहिल अपने बापसे क़ुरान और मोता[2] पढ़कर कंठस्थ किया, उसके बाद अरबी साहित्य और व्याकरण। बचपनमें रोश्दको कविता करनेका शौक हुआ था, और उसने कुछ पद्य-रचना भी की थी, किन्तु सयाना होनेपर उसे वह नहीं जँची, और कार्ल मार्क्सकी भाँति उसने अपनी कविताओंको आगके सिपुर्द कर दिया।

---

[1] Averroes. [2] इमाम मालिककी लिखी फ़िक़ाकी एक पुस्तक।

दर्शनका शौक रोश्दको बचपनसे ही था। उस वक्त बाजा (११३८ ई०) जिन्दा था। रोश्दने इस तरुण दार्शनिकसे दर्शन और वैद्यक पढ़ना शुरू किया, लेकिन बाजाके मरनेके बाद उसे दूसरे गुरुओंकी शरण लेनी पड़ी, जिनमें अबू-बक्र बिन्-जज़ियोल और अबू-जाफ़र बिन्-हारून रजाली ऊँचे दर्जेके दार्शनिक थे।

बाजाका शागिर्द तथा स्वयं भी दर्शनका पण्डित होनेके कारण तुफ़ैल-की नजर रोश्दपर पड़नी ज़रूरी थी। अभी रोश्दकी विद्वत्ताका सिक्का नहीं जम पाया था, उसी वक्त तुफ़ैलने लिखा था—[1]

"बाजाके बाद जो दार्शनिक हमारे समकालीन हैं, वह अभी निर्माणकी अवस्थामें हैं, और पूर्णताको नहीं पहुँच पाये हैं, इसलिए उनकी वास्तविक योग्यता और विद्वत्ताका अंदाजा अभी नहीं लगाया जा सकता।"

रोश्दने साहित्य, फ़िक़ा (=इस्लामिक मीमांसा), हदीस (=पैगंबर-वचन) आदिका भी गंभीर अध्ययन किया था, किन्तु वैद्यक और दर्शनमें उसका लोहा लोग जल्दी ही मानने लगे। शिक्षा समाप्तिके बाद रोश्द कार्दोवामें वैद्यकका व्यवसाय और अध्यापनका काम करता रहा।

तुफ़ैल रोश्दका दोस्त था, उसने समय पाकर सुल्तान यूसुफसे उसकी तारीफ की। रोश्दकी यूसुफसे इस पहिली मुलाकातका वर्णन, रोश्दके एक शागिर्दसे सुनकर अब्दुलवाहिद मराकशीने इस प्रकार किया है—

"जब मैं दरबारमें दाखिल हुआ, तो वहाँ तुफ़ैल भी हाजिर था। उसने अमीरु'ल्-मोमिनीन (खलीफा) यूसुफके सामने मुझको पेश किया और वह मेरे खान्दानकी प्रतिष्ठा, मेरी अपनी योग्यता और विद्याको इतना बढ़ा चढ़ाकर बयान करने लगा, जिसके कि मैं योग्य न था, और जिससे मेरे साथ उसका स्नेह और कृपा प्रकट होती थी। यूसुफने मेरी ओर देखते हुए मेरे नाम आदिको पूछा। फिर एक बारही मुझसे सवाल कर बैठा, कि दार्शनिक (अरस्तू आदि) आसमानों (=देवताओं)के बारेमें क्या राय

---

[1] "हई बिन्-यक़्ज़ान"।

रखते हैं, अर्थात् वह दुनियाको नित्य या नाशवान् मानते हैं। यह सवाल सुनकर मैं डर गया, और चाहा कि किसी बहानेसे उसे टाल दूँ। यह सोचकर मैंने कहा कि मैं दर्शनसे परिचित नहीं हूँ। यूसुफ (सुल्तान) मेरी घबराहटको समझ गया, और मेरी ओरसे फिरकर तुफैलकी ओर मुँह कर उसने इस सिद्धान्तपर बहस शुरू कर दी, और अरस्तू, अफलातूं, तथा दूसरे (दर्शनके) आचार्योंने जो कुछ इस सिद्धान्तके बारेमें लिखा है, उसे सविस्तर कहा। फिर इस्लामके वाद-शास्त्रियों (=मुत्कल्लमीन्)ने (दर्शन-) आचार्योंपर जो आक्षेप किये हैं, उन्हें एक-एक कर बयान किया। यह देखकर मेरा भय जाता रहा।. . .अपना कथन समाप्तकर (यूसुफ-ने) फिर मेरी ओर नजर की। अब मैंने आजादीके साथ इस सिद्धान्तके संबंधमें अपने विचार और ज्ञानको प्रकट किया। जब मैं दरबारसे चलने लगा, तो (सुल्तानने) मुझे नकद अशर्फी, खिलअत (=पोशाक), सवारीका घोड़ा और बहुमूल्य घड़ी प्रदान की।"[1]

यूसुफ पहिली ही मुलाकातमें रोश्दकी विद्वत्तासे बहुत प्रभावित हुआ। ११६६ ई० (५६५ हिजरी)में यूसुफने रोश्दको शेविली (अश्बीलिया)[2]-का जज (क़ाज़ी) नियुक्त किया। इसी सन् (५६५ हिजरी सफ़र मास)में शेविलीहीमें रोश्दने अरस्तूके "प्राणिशास्त्र"की व्याख्या समाप्त की। रोश्द अपनी पुस्तकोंमें अकसर शिकायत करता है—"अपने सरकारी कामसे बहुत लाचार हूँ, मुझको इतना समय नहीं मिलता कि लिखनेके कामको शान्त चित्तसे कर सकूँ. . . .मेरी अवस्था बिलकुल उस आदमीकी है, जिसके मकानमें चारों तरफसे आग लग गई हो और वह परेशानी और घबराहटकी हालतमें सिर्फ मकानकी ज़रूरी और कीमती चीजोंको बाहर निकाल निकालकर फेंक रहा हो। अपनी ड्यूटीको पूरा करनेके लिए मुझे राज्यके नजदीक और दूरके स्थानोंका दौरा करना पड़ता है। आज राजधानी मराकश (मराको)में हूँ, तो कल कर्तबा (कार्दोवा)में और परसों

[1] **"इब्न-रोश्द" (रेनाँकी फ्रेंच पुस्तक), पृष्ठ १०-११**　　[2] Seville.

फिर अफ़्रीका (मराको)में। इसी तरह बार-बार सल्तनतके जिलोंके दौरेमें वक्त गुजर जाता है, और साथ ही साथ लिखनेका काम भी जारी रहता है, जो कि बहुधा इस मानसिक अस्थिरताके कारण दोषपूर्ण और अधूरा रह जाता है।"[१]

राजकीय अधिकारी बननेके बाद रोश्दकी यही हालत रही, किन्तु रोश्दने दर्शनप्रेममें सीनाकी तरहका दृढ़ संकल्प और कामकी लगन पाई थी, जिसका फल हम देखते हैं इतना बहुधंदी होनेपर भी उसका उतनी पुस्तकोंका लिखना।

११८४ ई० (५८० हिजरी)में यूसुफ मर गया, उसके बाद उसका बेटा याक़ूब मंसूर गद्दीपर बैठा। तोमरत और उसके बाद अब्दुल्मोमिन-ने मोहिदीनोंमें विद्याके लिए इतनी लगन पैदा कर दी थी, कि शाहजादोंको पढ़नेके लिए बहुत समय और श्रम करना पड़ता था। याक़ूब अपने बाप और दादासे भी बढ़-चढ़कर विद्वान् और विद्वत्प्रेमी था। साथ ही वह एक अच्छा जेनरल था, और उठती हुई पड़ोसी ईसाई शक्तियोंको कई बार पराजित करनेमें सफल हुआ।

याक़ूब अपने बापसे भी ज्यादा रोश्दका सम्मान करता था, और अकसर दर्शन-चर्चाके लिए उसे अपने पास रखता था। याक़ूबके साथ रोश्दकी बेतकल्लुफी इतनी बढ़ गई थी, कि वार्तालापमें अकसर वह उसे कहता— "अस्मअ़ो या अखी !" (सुना मेरे मित्र !)....

आखिरी उम्र रोश्द बादशाहसे छुट्टी ले कार्दोवामें रह लेखन-अध्ययन-में बिताने लगा।

११९५ ई० (५९१ हि०)में याक़ूब मंसूर अपने प्रतिद्वंदी अल्फांसोके हमलेका बदला लेनेके लिए कार्दोवा आया और वहाँ तीन दिन ठहरा, इस वक्त रोश्दके सम्मानको उसने चरम सीमा तक पहुँचा दिया। रोश्दके समकालीन एक काज़ीने इस मुलाकातका वर्णन इस प्रकार किया है—

---

[१] "इब्न-रोश्द"—रेनाँ, पृष्ठ १२

"मंसूर जब ५९१ हिजरी (११९५ ई०)में दशम अल्फांसोके ऊपर चढ़ाई करनेकी तैयारी कर रहा था, उस समय उसने रोश्दको मुलाकातके लिए बुलाया। दरबारमें मुहम्मद अब्दुल्वाहिदका बहुत प्रभाव था, वह मंसूरका दामाद और **नदीम-खास** था। इसके बेटेको मंसूरने अफ़्रीकाकी गवर्नरी दी थी। दर्बारमें अबू-मुहम्मद अब्दुलवाहिदकी कुर्सी तीसरे नंबर पर होती थी, लेकिन उस दिन मंसूरने इब्न-रोश्दको अब्दुल्-वाहिदसे भी आगे बढ़ा अपनी बगलमें जगह दी, और देर तक बेतकल्लुफीसे बातें करता रहा। बाहर रोश्दके दुश्मनोंने खबर उड़ा दी, कि मंसूरने उसके क़त्लका हुक्म दे दिया है। विद्यार्थियोंकी भारी जमात बाहर प्रतीक्षा कर रही थी, यह खबर सुनकर सब परेशान हो गये। जब थोड़ी देर बाद इब्न-रोश्द बाहर आया (और असली हालत मालूम हुई तो) उसके दोस्तोंने इस प्रतिष्ठा और सम्मानके लिए उसे बधाई दी। लेकिन आखिरमें हकीम (रोश्द)ने खुशी प्रकट करनेकी जगह अफसोस जाहिर किया, और कहा—'यह खुशीका नहीं बल्कि रंजका मौका है, क्योंकि यकबयक इस तरहकी समीपता बुरे परिणाम लायेगी।'"[1]

रोश्दकी बात सच निकली और उसके जीवनके अन्तिम चार साल बड़े दुःख और शोकसे पूर्ण बन गये।

(क) सत्यके लिए यंत्रणा—११९५ से ११९७ ई० तक याक़ूब मंसूर लड़ाइयोंमें लगा रहा, और अन्तमें दुश्मनोंको जबर्दस्त शिकस्त देनेके बाद उसने शेविलीमें देर तक रहनेका निश्चय किया। रोश्दके इतने बड़े सम्मानसे कितने ही बड़े-बड़े लोग उससे डाह करने लगे थे, उधर रोश्द अपने विचारोंको प्रकट करनेमें सावधानी नहीं रखता था, जिससे उनको अच्छा मौका मिला। उन्होंने रोश्दके कुछ विद्यार्थियोंको उसके विचारों-को जमा करनेमें लगाया। उनका मतलब यह था, कि इस प्रकारसे रोश्द जी खोलकर सब कुछ कह डालेगा और फिर खुद उसीके वचनसे

[1] **"तबक़ातुल्-अतिब्बा"**, पृष्ठ ७९

उसकी बेदीनीके सबूतका एकत्रित करना मुश्किल न होगा। और हुआ भी ऐसा ही। रोश्दने अपने शागिर्दोंसे वह बातें कह डालीं जो कि मुल्लोंके उस धर्मान्ध-युगमें नहीं कहनी चाहिए थीं। दुश्मनोंको और क्या चाहिए था। उन्होंने रोश्दके पूरे व्याख्यानको खूब नमक मिर्च लगाकर सुल्तानके पास पहुँचा दिया। सबूतके लिए सौ गवाह पेश कर दिये गए। यूसुफ चाहे कितना ही दर्शनानुरागी हो, उसे अपने समकालीन जयचंदकी प्रजा न मिली थी, जिसके सामने खुले बाँग श्रीहर्ष न्यायके ऋषि गौतमको गोतम[१] (=महाबैल) कहकर निर्द्वंद घूमते-फिरते, और दर्बारमें "तांबूलद्वय" और "आसन" (कुर्सी?) प्राप्त करते। मंसूर यदि अब रोश्दका पक्ष करता तो उसे प्रजा और सेनाको दुश्मन बनाना पड़ता।

गवाहोंने गवाही दी, रोश्दके हाथके लेख पेश किये गये, जिनमेंसे एकमें रोश्दने बादशाहको अमीरुल'मोमिनीन या सुल्तान न कह "बर्बरों"के सर्दार (मलिकु'ल्-बर्बर)के मामूली नामसे याद किया था। दूसरे लेखमें रोश्दने शुक्र (=ज़ोहरा) ताराको यूनानियोंकी भाँति सम्मान प्रकट करते हुए देवी कहा था। पहिली बातके लिए अब्दुल्ला उसूलीने रोश्दकी ओरसे बहस की, जिसका नतीजा यह हुआ कि वह भी धर लिया गया। सभी गवाहियों, सबूतोंसे यह साबित किया गया कि रोश्द बेदीन नास्तिक है। यूसुफ मजबूर था, उसने रोश्दको अपने शिष्यों और अनुयायियोंके साथ सार्वजनिक सभामें आनेका हुक्म दिया, जिसके लिए कार्दोवाकी जामा मस्जिदको चुना गया। बादशाह अपने दर्बारियोंके साथ वहाँ पहुँचा। इस भारी जल्सेकी कार्रवाईका वर्णन अन्सारीने इस प्रकार किया है—

"मन्सूरकी मजलिसमें इब्न-रोश्दका दर्शन टीका और व्याख्याके साथ पेश किया गया। कुछ डाह करनेवालोंने उसमें नमक-मिर्च भी मिला दी थी। चूँकि सारा दर्शन बेदीनी (=नास्तिकता) से भरा था, इसलिए आवश्यक था कि इस्लामकी रक्षा की जाये। खलीफा (यूसुफ)ने सारी जनताको

---

[१] "नैषधीयचरित"।

एक दर्बारमें जमा किया, जिसका स्थान पहिलेहीसे जामा मस्जिद निश्चित था।....(इस जल्सेमें) यह बतलाना था, कि इब्न-रोश्द पथभ्रष्ट और धिक्कारका पात्र हो गया है। इब्न-रोश्दके साथ काज़ी अबू-अब्दुल्ला उसूली भी इसी अपराधमें धरे गये थे—उनके वार्तालापमें भी बाज वक्त बेदीनी जाहिर हुई थी। कार्दोवाकी जामा मस्जिदमें दोनों अपराधी उपस्थित किये गए....अबू-अली हज्जाजने खड़े होकर घोषित किया कि इब्न-रोश्द नास्तिक (=मुलहिद्) और बेदीन होगया है।"[१]

हज्जाजके व्याख्यानके बाद सुल्तानने खुद इब्न-रोश्दको इस अभिप्रायसे बुलाया कि वह जबावदेही करे, और पूछा कि क्या ये लेख तुम्हारे हैं? यह अजब नाटक था। क्या याक़ूब मन्सूर जानता नहीं था, कि रोश्दके दार्शनिक विचार क्या हैं। क्या वर्षों उसके साथ बेतकल्लुफाना दर्शन-चर्चामें रोश्दके विचार उससे छिपे हुए थे? वह जानते हुए भी लोगोंको अपनी धर्मप्राणता दिखलाने तथा अपनी राजनीतिक स्थितिको सर्वप्रियता द्वारा दृढ़ करनेके ख्यालसे यह अभिनय कर रहा था। अच्छा होता यदि इस वक्त रोश्द भी सुक्रातके रास्तेको स्वीकार किये होता, किन्तु रोश्दका नागरिक समाज अथेन्सके नागरिक समाजसे बहुत निम्न श्रेणीका था, वह उसके साथ अधिक कमीनेपनसे पेश आता? साथ ही रोश्द सब कुछ खोकर भी जितने दिन और जीता उतना ही दर्शन और विचार-स्वातन्त्र्यके लिए अच्छा था। इसके अतिरिक्त रोश्दको अपने शिष्यों—अनुयायियों—मित्रोंका भी ख्याल करना ज़रूरी था। यह सब सोच रोश्दने भी उसी तरह अपने लेखोंसे इन्कार कर दिया, जिस तरह मंसूरने उनके पूर्वपरिचयसे इन्कारका नाटक किया था। जवाब सुनकर मंसूरने उन लेखोंके लिखने-वालेको धिक्कार (लानत) कहा, और उपस्थित जनमंडलीने "आमीन" (एवमस्तु) कहा। इब्न-रोश्दका अपराध सारी जनताके सामने साबित हो गया, उसमें शक-शुबहाकी गुंजाइश न थी। यदि सुल्तान बीचमें न होता,

---

[१] **"इब्न-रोश्द व फिल्सफा"—क़र्हे'ल्-जोन्।**

तो शायद सारी जनमंडलीने गुस्सामें आकर रोश्दकी बोटियाँ नोच डाली होतीं। लेकिन बादशाहकी रायसे सिर्फ इस सज़ापर सन्तोष किया गया, कि वह किसी अलग स्थानपर भेज दिया जाये।

रोश्दके विरुद्ध गवाही देनेवालोंमें कुछने यह भी कहा था, कि स्पेनमें जो अरबी कबीले आकर आबाद हुए हैं, इब्न-रोश्दका उनमेंसे किसीके साथ खान्दानी संबंध नहीं है, और यदि उसका संबंध है तो बनी-इस्राईल (यहूदी)के खान्दानसे। इसपर यह भी फैसला हुआ कि उसे लोसीनिया[1] (=अलेसान्ता)में भेज दिया जाये, क्योंकि यह बनी-इस्राईल(यहूदियों)की बस्ती है, और उनके अतिरिक्त दूसरी जातिके लोग वहाँ नहीं रहते।

रोश्दके दुश्मनों और मुल्लाओंने एक अर्सेसे उसके खिलाफ जो जबर्दस्त प्रचार करके लोगोंकी धर्मान्धताको उत्तेजित कर रखा था, उसे इस फैसलेके बाद भड़क उठनेका बहुत डर था। रोश्द यदि यहूदी बस्तीमें भेज दिया गया, तो यह उसके लिए अच्छा ही हुआ। लोग मुल्लोंकी बातमें आकर कुछ और कह बैठते। इसका ध्यान उन्हें शान्त करने तथा अपनेको संदेह-भाजन न बनानेके लिए मन्सूरने एक खास सरकारी विभाग कायम किया, जिसका काम था दर्शन और तर्कशास्त्रकी पुस्तकोंको एकत्रित कर उन्हें जलाना; तथा इन विद्याओंके पढ़नेवालोंको कड़ी-कड़ी सजाएँ दिलवाना। इसी समय मन्सूरने लोगोंको शान्त करनेके लिए एक फरमान (=घोषणा) लिखकर सारे मुल्कमें प्रकाशित कराया। इस सारे फर्मानको अन्सारीने अपने ग्रन्थ[2]में उद्धृत किया है, और उसके संक्षेपको इस प्रकार दिया है[3]—"पुराने जमानेमें कुछ लोग ऐसे थे, जो मिथ्याविश्वासका अनुगमन करते और हर बातमें उल्टे सीधे सवाल उठाया करते थे; तो भी आम लोग उनकी बुद्धिकी प्रखरता पर लट्टू हो गए थे। इन लोगोंने अपने विचारोंके अनुसार ऐसी पुस्तकें लिखीं जो कि शरीअत (इस्लामी धर्मग्रंथों)से

---

[1] कार्दोवाके पास एक गाँव। [2] "इब्न-रोश्द", पृष्ठ ७३-७६
[3] वहीं, टिप्पणी, पृष्ठ ७६

उतनी ही दूर थीं जितना पूर्वसे पश्चिम दूर है। हमारे समयमें भी कुछ लोगोंने इन्हीं नास्तिकों (=मुल्हिदों) की पैरवी की और उन्हींके मतके अनुसार किताबें लिखीं। यह पुस्तकें देखनेमें कुरानकी आयतों (=वाक्यावलियों) से अधिक अलंकृत हैं, लेकिन भीतरसे कुफ़ (=नास्तिकता) और जिन्दका (=धर्मविरोधी एक मत) हैं। जब हम (सुल्तान मंसूर) को उनके धोका-फरेबका हाल मालूम हुआ, तो हमने उनको दर्बारसे निकाल दिया, और उनकी किताबें जलवा दीं, क्योंकि हम शरीअत और मुसलमानोंको इन नास्तिकोंके फरेबसे दूर रखना चाहते हैं....या खुदा! इन नास्तिकों और उनके दोस्तोंको तबाह और बर्बाद कर।....(फिर लोगोंको हुक्म दिया है कि) इन नास्तिकोंकी संगतसे वैसे ही परहेज करो जैसे विषसे करते हो, यदि कहीं उनकी कोई पुस्तक पाओ तो उसे आगमें झोंक दो, क्योंकि कुफ़्रकी सजा आग है..."

तर्क और दर्शनके प्रति शिक्षित मुल्लाओंका उस वक्त क्या रुख था, वह विद्वान् इब्न-ज़ुह्र—जिसे कि मंसूरने पुस्तकोंके जलानेका इन्चार्ज बनाया था—की इस हरकतसे पता लगेगा। दो विद्यार्थी ज़ुह्रसे वैद्यक पढ़ रहे थे। एक दिन उनके पास कोई किताब देख ज़ुह्रने उसे लेकर गौर किया तो मालूम हुआ, मंतिक़ (=तर्क) की किताब है। ज़ुह्र गुस्सेमें पागल हो नंगे पैर उनके पीछे मारनेके लिए दौड़ा। उन विद्यार्थियोंने फिर ज़ुह्रके पास जाना छोड़ दिया। कुछ दिनों बाद उन्होंने जाकर उस्तादसे कसूरकी माफी माँगी और कहा कि वस्तुतः वह पुस्तक हमारी न थी, एक दोस्तसे हमने जबर्दस्ती छीनी, और गलतीसे हमारे पास रह गई थी। ज़ुह्रने कसूर माफ कर दिया, और नसीहत दी, कि कुरान कंठस्थ करो, फ़िक़ा (=मीमांसा) और हदीस (=पैगंबर-वचन) पढ़ो। जब उन्होंने उसे समाप्त कर लिया, तो उसने स्वयं अपने पुस्तकालयसे फोर्फोरि (=फोर्फोरियस) की पुस्तक **ईसागोजी**को लाकर कहा कि फ़िक़ा और हदीसके बाद अब इसको पढ़नेका समय है, तर्क और दर्शनमें पांडित्य प्राप्त करो, किंतु इससे पहिले दर्शनका पढ़ना तुम्हारे लिए हर्गिज़ उचित न था। इब्न-ज़ुह्र यद्यपि बाहरसे तर्क-दर्शनकी पुस्तकोंको

"जलवाता फिरता" था, किन्तु भीतर स्वयं दर्शनके अध्ययनमें लगा रहता था। जुह्लके एक दुश्मनने रोश्दके उदाहरणसे लाभ उठाकर उसे तबाह करना चाहा। उसने मंसूरके पास बहुतसे लोगोंके हस्ताक्षरके साथ एक आवेदनपत्र भेजा कि जुह्ल स्वयं दर्शनका हामी है, उसके घरमें दर्शनकी हजारों पुस्तकें हैं। मंसूरने आवेदनपत्रको पढ़कर हुक्म दिया कि लेखकको तुरंत जेल भेज दिया जाये। वह जेल भेज दिया गया और हस्ताक्षर करनेवाले डरके मारे छिपते फिरने लगे। मुल्लोंने जनताकी आँखोंमें धूल झोंककर उनमें धर्मान्धताकी भारी आग भड़का दी थी। मंसूर जानता था, कि यह आग देर तक इसी अवस्थामें नहीं रह सकती, किन्तु इसका दबना भी तभी संभव है, जब कि इसे एक बड़ी बलि दी जाये। वह रोश्दकी बलि चढ़ा चुका था, और वह आग ठंडी पड़ गई थी। वह जानता था, कि मुल्लोंकी ताकतसे यह बाहरकी बात है, कि तुरंत ही फिर जनताको उसी तरह उत्तेजित कर सकें। इसीलिए बड़े इतमीनानके साथ उसने इन कठमुल्लोंको दबा देनेका निश्चय किया।

जिस वक्त रोश्दको निर्वासित किया गया था, उसी वक्त कितने ही दूसरे दार्शनिकों—ज़हबी, उसूली, बजाया, कफ़ीफ़, क़राबी आदि—को भी निर्वासित किया गया था। इस वक्त मुल्लोंने खुशीमें आकर सैकड़ों कवितायें बनाई थीं, जिनमेंसे कितनी ही अब भी सुरक्षित हैं।

यहूदी स्पेनमें पहिलेसे दर्शनके झंडाबर्दार थे, इसलिए लूसीनियाके यहूदियोंने जब इस नास्तिक, पतित, दार्शनिकको उस दीन-अवस्थामें देखा, तो उसे वह सर-आँखोंपर बैठानेके लिए तैयार थे। आखिर स्पेनमें एक छोटा गाँव था, जहाँके गँवार उस वक्त भी रोश्दको सत्यका शहीद समझते थे। उनके इस सम्मानकी कीमत और बढ़ जाती है, जब हम जानते हैं कि उन्हें यह मालूम न था कि लूसीनियाका यह रोश्द भविष्यमें सारी विद्या और प्रकाशकी दुनियाका पूज्य देवता बनने जा रहा है, और उस दुनियाके निर्माणकी बुनियादमें उसके विचार और अपमानकी ईंटें भी पड़ेंगी।

रोश्दके ऊपर होनेवाले अत्याचारोंके बारेमें कितनीही बातें मशहूर

हैं। एक बार वह लूसीनियासे फ़्रांस भाग गया, मुल्लोंने पकड़वाकर उसे मस्जिदके दर्वाजेपर खड़ा करवाया, और यह सजा दी कि जो मस्जिदके भीतर दाखिल हो या बाहर निकले उसपर थूकता जाये। एक अपमानका वर्णन स्वयं रोश्दने लिखा है—"सबसे अधिक दुःख मुझे उस वक्त हुआ था, जब कि एक बार मैं और मेरा बेटा अब्दुल्ला कार्दोवाकी जामा मस्जिदमें नमाज़ पढ़नेके लिए गये, लेकिन न पढ़ सके। चंद गुंडोंने हल्ला मचाया, और हम दोनोंको मस्जिदसे निकाल दिया गया।"[1]

रोश्दको लूसीनियामें निर्वासित कर एक तरहसे सख्त नज़रबंदीमें रखा गया था; कोई दूसरी जगहका आदमी उससे मिलने नहीं पाता था।

(ख) मुक्ति और मृत्यु—दो साल (११९७-९८ ई०) तक रोश्द उस बुढ़ापेमें अपनी दार्शनिक प्रतिभाके लिए उस शारीरिक और मानसिक यातनाको सहता रहा। मंसूर समझ रहा था, कि उसने अपने समयके लोगोंके सामने ही नहीं इतिहासके सामने कितना भारी पाप किया है, किन्तु रोश्दके बदले स्वयं बलिवेदीपर चढ़नेकी उसको हिम्मत न थी। अब मंसूर अपने पड़ोसी ईसाई राजाओंकी अंतिम पराजय करके जहाँ उधरसे निश्चिन्त था, वहाँ उसका प्रभाव अपनी प्रजापर एक भारी विजेताके तौर-पर हो गया था, उधर मुल्लोंका जादू भी जनताके सिरसे कम हो गया था। मंसूरके इशारेसे या खुद ही सेविली (अश्बीलिया)के कुछ सभ्रांत लोगोंने गवाही दी कि रोश्दपर झूठा, बेबुनियाद इल्जाम लगाया गया था। इसपर मंसूरने इस शर्तपर छोड़नेका हुक्म दिया कि रोश्द जामा-मस्जिद-के दर्वाजेपर खड़ा होकर लोगोंके सामने तोबा करे। रोश्द जामा मस्जिदके दर्वाजेपर तब तक नंगे सिर खड़ा रखा गया, जब तक लोग नमाज़ पढ़ते रहे, (और खुदा शान्तचित्तसे उस नमाजको सुनता भी रहा !)। इसके बाद वह कार्दोवामें बड़ी गरीबीकी जिन्दगी बिताने लगा।

---

[1] "इब्न-रोश्द" (रेनाँ द्वारा एक पुराने लेखक अब-मुहम्मद अब्दुल् कबीर अंसारी से उद्धृत), पृष्ठ १६

मंसूरकी आत्मा अभी भी उसे कोस रही थी, इसलिए वह रोश्दके साथ कुछ और उपकार करनेका रास्ता ढूँढ़ रहा था। इसी बीच मराकोके क़ाज़ी (जज)को उसके जुल्मके लिए बर्खास्त करना पड़ा। मंसूरने तुरंत उसकी जगह रोश्दको मुकर्रर किया। दर्शनकी पुस्तकोंके ध्वंसका हुक्म भी वापिस लिया गया, और जो दूसरे दार्शनिक निर्वासित किये गए थे, उनको बुलाकर कितनोंको बड़े-बड़े दर्जे दिये गए।

रोश्द एक साल और जीवित रहा, और अन्तमें १० दिसम्बर ११९८ ई० को मराकोमें उसका देहान्त हुआ; उसके शवको कार्दोवामें लाकर खान्दानी कब्रस्तान मक़बरा-अब्बासमें दफन किया गया।

तेईस दिन बाद (२ जनवरी, ११९९ ई०)को मंसूर भी मर गया, और साथही अपने नामपर हमेशाके लिए एक काला धब्बा छोड़ गया। वह समय जल्द आया जब स्पेनकी भूमिसे मंसूरके खान्दानका शासन ही नहीं बल्कि इस्लाम भी खतम हो गया, किन्तु रोश्दकी आवाज सारे युरोपमें गूँजने लगी।

(ग) रोश्दका स्वभाव—रोश्दके स्वभावके बारेमें इतिहास-लेखक बाजीका कहना है—

"इब्न-रोश्दकी राय बहुत मजबूत होती थी। वह जैसा ही जबर्दस्त प्रतिभाका धनी था, वैसाही दिलका मजबूत था। उसके संकल्प बहुत पक्के होते थे, और वह कष्टोंसे कभी भय नहीं खाता था।"[1]

"रोश्द गंभीरताकी मूर्ति था। ज्यादा बोलना उसके स्वभावमें न था। अभिमान उसे छू नहीं गया था। किसीको बुरा-भला कहना उसे पसंद न था। धन और पदका न उसे अभिमान था और न लोभ। वह अपने शरीरपर खर्च न करता था। दूसरोंकी सहायता करनेमें उसे बहुत आनंद आता था। चापलूसीसे उसे सख्त घृणा थी। उसकी विशालहृदयता मित्रों ही तक नहीं शत्रुओं तकके लिए खुली हुई थी। वह कहा करता

---

[1] **"तबक़ातु'ल्-अतिब्बा"**, पृष्ठ ७९

था—'यदि हमने दोस्तोंको दिया, तो वह काम किया, जो कि हमारी अपनी रुचिके अनुकूल है। उपकार और दया उसे कहते हैं, जिसमें उन शत्रुओंतकको शामिल किया जाये, जिनको हमारी तबियत पसंद नहीं करती'।"[1]

"दया उसमें इतनी थी कि यद्यपि वर्षों वह क़ाज़ी (जज) रहा, किन्तु कभी किसीको मृत्यु-दंड नहीं दिया। यदि कोई ऐसा मौका आता, तो स्वयं न्यायासनको छोड़ दूसरेको अपना स्थानापन्न बना देता। अपने शहर कार्दोवासे उसका वैसा ही प्रेम था, जैसा कि यूनानी दार्शनिकोंका अथेन्ससे। एक बार मंसूरके दर्बारमें जुह्र और रोश्दमें अपने-अपने शहरों सेविली और कार्दोवाके संबंधमें बहस छिड़ गई। रोश्दने कहा—सेविलीमें जब कोई विद्वान् मर जाता है, तो उसके ग्रंथ-संग्रहको बेचनेके लिए कार्दोवा लाना पड़ता है, क्योंकि सेविलीमें इन चीजोंकी पूछ करनेवाले नहीं हैं; हाँ, जब कार्दोवाका कोई गायनाचार्य मर जाता है, तो उसके वाद्य-यंत्र सेविलीमें बिकनेके लिए जाते हैं, क्योंकि कार्दोवामें इन चीजोंकी माँग नहीं है"।[2]

पुस्तक पढ़नेका रोश्दको बहुत शौक था। इब्नु'ल्-अबारका कहना है कि रातके वक्त भी उसके हाथसे किताब नहीं छूटती थी। सारी-सारी रात वह किताब पढ़ा करता था। अपनी उम्रमें सिर्फ दो रातें उसने किताब पढ़े बिना बिताईं, एक शादीकी रात, दूसरी वह रात जब कि उसके बापकी मृत्यु हुई।"[3]

(२) कृतियाँ—भिन्न-भिन्न विषयोंपर रोश्दकी लिखी हुई पुस्तकोंकी संख्या साठसे ऊपर हैं। इब्नु'ल्-अबारके कथनानुसार वह दस हजार पृष्ठके करीब हैं। मौलवी मुहम्मद यूनस् अन्सारी (फिरंगीमहली)ने अपनी पुस्तक "इब्न-रोश्द" में (जो कि मेरे इस प्रकरणका मुख्य आधार है) भिन्न-भिन्न विषयोंपर रोश्दकी पुस्तकोंकी विस्तृत सूची दी है, मैं वहाँसे[4] सिर्फ

---

[1] "आसारु'ल्-अद्हार", पृष्ठ २२२ [2] "नफ़्हु'ल्-तैब", पृष्ठ २१६
[3] "अल्-दीबाजु'ल्-मज़्हब", पृष्ठ २८४ [4] "इब्न-रोश्द", पृष्ठ ११९-३०

पुस्तकोंकी संख्या देता हूँ।

(१)	दर्शन	२८
(२)	वैद्यक	२०
(३)	फ़िक़ा	८
(४)	कलाम (वाद)-शास्त्र	६
(५)	ज्योतिष-गणित	४
(६)	व्याकरण (अरबी)	२
		६८

रोश्दने अपनी सभी पुस्तकें अरबीमें लिखी थीं, किन्तु उनमेंसे कितनों-के अरबी मूल नष्ट हो चुके हैं, और उनके इब्रानी या लातीनी अनुवाद-ही मौजूद हैं।

इब्न-रोश्दने स्वयं लिखा है कि किस तरह तुफ़ैलने उसे दर्शनकी पुस्तकों-के लिखनेकी ओर प्रेरणा दी—"एक दिन इब्न-तुफ़ैलने मुझे बुलाया। जब मैं गया तो उसने कहा कि आज अमीरु'ल मोमिनीन (यूसुफ) अफसोस करते थे कि अरस्तूका दर्शन बहुत गंभीर है, और (अरबी-) अनुवादकोंने अच्छे अनुवाद नहीं किये हैं। यदि कोई आदमी तैयार होता और उनका संक्षेप करके सुबोध बना देता। मैं तो यह काम नहीं कर सकता, मेरी उम्र अब नहीं है, और अमीरु'ल्मोमिनीनकी सेवासे भी छुट्टी नहीं। तुम तैयार हो जाओ, तो कुछ मुश्किल नहीं, तुम इस कामको अच्छी तरह कर भी सकते हो। मैंने इब्न-तुफ़ैलको वचन दे दिया, और उसी दिनसे अरस्तूकी किताबोंकी व्याख्या-टीकायें लिखनी शुरू की।"[१]

रोश्दकी दर्शन-संबंधी पुस्तकोंको तीन प्रकारसे बाँटा जा सकता है—

(१) अरस्तू तथा कुछ और यूनानी दार्शनिकोंकी पुस्तकोंकी टीकायें या विवरण।

---

[१] "इब्न-रोश्द" (रेनाँ), पृष्ठ ११

(२) अरस्तूका पक्ष ले सीना और फाराबीका खंडन।

(३) दर्शनका पक्ष ले ग़ज़ाली आदि वाद-शास्त्रियोंका खंडन।

रोश्दने अरस्तूके ग्रंथोंकी तीन प्रकारकी टीकायें की हैं—

(१) विस्तृत व्याख्या टीका--इनमें हर मूल शब्दको उद्धृत कर व्याख्या की गई है।

(२) मध्यम व्याख्या--इनमें वाक्यके प्रथम शब्दको उद्धृतकर व्याख्या की गई है।

(३) संक्षेप ग्रंथ—इनमें वाक्यको बिलकुल दिये बिना ही वह भावको समझाता है।

अरस्तूके कुछ ग्रंथोंकी निम्न व्याख्याएं रोश्दने निम्न सालों और स्थानोंमें समाप्त कीं—

सन्	नाम पुस्तक	स्थान
११७१ ई०	अस्समाअ-वल्-आलम[1] (व्याख्या)	सेविली
११७४ ई०	खताबत-वल्-शेअर[2] (मध्यम व्याख्या)	कार्दोवा
	मावाद'त्-तबीआत[3] (मध्यम व्याख्या)	कार्दोवा
११७६ ई०	अखलाक़[4] (मध्यम व्याख्या)	कार्दोवा
११८६ ई०	तबीआत[5] (विस्तृत व्याख्या)	सेविली

इनके अतिरिक्त उसकी निम्न पुस्तकोंकी समाप्तिके समय और स्थान मालूम हैं—

११७८ ई०	जवाहरु'ल्-कौन	मराको
११७९ ई०	कश्फ़-मनाहजु'ल्-अवला	सेविली

[1] De Coelo et mundo (**देवात्मा और जगत्**)

[2] Rhetoric (**भाषण-शास्त्र**) Poetics (**काव्य-शास्त्र**)

[3] Metaphysics (**अध्यात्म या अतिभौतिक-शास्त्र**)

[4] Ethics (**आचार-शास्त्र**)

[5] Physics (**साइंस या भौतिक-शास्त्र**)

११९३ ई० अल्-इस्तेक़ात[1] (व्याख्या) सेविली
११९५ ई० बाज'ल्-अस्अला व'ल्-अजवा फ़ि'ल्-मन्तिक् निर्वासिन

अरस्तूकी निम्न पुस्तकोंपर रोश्दकी तीनों तरहकी व्याख्यायें[2] अरबी, इब्रानी, लातीनीमें से किसी न किसी भाषामें मौजूद हैं—

१. तब्इयात (भौतिक शास्त्र)
२. समाअ (देवता या फरिश्ता)
३. नफ़्स (विज्ञान या आत्म-शास्त्र)
४. माबाद्-तब्इयात् (अतिभौतिक या अध्यात्म शास्त्र)

अरस्तूके प्राणिशास्त्र (किताबु'ल्-हैवान)के पहिले दस अध्याओंपर रोश्दकी व्याख्या नहीं मिलती। आचार-शास्त्रकी व्याख्यामें उसने लिखा है कि मुझे अरस्तूके राजनीति-शास्त्रका अरबी अनुवाद स्पेनमें नहीं मिला, इसलिए मैंने अफलातूंके "प्रजातंत्र" (जमहूरियत्)की व्याख्या लिखी।[3]

---

[1] जालीनूस (गलेन)की पुस्तक

[2] रोश्दकी पुस्तकोंके हस्तलेख अधिकतर युरोपके निम्न पुस्तकालयोंमें मिलते हैं—

१—स्क्योरियल पुस्तकालय, (मद्रिदसे ४० मीलपर स्पेन); २—विब्लियोथिक नाश्नल (पेरिस); ३—बोड्लियन लाइब्रेरी (आक्सफोर्ड, इंगलैंड); ४—लारन्तीन पुस्तकालय (फ़्लोरेन्स, इताली); ५—लाइडेन पुस्तकालय (हालैंड)। इनमें सबसे ज्यादा ग्रंथ स्क्योरियलमें हैं। स्पेन और इतालीके पुस्तकालयोंहीमें अरबी लिपिके कुछ हस्तलेख हैं, नहीं तो इब्रानी और लातीनीके अनुवाद या इब्रानी-लिपिमें अरबी भाषाके ग्रंथ ही ज्यादा मिलते हैं। हिन्दुस्तानमें हमारे प्रान्तके आरा शहरकी एक मस्जिद-के पुस्तकालयमें रोश्दके दो संक्षेप ग्रंथ बारेम्नियास और प्रथम अनालो-तिकापर हैं।

[3] सब मिलाकर अरस्तूकी निम्न पुस्तकोंपर रोश्द कृत टीकायें हैं—

टीकायें—१—बुर्हान् (मन्तिक़), २—समाअ-व-आलम, ३—तब्इयात,

रोश्दके दार्शनिक विचारोंको जाननेके लिए उसके दर्शन-संबंधी "संक्षेप" (तल्खीस) फाराबी, तथा सीनापर आक्षेप और वाद-शास्त्रके खंडन देखने लायक हैं, जो बदकिस्मतीसे किसी जीवित भाषामें बहुतही कम छपे हुए हैं।[1]

रोश्दकी किसी पुस्तककी विशेष तौरसे विवेचना यहाँ संभव नहीं है,

४–नफ़्स, ५–माबाद-तब्इयात्।

संक्षेप—६–खतावत्, ७–शेअ्र ८–तौलीद-व-इन्हलाल, ९–आसार-अल्इया, १०–अख़्लाक़, ११–हिस्स्-व-महसूस, १२–हैवान, १३–तव-ल्लुद-हैवान।

इनमें १,६,७, मन्तिक़ (=तर्कशास्त्र) की आठ पुस्तकोंमें से हैं। २,३, ४,८,९,११,१३–तब्-इयात (=भौतिकशास्त्र) की आठ पुस्तकोंमेंसे; ५वीं पुस्तक अतिभौतिकशास्त्र है, और १०वीं आचार-शास्त्र।

[1] संक्षेपोंमें—

१–तल्ख़ीस्-मंतक़ियात् (तर्कशास्त्र-संक्षेप)
२–तल्ख़ीस्-तब्इयात् (भौतिशास्त्र-संक्षेप)
३–तल्ख़ीस्-माबाद-तब्इयात् (अतिभौतिकशास्त्र-संक्षेप)
४–तल्ख़ीस्-अख़्लाक़ (आचारशास्त्र-संक्षेप)
५–शरह-जम्हूरियत् (प्रजातंत्रकी व्याख्या)

वादशास्त्रियोंके खंडन—

१–तोहाफ़तुल्-तोहाफ़तुल्-फ़िलासफ़ा (दर्शन-खंडन-खंडन) यह प्रधान-तया ग़ज़ालीके तोहाफ़तुल्-तोहाफ़त (दर्शन-खंडन) का खंडन है।

२–फ़स्लुल्-मुक़ाल।

३–कश्फ़ुल्-अद्ला।

अरस्तूके तर्कको ग़लत समझनेके लिए फ़ाराबीके विरुद्ध रोश्दने तीन पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें "तल्ख़ीस्-मोक़ालात्-फ़ाराबी फिल्मन्तिक़" मुख्य हैं। सीनाकी पुस्तक "शफ़ा" की ब्रह्म-विद्या (इल्मु'ल्-इलाही) पर आक्षेप किया है।

इसलिए इसके लिए पाठक आगे आनेवाले उद्धरणोंसे ही संतोष करें।

(३) दार्शनिक विचार—रोश्दके लिए अरस्तू मनुष्यकी बुद्धिका उच्चतम विकास था, वह अपना काम बस यही समझता था, अरस्तूके दर्शनको ऐसे रूपमें प्रकट करे, जिसमें उसके तत्वज्ञानके समझनेमें गलती न हो; इसीलिए वह कितनी ही बार फ़ाराबी और सीनाकी गलतियोंको दिखलाता है। फाराबी "द्वितीय अरस्तू"के नामसे मशहूर हुआ, किन्तु रोश्द अरस्तूको जिस ऊँचाईपर पहुँचा समझता था, वहाँ पहुँचना किसीकी शक्तिसे बाहर समझता था, और शायद वह यदि यह सुनता तो बहुत खुश होता कि पीछेकी दुनियाने उसे (अरस्तू) "भाष्यकार"की उपाधि दी है।

सबसे पहिले हम उन बातोंके बारेमें कहना चाहते हैं जिनके बारेमें रोश्द और ग़ज़ाली तथा दूसरे "वादशास्त्रियों"का झगड़ा था—

(क) ग़ज़ालीका खंडन—रोश्दका समय ठीक वही है, जो कि श्री हर्षका। श्रीहर्षका दार्शनिक ग्रंथ "खंडन-खंड-खाद्य" (खंडरूपी खाँडका आहार या खंडन रूपी मिठाई) है, और रोश्दके ग्रंथका नाम भी उससे मिलता-जुलता "तोहाफतु'ल्-तोहाफ़तु'ल्-फ़िलासफा" (दर्शन-खंडन-खंडन) संक्षेपमें तोहाफ़तु'ल्-तोहाफ़त् (खंडन-खंडन) है, "खंडन-खाद्य" और, "खंडन-खंडन"-में नाम सादृश्य बहुत ज्यादा ज़रूर है, किन्तु, इससे दोनोंके प्रतिपाद्य विषयोंको एक समझनेकी गलती नहीं करनी चाहिए; दोनोंमें यदि और कोई समानता है, तो यही कि दोनों ऐसे युगमें पैदा हुए, जिसमें खंडनपर खंडन बड़े जोरसे चल रहे थे। श्रीहर्ष अपने "खंडन" को "धर्मकीर्ति"[१] और उन जैसे तर्कशास्त्रियों तथा वस्तुवादी दार्शनिकोंके खिलाफ इस्तेमालकर "शून्य-ब्रह्म-वाद" स्थापित करना चाहता है। उसका समकालीन रोश्द ग़ज़ालीके द्विविधात्मक "ब्रह्मवाद"का खंडनकर वस्तुवादी "विज्ञानवाद"—जो कि

---

[१] **"दुराबाध इव धर्मकीर्त्तेः पन्थाः, तदत्रावहितेन भाव्यम्"—खंडन-खंड-खाद्ये।**

धर्मकीर्तिके वादके बहुत नजदीक है—की स्थापना करना चाहता था। अर्थात् पूर्व और पश्चिमके दोनों महान् दार्शनिकोंमें एक (श्रीहर्ष) वस्तुवादको हटाकर अ-वस्तुवाद (विज्ञानवाद, शून्यवाद) कायम करना चाहता था, दूसरा (रोश्द) अवस्तुवाद (सूफी ब्रह्मवाद)को हटाकर वस्तुवादकी स्थापना कर रहा था। और दोनोंके प्रयत्नोंका आगे हम परिणाम क्या देखते हैं? श्रीहर्षकी परंपरा ब्रह्मवादके मायाजालमें उलझकर भारतके मृतोत्पन्न समाजको पैदा करती है, और रोश्दकी परम्परा पुनर्जागरणके संघर्षमें भाग लेकर नवीन युरोपके उत्पादनमें सफल होती है। भारतमें यदि ग़ज़ाली और श्रीहर्ष परंपरा सर्वमान्य रही, तो उसके कार्य-कारण संबंध भी दिखाई पड़ते हैं।

(a) **दर्शनालोचना ग़ज़ालीकी अनधिकार-चेष्टा**—एक बार अपनी स्मृतिको ताजा करनेके लिए इस्लामिक वाद-शास्त्र(=कलाम)पर नजर दौड़ानी चाहिए। मोतज़लाने "वाद"को अपनाया, फिर अबुल्-हसन-अश्-अरीने बस्रामें इसी हथियारको लेकर मोतज़लापर प्रहार करना शुरू किया। अश्अरीके अनुयायी अबूवक्र बाकलानीने वादमें थोड़ी दर्शनकी पुट देनी चाही, जिसमें ग़ज़ालीके गुरु इमाम हर्मैनने अपनी प्रतिभाका ही सहारा नहीं दिया, बल्कि ग़ज़ाली जैसे शागिर्दको तैयार करके दे दिया। ग़ज़ालीने सूफीवाद, दर्शनवाद, कुरानवाद, बुद्धिवाद, अ-बुद्धिवाद, कबीलाशाही जनतंत्रवाद. . . .क्या क्या नहीं मिलाकर एक चूँचूँका मुरब्बा "वाद" (कलाम)के नामपर तैयार किया, जिसका नमूना हम देख चुके हैं। ग़ज़ालीके "दर्शन-खंडन"के खंडनमें उस जैसेही नामपर रोश्दका "दर्शन-खंडन-खंडन" लिखना बतलाता है, कि रोश्दको ग़ज़ालीका चूँचूँका मुरब्बा पसंद नहीं आया। रोश्द अपनी पुस्तक "कश्फ़ु'ल्-अदला"[1]में ग़ज़ालीके इस चूँचूँके मुरब्बेके बारेमें लिखता है—

"इस्लाममें सबसे पहिले **बाहरी** (मतवालों)ने फ़साद (झगड़ा, मतभेद)

[1] पृष्ठ ७२

पैदा किया, फिर मोतज़लाने, फिर अश्अरियोंने, फिर सूफियोंने और सबसे अन्तमें ग़ज़ालीने। पहिले उस (ग़ज़ाली)ने "मक़ासिदुल्-फ़िलासफ़ा" (दर्शनाभिप्राय) एक पुस्तक लिखी। जिसमें (यूनानी-)आचार्योंके मतोंको खोलकर बिना घटाये बढ़ाये नकल कर दिया। उसके बाद "तोहाफतु'ल्-फ़िलासफ़ा" (दर्शन-खंडन) लिखा, जिसमें तीन सिद्धान्तोंके बारेमें दार्शनिकोंको काफिर बनाया। उसके बाद "जवाहरु'ल्-कुरान"में ग़ज़ालीने खुद बतलाया, कि "तोहाफ़तु'ल्-फ़िलासफ़ा" (दर्शन-खंडन) केवल लड़ाई-भिड़ाई (=जदल)की किताब है, और मेरे वास्तविक विचार "मज़नून-बे:-अला-गैरे-अह्लेही"में हैं। इसके बाद ग़ज़ालीने "मिश्कातु'ल्-अन्वार" एक किताब लिखी, जिसमें ज्ञानियोंके मर्तबोंकी व्याख्या करके यह साबित किया कि सभी ज्ञानी असली सत्यसे अपरिचित हैं; इसमें अपवाद सिर्फ वह हैं, जो कि महान् सिर्जनहारके संबंधके दार्शनिक सिद्धान्तोंको ठीक मानते हैं। यह कहनेके बाद भी कितनी ही जगह ग़ज़ालीने यह बतलाया है कि ब्रह्म-ज्ञान (=इल्म-इलाही) केवल चिन्तन और मननका नाम है; और इसी लिए "मुनक्क़ज़-मिन'ल्-ज़लाल" में (अरस्तू आदि) आचार्योंपर ताना कसा है, और फिर स्वयं ही यह साबित किया है, कि ज्ञान एकान्तवास तथा चिन्तनसे प्राप्त होता है। सारांश यह कि ग़ज़ालीके विचार इतने विभिन्न और अस्थिर हैं, कि उसके असली विचारोंका जानना मुश्किल है।"

ग़ज़ालीने "तोहाफ़तुल्-फ़िलासफ़ा"की भूमिकामें[1] अपने जमानेके दार्शनिकोंको जो फटकारा है और उनके २० सिद्धान्तोंका खंडन किया है, उसके उत्तरमें रोश्द "खंडन-खंडन"[2]में लिखता है—

"(दार्शनिकोंके) इन सिद्धान्तोंकी जाँच सिर्फ वही आदमी कर सकता है, जिसने दर्शनकी किताबोंको ध्यानपूर्वक पढ़ा है (ग़ज़ाली सीनाके अतिरिक्त कुछ नहीं जानता था), ग़ज़ाली जो यह आक्षेप करता है, इसके दो कारण हो सकते हैं,—या तो वह सब बातोंको जानता है, और फिर आक्षेप करता

---

[1] देखो पृष्ठ १६१ [2] तोहाफ़तु'त्-तोहाफ़त्,' पृष्ठ ३४

है, और यह दुष्टताका काम है; या वह अनभिज्ञ है, तो भी आक्षेप करता है, और यह मूर्खोंको ही शोभा देता है। लेकिन ग़ज़ालीमें दोनों बातें नहीं मालूम होतीं। मालूम यह होता है, कि बुद्धिके अभिमानने उसे इस पुस्तकको लिखनेके लिए मजबूर किया। आश्चर्य नहीं यदि उसकी मंशा इस तरह लोगोंमें प्रिय होनेकी रही हो।"

(b) **कार्य-कारण-नियम अटल**—ग़ज़ालीने प्रकृतिमें कार्य-कारण नियमको माननेसे यह कहकर इन्कार कर दिया कि वैसा मान लेनेपर "करामात (=अक़्लके खिलाफ अप्राकृतिक घटनाएँ) गलत हो जावेंगी, और धर्मकी बुनियाद करामातपर ही है।"[1]

इसके उत्तरमें रोश्द कहता है—

"जो आदमी कार्य-कारण-नियमसे इन्कार करता है, उसको यह माननेकी भी ज़रूरत नहीं कि हर एक कार्य किसी न किसी कर्तासे होता है। बाकी यह बात दूसरी है, कि सर्सरी तौरसे जिन कारणोंको हम देखते हैं, वह काफी ख्याल न किए जायें; किन्तु इससे कार्य-कारण-नियम (=इल्लियत) पर असर नहीं पड़ता! असल सवाल यह है कि चूँकि कुछ ऐसी चीजें भी हैं जिनके कारण या सबबका पता नहीं लगता, इसलिए क्या एकदम कार्य-कारण-नियमसे ही इन्कार कर दिया जाये। लेकिन यह बिलकुल गलत बात है। हमारा काम यह है, कि अनुभूत (वस्तु)से अन्-अनुभूत (अज्ञात)की खोज करें, न कि यह कि (एक वस्तुके) अन्-अनुभूत होनेकी वजहसे जो अनुभूत (ज्ञात है) उससे भी इन्कार कर दें।....

"आखिर ज्ञानका प्रयोजन क्या है? सिर्फ यही कि अस्तित्व रखनेवाले (पदार्थों)के कारणोंका पता लगावें। लेकिन जब कारणोंहीसे बिल्कुल इन्कार कर दिया गया, तो अब बाकी क्या रहा? तर्कशास्त्रमें यह बात प्रमाण-कोटि तक पहुँच गई है, कि हर कार्यका एक कारण होता है; फिर यदि कारण और हेतुसे ही इन्कार कर दिया गया, तो इसका नतीजा या

---

[1] "तोहाफतुल्-फ़िलासफ़ा, पृष्ठ ६४

तो यह होगा, कि कोई वस्तु मालूम (=ज्ञात) न रहेगी, या यह कि किसीको पक्का मालूम (=ज्ञात) न (मानना) होगा, और सभी ज्ञात (वस्तुओं)को काल्पनिक कहना पड़ेगा। इस तरह 'पक्का (सच्चा) ज्ञान' दुनियामें रह न जायेगा।"[1]

"कश्फ़ुल्-अदला"[2] में इसी विषयपर बहस करते हुए रोश्द कहता है—

"यदि कार्य-कारण (नियम)से बिलकुल इन्कार कर दिया जाये अर्थात् यह मान लिया जाये कि जगत्का वर्तमान (कार्य-कारण-) स्थितिसे किसी दूसरी स्थितिके रूपमें बदलना संभव है, और जगत्में कोई अटल संबंध नहीं है; तो शिल्पी (=हकीम)के शिल्प (=हिकमत)के लिए क्या बाकी रह जायेगा? शिल्प तो नाम ही इसका है, कि सारा जगत् क्रम और नियमका अनुसरण करे। लेकिन जब मनुष्यके सारे काम संयोगवश हर अंगसे किये जा सकते हैं—अर्थात् आँखके ज्ञानका आँखसे, कानके विषयका कानसे, रसनाके विषयका रसनासे कोई अटल संबंध नहीं है, तो मनुष्यके ढाँचेमें ईश्वरकी कारीगरी या शिल्पका कौनसा नमूना बाकी रहेगा।....अगर वर्तमान नियम पलट जाये—यानी जो चीज पश्चिमकी ओर गति कर रही है, वह पूर्वकी ओर, और जो पूर्वकी ओर गति कर रही है वह पश्चिमकी ओर गति करने लगे, आग ऊपर उठनेकी जगह नीचे उतरने लगे, मिट्टी नीचे उतरनेकी जगह ऊपर चढ़ने लगे, तो फिर क्या (ईश्वरकी) कारीगरी और शिल्प झूठा न हो जायेगा।"

(c) **धर्म-दर्शन-समन्वयका ढंग ग़लत**—ग़ज़ाली भी बुद्धि और धर्म अथवा दर्शन और धर्ममें समन्वय (समझौता) करानेके पक्षपाती हैं, और रोश्द भी, किन्तु दोनोंमें भारी अन्तर यह है। "इब्न रोश्द मजहबको विद्या (=दर्शन)के मातहत समझता है, और ग़ज़ाली विद्याको मजहबके मातहत। रोश्द लिखता है[3]—"जब कोई बात प्रमाण (=बुर्हान)से

[1] "तोहाफ़तु't-तोहाफ़त्", पृष्ठ १२२ [2] पृष्ठ ४१

[3] "फ़स्लु'ल्-मुक़ाल", पृष्ठ ८

सिद्ध हो गई, तो मजहब (की बात)में ज़रूर नई व्याख्या (=तावील) करनी होगी।"

(ख) जगत् आदि-अन्त-रहित—अरस्तू तथा दूसरे यूनानी दार्शनिक जगत्को अभावसे उत्पन्न नहीं बल्कि अनादिकालसे चला आता, तथा अनन्तकाल तक चला जानेवाला मानते थे; ग़ज़ाली और इस्लामका इसपर एतराज था। रोश्दने इस विषयको साफ करते हुए अपने ग्रंथ "अतिभौतिक शास्त्र-संक्षेप"[1] में लिखा है—

"जगत्की उत्पत्तिके सिद्धान्तपर दार्शनिकोंके दो परस्पर विरोधी मत हैं। (१) एक पक्ष उत्पत्तिसे इन्कार करता है, और विकास-नियमका माननेवाला है, और (२) दूसरा पक्ष विकाससे इन्कार करता है और उत्पत्ति होनेको मानता है। विकासवादियोंका मत है, कि उत्पत्ति इसके सिवा और कुछ नहीं है कि बिखरे हुए परमाणु इकट्ठे हो मिश्रित रूप स्वीकार कर लेते हैं। ऐसी अवस्थामें निमित्तकारण (ईश्वर)का कार्य सिर्फ इतना ही होगा कि भौतिक परमाणुओंको शकल देकर उनके भीतर पारस्परिक भेद पैदा करे। इसका अर्थ यह हुआ कि ऐसी अवस्थामें कर्त्ता उत्पादक (=स्रष्टा) नहीं रहा; बल्कि उसका दर्जा गिर गया, और वह केवल चालकके दर्जेपर रह गया।

"इसके विरुद्ध उत्पत्ति या सृष्टिके पक्षपाती मानते हैं, कि उत्पादकने भूत (=प्रकृति)की ज़रूरत रखे विना जगत्को उत्पन्न किया। हमारे (इस्लामिक)वाद-शास्त्री (मुत्कल्लमीन, ग़ज़ाली आदि) और ईसाई दार्शनिक इसी मतको मानते हैं।...

"इन दोनों मतोंके अतिरिक्त भी कुछ मत हैं, जिनमें कम या अधिक इन दो विचारोंमेंसे किसी एक विचारकी झलक पाई जाती है। उदाहरणार्थ (१) इब्न-सीना यद्यपि विकासवादियोंसे इस बातमें सहमत है, कि (जगत्-उत्पत्ति) केवल भूत (=प्रकृति)के शकल-सूरत पकड़नेका नाम है;

---

[1] "तल्ख़ीस्-माबाद'-तबइआत", अध्याय १, ४

लेकिन 'सूरत' (='आकृति')की उत्पत्तिके प्रश्नपर वह अरस्तूसे मत-भेद रखता है। अरस्तू कहता है कि प्रकृति (=भूत) और आकृति दोनों अनुत्पन्न (=नित्य) हैं, लेकिन इब्न-सीना प्रकृतिको अनुत्पन्न तथा आकृतिको उत्पन्न (=अनित्य) मानता है; इसीलिए उसने जगत्-उत्पादकका नाम **आकृति-कारक शक्ति** रखा है। इस प्रकार इस (सीना)के मतके अनुसार प्रकृति केवल (कार्य-)अधिकरण[1]का नाम है—उत्पत्ति या कार्यकी सामर्थ्य[2] (स्वतः) उसमें बिलकुल नहीं है। (२) इसके विरुद्ध देमासियुस्[3] और फाराबीका मत है कि बाज अवस्थाओंमें स्वयं **प्रकृति** भी (जगत्-) उत्पत्तिका काम कर सकती है। (३) तीसरा मत अरस्तूका है। उसके मतका संक्षेप यह है—स्रष्टा (=उत्पादक) नहीं प्रकृतिका स्रष्टा है और नहीं आकृतिका, बल्कि इन (प्रकृति, आकृति)दोनोंसे मिलकर जो चीजें बनती हैं, उनका स्रष्टा है।—अर्थात् प्रकृति[4]में गति पैदाकर उसकी आकृति—शकल—को यहाँ तक बदल देता है, कि जो अन्तर्हित शक्तिकी अवस्थामें होती है, वह कार्य-पन (=कार्य-अवस्था)में आ जाती है। स्रष्टाका कार्य बस इतना ही है। इस तरह उत्पत्तिकी क्रियाका यह अर्थ हुआ, कि प्रकृतिको गति देकर अन्तर्हित, अ-प्रकट) शक्ति(की अवस्था)से कार्य(के रूप)में ले आना।—अर्थात् सृष्टि वस्तुकी गति-क्रिया है। किन्तु, गति गर्मीके बिना नहीं पैदा हो सकती। यही कारण है कि जल—और पृथिवी—मंडलमें जो गर्मी छिपी (=निहित) है, उसीसे रंग-रंगके वनस्पतियों और प्राणियोंकी उत्पत्ति होती रहती है। नेचरके ये सारे कार्य नियम—क्रम—के साथ होते हैं; जिसको देखकर यह ख्याल होता है कि कोई **पूर्णबुद्धि** इसका पथ-प्रदर्शन कर रही है, यद्यपि दिमागको इसके बारेमें किसी इन्द्रिय या मानसिक-ज्ञानका पता नहीं। इस बातका अर्थ यह हुआ, कि अरस्तूके मतमें जगत्-स्रष्टा

---

[1] इन्फ़आल। [2] सलाहियत्। [3] सामस्तियुस् (नौशेरवांकालीन)।
[4] प्रकृति यहाँ सांख्यकी प्रकृतिके अर्थमें नहीं बल्कि मूल भौतिकतत्त्व-के अर्थमें प्रयुक्त है।

आकृति—शकल—का उत्पादक नहीं है; और हम उसको उनका उत्पादक मानें, तो यह भी मानना पड़ेगा, कि वस्तुका होना अ-वस्तुसे (अभावसे भावका) होना हो गया।

"इब्न-सीनाकी गलती यह है, कि वह आकृतियोंको उत्पन्न मानता है, और हमारे (इस्लामिक) वादशास्त्रियोंकी गलती यह है, कि वह वस्तु-को अ-वस्तु (=अ-भाव)से हुई मानते हैं। इसी गलत सिद्धान्त—वस्तुका अ-वस्तुसे होना—को स्वीकार कर हमारे वादशास्त्रियोंने जगत्-स्रष्टाको एक ऐसा पूर्ण (सर्वतंत्र-) स्वतंत्र कर्त्ता मान लिया है, जो कि एक ही समयमें परस्पर-विरोधी वस्तुओंको पैदा किया करता है। इस मतके अनुसार न आग जलाती है, और न पानीमें तरलता और आर्द्रता (=स्नेह)की सामर्थ्य है। (जगत्में) जितनी वस्तुएं हैं, वह अपनी-अपनी क्रियाके लिए जगत्-स्रष्टाके हस्तक्षेपपर आश्रित हैं। यही नहीं, इन लोगोंका ख्याल है, कि मनुष्य जब एक ढेला ऊपर फेंकता है, तो इस क्रियाको उसके अंग—अवयव-स्वयं नहीं करते, बल्कि जगत्-स्रष्टा उसका प्रवर्त्तक और गतिकारक होता है। इस प्रकार इन लोगोंने मनुष्यकी क्रिया-शक्तिकी जड़ही काट डाली।"

इसी तत्त्वको अन्यत्र समझाते हुए रोश्द लिखता है[1]—

(a) **प्रकृति**—"(जगत्-)उत्पत्ति केवल गतिका नाम है; किन्तु गतिके लिए एक गतिवालेका होना जरूरी है। यह गतिवाला जब केवल (अन्तर्हित) क्षमता या योग्यताकी अवस्थामें है, तो इसीका नाम मूल भूत (प्रकृति) है, जिसपर हर तरहकी आकृतियाँ पिन्हाई जा सकती हैं, यद्यपि वह अपने निजी रूप (=स्वभाव)में हर प्रकारकी आकृतियों—शकलों—से सर्वथा रहित रहता है। उसका कोई तर्कसम्मत लक्षण नहीं किया जा सकता, वह केवल क्षमता—योग्यता—का नाम है। यही वजह है, जगत् पुरातन—अनादि—है, क्योंकि जगत्की सारी वस्तुएं अस्तित्वमें आनेसे पहिले क्षमता—योग्यता—की अवस्थामें थीं, अ-वस्तु (=अ-भाव)-

---

[1] "तल्ख़ीस्-तब्इयात" (भौतिक-शास्त्र संक्षेप)।

से वस्तु (=भाव) का होना असंभव है।"

"प्रकृति सर्वथा अनुत्पन्न (=अनादि) और अ-नश्वर (=न नाश होने लायक) हैं; दुनियामें पैदाइशका न-अन्त होनेवाला क्रम जारी है। जो वस्तु (अन्तर्हित) क्षमता या योग्यताकी अवस्थामें होती है, वह क्रिया-अवस्थामें ज़रूर आती है, अन्यथा दुनियामें बाज चीजोंको कर्त्ताके बिना ही रह जाना पड़ेगा। गतिके पहिले स्थिति या स्थितिके पहिले गति नहीं होती, बल्कि गति स्वयं आदि-अन्त-रहित है। उसका कर्त्ता स्थिति (=गति-शून्यता) नहीं है, बल्कि गतिके कारण स्वयं एक दूसरेके कारण होते हैं।

(b) **गति सब कुछ**—जगत्का अस्तित्त्व भी गतिहीसे कायम है। हमारे शरीरके अन्दर जो तरह-तरह के परिवर्तन होते हैं उन्हींसे हम इस दुनियाका अंदाजा लगाते हैं, यही परिवर्तन गतिके भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। यदि जगत् एक निर्जीव यंत्रकी भाँति स्थिर (=गति-शून्य) हो जाये, तो हमारे दिमाग से दुनियाका ख्याल भी निकल जायेगा। स्वप्नावस्थामें हम दुनियाका अंदाजा अपने दिमाग और ख्यालकी गतियोंसे करते हैं। और जब हम मधुर स्वप्नमें बेखबर (=सुषुप्त) रहते हैं, उस समय दुनियाका ख्याल भी हमारे दिलसे निकल जाता है। सारांश यह है कि यह गतिहीका चमत्कार है, जो कि आरम्भ और अन्तके विचार हमारे दिमागमें पैदा होते हैं। यदि गतिका अस्तित्व न होता, तो जगत्में उत्पत्तिका जो यह लगातार प्रवाह जारी है, उसका अस्तित्व भी न होता, अर्थात् दुनियामें कोई चीज मौजूद नहीं हो सकती।"[1]

(ग) **जीव**—नफ़स[2] या विज्ञानका सिद्धान्त अरस्तूके लिए जितना महत्त्वपूर्ण है, रोश्दके लिए वह उससे भी ज्यादा है, क्योंकि उसने इसीके ऊपर अपने एक-विज्ञानता[3] के सिद्धान्तको स्थापित किया है। लेकिन जिस तरह जगत्के समझनेके लिए प्रकृति (=मूल तत्त्व) और गति एवं

---

[1] **"तलखीस-तब्-इयात" (भौतिक-शास्त्र-संक्षेप)।**

[2] **यूनानी नव्स** (Nous)=**अक़्ल।** [3] **"वहदत्-अक़्ल।"**

गतिका स्रोत ईश्वर जानना जरूरी है, उसी तरह ईश्वर कर्त्ता-नफ़्स या कर्त्ता-विज्ञान[1] जो कि नफ़्सों (=विज्ञानों)का नफ़्स (विज्ञान) और सभी नफ़्सोंके उद्गम तक पहुँचनेके पहिले प्रकृति और ईश्वर (=नफ़्स)के बीचके तत्त्व जीव (रूह)के बारेमें जानना ज़रूरी है।

(a) **पुराने दार्शनिकोंका मत**—पुराने यूनानी दार्शनिक जीवके बारेमें दो तरहके विचार रखते थे, एक वह जो कि जीवको भूत (=प्रकृति)-से अलग नहीं समझते थे जैसे एम्पेदोकल (४८३-३० ई० पू०), एपीकुरु (३४१-२७० ई० पू०)। और दूसरे दोनोंको अलग-अलग मानते थे, इनमें मुख्य हैं अनखागोर (५००—४२८ ई० पू०), अफलातून (४२७—३७० ई० पू०)। पुराने यूनानी दार्शनिक इस बातपर एकमत थे, कि जीवमें ज्ञान और स्वतःगति यह दो बातें अवश्य पाई जाती हैं। अखीमनके मतमें जीव सदा गतिशील तथा आदि-अन्तहीन (=नित्य) पदार्थ है। क्षणिकवादी हेराक्लितु (५३५-४२५ ई० पू०)के मतमें जीव सारे (भौतिक) तत्त्वोंसे श्रेष्ठ और सूक्ष्म है, इसीलिए वह हर तरहकी परिवर्तनशील चीजोंको जान सकता है। देवजेन (४२१—३२२ ई० पू०) जीवके मूल तत्त्वको वायुका सा मानता है, जीव स्वयं उसकी दृष्टिमें सूक्ष्म तथा ज्ञानकी शक्ति रखता है। परमाणुवादी देमोक्रितु (४६०-३७० ई० पू०)के मतमें जीव कभी न स्थिर होनेवाली सतत गतिशील, तथा दुनियाकी दूसरी चीजोंको गति देनेवाला तत्त्व है, भौतिकवादी एम्पेदोकल (४८३-४३० ई० पू०) के मतमें जीव दूसरी मिश्रित वस्तुओंकी भाँति चार महाभूतोंसे बना है। आपसमें मत-भेद ज़रूर है, किन्तु सिर्फ पिथागोर[2] (५७०-५०० ई० पू०) और ज़ेनो[3] (४६०-४३० ई० पू०)को छोड़ सुक्रात (४६९-३९९ ई०

---

[1] **नफ़्स-फ़अ़ाल**=Active Reason.

[2] **संख्या-ब्रह्मके सिद्धान्तमें जीवको भी शामिलकर उसे अ-भौतिक संख्या-तत्त्व मानता था।**

[3] **वह जीवको संख्या जैसी एक अ-भौतिक वस्तु मानता था।**

पू०)से पहिलेवाले सारे यूनानी दार्शनिक जीव और भूत (=प्रकृति) को अलग-अलग तत्त्व नहीं समझते।

(b) **अफलातूँका मत**—अफलातूँने इस बातपर ज्यादा जोर दिया कि जीव और भूत अलग-अलग तत्त्व हैं। मानव शरीरके भीतरके जीव उसके मतमें तीन प्रकारके हैं—(१) **विज्ञानीय जीव**[1] जो कि मनुष्यके मस्तिष्कके भीतर सदा गतिशील रहता है; (२) दूसरा **पाशविक जीव** हृदयमें रहता है, और नश्वर है। इससे आदमीको क्रोध और वीरताकी प्राप्ति होती है। (३) पाशविक जीवसे भी नीचे **प्राकृतिक** (=वानस्पतिक) जीव है; क्षुधा, पिपासा, मानुषिक कामना आदिका उद्गम यही है। वानस्पतिक (=प्राकृतिक) और पाशविक जीव आमतौरसे आत्मिक जीवके आधीन काम करते हैं, किन्तु कभी-कभी वह मन-मानी करने लगते हैं, तब अक्ल (=विज्ञान) बेचारी असमर्थ हो जाती है, और आदमीके काम अबुद्धि-पूर्वक कहे जाते हैं।

(c) **अरस्तूका मत**—अरस्तू जीवके बारेमें अपने गुरु अफलातूँके इस मत (भूतसे जीवका एक भिन्न द्रव्य होना)से सहमत नहीं है। अरस्तूका पुराने दार्शनिकोंपर यह आक्षेप है कि वह जीवका ऐसा लक्षण नहीं बतलाते जो कि वानस्पतिक (प्राकृतिक), पाशविक, और आत्मिक तीनों प्रकारके जीवोंपर एकसा लागू हो।[2] अरस्तू अपना लक्षण करते हुए कहता है कि भूत (=प्रकृति) क्रियाका आधार[3] (=क्रिया-अधिकरण) मात्र है, और जीव केवल क्रिया या **आकृति**[4] है। भूत और जीव अथवा प्रकृति और आकृति परस्पर-संबद्ध तथा एक दूसरेके पूरे अंश हैं, इन दोनोंके योगको ही प्राकृतिक (=भौतिक) पिंड[5] कहा जाता है। अभाव या अंधकारमें पड़ी प्रकृति (=भूत)को जीव (=आकृति) प्रकाशमें लाता है, दूसरी ओर

---

[1] **रूहे-अक़्ली।**
[2] **"प्राणिशास्त्र", अध्याय २**
[3] **इन्फ़आल़**, Receptive.
[4] Form, **सूरत।**
[5] Physical body, **जिस्म-तबई।**

जीव भी प्रकृतिका मुखापेक्षी है, क्योंकि वह प्रकृतिमें उन्हीं बातोंका प्रकाश ला सकता है, जिसकी योग्यता उसमें पहिलेसे मौजूद है।

अरस्तू भी अफ़लातूंकी ही भाँति जीवके तीन भेद बतलाता है—(१) **वानस्पतिक जीव** जिसका काम प्रसव और वृद्धि है, और जो वनस्पतियोंमें पाया जाता है। (२) **पाशविक जीव** जिसमें प्रसव और वृद्धिके अतिरिक्त पहिचान[1]की भी शक्ति है, यह सभी पशुओंमें पाई जाती है। (३) **मानुषिक जीव** बाकी दोनों जीवोंसे श्रेष्ठ है, इसमें प्रसव, वृद्धि, पहिचानके अतिरिक्त बुद्धि, चिन्तन या विचारकी शक्ति भी है, यह सिर्फ मनुष्यमें है। प्राणिशास्त्रका पिता अरस्तू चाहे डार्विनी विकासवाद तक न पहुँचा हो, किन्तु वह एक तरहके विकासको वनस्पति—पशु—मनुष्यमें क्रमशः होते ज़रूर मानता है; जैसा कि उसके जीव संबंधी पूर्व-पूर्वके गुणोंको लेते हुए उत्तर-उत्तरमें नये गुणोंके विकाससे मालूम हो रहा है। अरस्तू जीव (=आकृति)को प्रकृतिसे अलग अस्तित्व रखनेवाली वस्तु नहीं मानता, यह बतला आए हैं। वह यह भी मानता है, कि जीव-व्यक्तियोंके रूपमें प्रकट होते हैं, और व्यक्तिके खातमेके साथ उनका भी खातमा हो जाता है। अरस्तू जीवकी सीमाको यहाँ समाप्त कर नफ़्स या आत्माकी सीमामें दाखिल होता है, यह जरा ठहरकर बतलायेंगे। गोया अरस्तूका वर्गीकरण हुआ प्रकृति—आकृति (=जीव)—विज्ञान (=नफ़्स), जिनमें प्रकृति और आकृति अभिन्न-सहचारिणी सखियाँ हैं, उपनिषद्का त्रैतवाद प्रकृति, आकृति (=जीव)के सखित्वको न मानकर आकृतिको आत्मा बना आत्मा-(परम-) आत्माको सखा बनाता है।[2] किंतु जिस तरह हमने यहाँ साफ-साफ करके इस वर्गीकरणको दिखलाया, अरस्तू अपने लेखोंमें उतना साफ नहीं है। कहीं वह मानुषिक जीवको जीव कोटिमें रख, उसे प्रकृति-सहचर तथा व्यक्तिके साथ उत्पत्तिमान और नाशमान मानता है, और कहीं

---

[1] **अद्राक।** [2] **"द्वा सुपर्णा सयुजा सखायाः"—श्वेताश्वतर (४।६) और मुंडकउपनिषद् (३।१।१)**

वानस्पतिक और पाशविक जीवकी बिरादरीसे निकालकर उसे नातिक-विज्ञान[1] लोकमें लाना चाहता है। वह जीवन ही नातिक-विज्ञान[1] है।

नातिक-विज्ञान—विज्ञानीय जीव या नातिक-विज्ञान नीचेके तत्त्वों (प्रकृति, आकृति)से श्रेष्ठ है, और वही सभी चीजोंका ज्ञाता[2] है—मानो नातिक-विज्ञान ऊपरसे नीचेकी दुनियामें खास उद्देश्यसे भेजा जाता है। उसका इस दुनियाकी (प्राकृतिक या आकृतिक) व्यक्तियोंसे कोई अपनापन नहीं; वह अवयवको नहीं अवयवी, सामान्य तथा आकृतिका ज्ञान रखता है। इसीके द्वारा मनुष्य इन्द्रियोंकी दुनियाके परे ज्ञान-गम्य दुनियाको जाननेमें समर्थ होता है। किन्तु ज्ञान-गम्य दुनियाका ठीक-ठीक पता अतिमानुष विज्ञानों (=ऊपरकी नफ़्सों)को ही होता है, अतः नातिक विज्ञान एक दर्पण है, जिसके द्वारा मनुष्य ऊपरकी विज्ञानीय दुनियाके प्रतिबिंबको देख सकता है।

इन्द्रिय-विज्ञान—नातिक-विज्ञान अवयवका ज्ञान नहीं करता, वह अति मानुष विज्ञानों[3]की भाँति केवल अवयवी, आकृति या सामान्यका ज्ञान करता है; यह कह आए हैं। इसलिए अवयव या व्यक्तिके ज्ञानके लिए अरस्तूने एक और विज्ञानकी कल्पना की है, जिसका नाम इन्द्रिय-विज्ञान है। आगको छूकर गर्मीका ज्ञान इन्द्रिय-विज्ञानका काम है। इन्द्रिय-विज्ञानोंका कार्यक्षेत्र निश्चित है, शरीरमें उनका सीमित स्थान है; नातिक-विज्ञान न तो अवयव या शरीरके किसी भागमें समाया हुआ है, न शरीरके भीतर एक जगह सीमित होकर बैठा है; न उसके लिए बाह्य विषयोंकी पाबंदी है, और न उसकी क्रियाके लिए देश-काल या कमी-बेशीकी। वह भौतिक वस्तुओंपर बिलकुल आश्रय नहीं करता।

नातिक-विज्ञान—जीव और शरीरके पारस्परिक संबंध तथा शरीरके उत्पत्ति विनाशके साथ जीवके उत्पत्ति-विनाशकी बात कह आए हैं; किंतु नातिक-विज्ञान, जैसा कि अभी बतलाया गया, शरीरसे बिलकुल अलग है

---

[1] नफ़्स-नातिक़ा, या रूहे अक़्ली नत्क़=Noetic (यूनानी)=ज्ञान।
[2] मुद्रिक। [3] अजरामे-अलूइया।

जिस तरह अपनी क्रियाके आरंभ करनेमें वह शरीरपर अवलंबित नहीं, उसी तरह शरीरके नष्ट हो जानेपर भी उसमें परिवर्तन नहीं होता; वह नित्य सनातन है।

नातिक विज्ञानके अरस्तूने दो भेद बतलाए हैं—क्रिया-विज्ञान[1], और अधिकरण-विज्ञान[2], क्रिया-विज्ञान वस्तुओंको ज्ञात—मालूम—होने योग्य बनाता है, यह अतिमानुष विज्ञानोंका नातिक-विज्ञान है, जिसके भागीदारोंमें मानव जाति भी है। अधिकरण-विज्ञान ज्ञात (वस्तुओं)से प्रभावित हो उनके प्रतिबिंबको अपने भीतर ग्रहण करता है, यह मानव-व्यक्तियोंका विज्ञान है; पहिलेका गुण क्रिया और प्रभाव है, दूसरेका गुण है प्रभावित होना। ये दोनों ही तत्त्व मौजूद रहते हैं, किंतु अधिकरण-विज्ञानका प्रकाश=प्राकट्य क्रिया-विज्ञानके बाद होता है। क्रिया-विज्ञान अधिकरण-विज्ञानसे श्रेष्ठ है, क्योंकि क्रिया-विज्ञान शुद्ध विज्ञानीय शक्ति[3] है, किन्तु अधिकरण-विज्ञान चूँकि उससे प्रभावित होता है, इसलिए उसमें पिंड (=शरीर)का भी मेल है[4]। अरस्तूके नफ़्स (=विज्ञान)-संबंधी विचारों का संक्षेप है—

(१) क्रिया-विज्ञान और अधिकरण-विज्ञान एक नहीं भिन्न-भिन्न हैं।
(२) क्रिया-विज्ञान नित्य और अधिकरण विज्ञान नश्वर है।
(३) क्रिया-विज्ञान मानव व्यक्तियोंसे भिन्न है।
(४) क्रिया-विज्ञान आदमीके भीतर भी है।

अरस्तू-टीकाकार सिकन्दर अफ़्रदिसियुस् और देमासियुस् (५४९ ई०) दोनों अरस्तूसे भिन्न विचार रखते हैं। वह क्रिया-विज्ञानको मानवसे बिलकुल अलग मानते हैं, क्रिया-विज्ञानको देमासियुस् भेदक-विज्ञान कहता है, और उसीको सिकंदर कारण-कारण कहता है।

---

[1] **नफ़्स-फ़ेअ्ली** Active reason. [2] **नफ़्स-इन्फ़आली,** Material or Receptive Nous (Reason).
[3] **अक़्ली क़ूवत्।** [4] The Anine **प्राणि-शास्त्र (किताबु'ल् हयात्)।**

(घ) रोश्दका विज्ञान (=नफ़्स) वाद—ऊपरके विवरणसे अरस्तूके निम्न-विचार हमें मालूम हैं। तत्व मुख्यतः तीन हैं—प्रकृति, जीव (=आकृति) और विज्ञान (=नफ़्स)। जीवके वह तीन भेद मानता है, जिनमें मानुष (=विज्ञानीय) जीवको विज्ञानकी तरफ खींचना चाहता है। विज्ञान (=नफ़्स)के वह सिर्फ दो भेद मानता है—क्रिया-विज्ञान और अधिकरण-विज्ञान।

लेकिन, रोश्दके वर्णनसे नफ़्स (=विज्ञान)के पाँच भेद मिलते हैं—(१) प्राकृतिक विज्ञान[1] या भूतानुगत विज्ञान; (२) अभ्यस्त-विज्ञान[2]; (३) ज्ञाता-विज्ञान[3]; (४) अधिकरण-विज्ञान और (५) क्रिया-विज्ञान।

सिकन्दर और अरब दार्शनिक प्राकृतिक-विज्ञान और अधिकरण-विज्ञानको एक समझते हैं, किन्तु रोश्द कभी-कभी प्राकृतिक-विज्ञानको क्रिया-विज्ञान आत्माके अर्थमें लेता है, और उसे अनादि अनुत्पन्न मानता है, और कहीं इससे भिन्न मानता है। देमासियुस् अभ्यस्त-विज्ञान और ज्ञाता-विज्ञानको एक मानता है, क्योंकि अक़्ल (=विज्ञान)को अक़्ल ही पैदा कर सकती है, माद्दा (=प्रकृति) अक़्ल (=विज्ञान)को नहीं पैदा कर सकता; अतएव सारी ज्ञान रखनेवाली वस्तुएं सिर्फ क्रिया-विज्ञानसे ही उत्पन्न हैं। इस बातकी और पुष्टि करते हुए वह कहता है—यद्यपि सभी अक्ल (=नफ़्स या विज्ञान) अक़्ल-फ़अ़ाल (कर्ता-विज्ञान)से उत्पन्न हैं, लेकिन ज्ञानकी शक्ति हर व्यक्तिमें उसकी अभ्याससे प्राप्त ज्ञान-योग्यताके अनुसार होती है; इसलिए ज्ञाता-विज्ञान और अभ्यस्त विज्ञानमें अन्तर नहीं रहा; अर्थात् ज्ञाता-विज्ञान भी वही है जो कि अभ्यास-प्राप्त होता है। देमासियुस्के इस मतके विरुद्ध रोश्द अभ्यस्त-विज्ञानमें दोनों बातें मानता है—एक ओर उसे वह ईश्वर (=कर्त्ता-विज्ञान)[4] का कार्य बतलाता है, और इस प्रकार उसे अनादि और अ-नश्वर मानता है, और दूसरी ओर उसे आदमीके अभ्यासका परिणाम कहता है, जिससे वह उत्पन्न तथा नश्वर है।

---

[1]अक़्ल-हेवलानी। [2]अक़्ल-मुस्तफ़ाद। [3]अक़्ल-मुद्रिक। [4]अक़्ले-फ़अ़ाल।

नाम अलग-अलग रखते हुए भी अरस्तू तथा उसके दूसरे टीकाकारोंकी भाँति रोश्द वस्तुतः नफ़्सों (=अक्लों, विज्ञानों) के भेदको न मानकर नफ़्सकी एकताको स्वीकार करता है। वह कहता है—यह ठीक है कि चूँकि विज्ञान (=नफ़्स) अनेक भिन्न-भिन्न आकार-प्रकारोंको स्वीकार करनेकी शक्ति रखता है, इसलिए जहाँ तक उसके अपने स्वरूपका संबंध है, उसे आकार-प्रकार-से रहित होना चाहिए—अर्थात् अपने असली स्वरूपमें विज्ञान (=नफ़्स) ज्ञान-योग्यताका नाम है। लेकिन यह कहनेका कोई अर्थ नहीं कि सिर्फ योग्यताके अस्तित्वको स्वीकार कर मनुष्यमें क्रिया-विज्ञानके होनेसे इन्कार कर दिया जाये। और जब हम मनुष्यमें क्रिया-विज्ञानको मानते हैं, तो यह भी मानना पड़ेगा, कि विज्ञान[1] अपने स्वरूपमें किसी विशेष आकार-प्रकार-के साथ मूर्तिमान् हो गया—"**क्रिया** सिर्फ (अ-प्रकट, अन्तर्हित) योग्यताके प्रकाशका नाम है", वह किसी विशेष आकार-प्रकारके साथ मूर्तिमान् होनेका नाम नहीं है। अतएव यह कहनेके लिए कोई कारण नहीं मालूम होता, कि आध्यात्मिक या (आन्तरिक) संभवनीयता या योग्यताको तो स्वीकार किया जाये, किन्तु वाह्य क्रियावत्ता या प्रकाशको स्वीकार न किया जाये। ऐसी अवस्थामें, ज्ञान या प्रतीतिका अर्थ सिर्फ ज्ञान योग्यता नहीं, बल्कि ज्ञान-घटना है। जबतक आध्यात्मिक या अधिकरण-संबंधी, और बाह्य या क्रिया-संबंधी विज्ञानोंके पारस्परिक प्रभाव—अर्थात् शक्तिमत्ता और क्रियावत्ता—एकत्रित न होंगे, तबतक ज्ञान अस्तित्वमें आ नहीं सकता। यह ठीक है, कि अधिकरण-विज्ञान[2] में अनेकता या बहुसंख्यकता है, और वह मानव-शरीरकी भाँति नश्वर है, तथा क्रिया-विज्ञान अपने उद्गमके ख्यालसे मनुष्यसे अलग और अनश्वर हैं।

दोनों (क्रिया और अधिकरण-) विज्ञानोंमें उपरोक्त भेद रहते भी दोनोंका एकत्रित होनेका न तो यह अर्थ है, कि क्रिया-विज्ञान व्यक्तियोंकी अनेकताके कारण अनेक हो जाये, और न इसका यह अर्थ है कि व्यक्तियोंकी

---

[1] Nous (नफ़्स), अक़्ल। [2] अक़्ल-इन्फ़आली।

अनेकता खतम हो जाये, और वह क्रिया-विज्ञानकी एकतामें विलीन हो जायें। इसका अर्थ सिर्फ यही है, कि क्रिया-विज्ञानके (अनादि सनातन) अंशोंमें मानवता बाँट दी गई है—अर्थात् क्रिया और अधिकरण-विज्ञानोंके एकत्रित होनेका सिर्फ यह अर्थ है, कि मनुष्यके मस्तिष्ककी बनावट जिस तरह एक-सी योग्यताओंकी प्रदर्शिका है, उससे मानवजातिको **क्रिया-विज्ञान**के अंशोंका मिश्रण होता रहता है। ये अंश अपने स्वरूपमें अ-नश्वर और चिरस्थायी हैं। इनका अस्तित्व मानव व्यक्तियोंके साथ बँधा नहीं है। बल्कि, यदि कभी मानव-व्यक्तिका अस्तित्व न रह जाये, उस अवस्थामें भी इनका काम इसी तरह जारी रहता है, जिस तरह मानव व्यक्तियोंके भीतर। इस असंभव कल्पनाकी भी आवश्यकता नहीं। सारा विश्व **परम-विज्ञान**[1]के प्रकाशमान कणोंसे प्रकाशित है। प्राणी, वनस्पति, धातु और भूमिके भीतर-बाहरके भाग—सभी जगह इसी परम-विज्ञानका शासन चल रहा है। परम विज्ञान जैसे इन सब जगहोंमें प्रकाशमान है, वैसे ही मनुष्यमें भी, क्योंकि मनुष्य भी उसी **प्रकाशमान विश्व**का एक अंश है। जिस तरह मानवता सारे मनुष्योंमें एक ही है, उसी तरह सारे मनुष्योंमें एक विज्ञान भी पाया जाता है। इसका अर्थ यह हुआ, कि व्यक्ति-संख्या-भेदसे शून्य तथा विश्व-शासक परम-विज्ञान जब क्रियापनका वस्त्र पहनता है, तो भिन्न-भिन्न किस्मोंमें प्रकाशित होता है—कहीं वह प्राणीमें प्रकाशित होता है, कहीं देवताओंमें[2], और कहीं मनुष्यमें; इसीलिए व्यक्ति स्वरूप नश्वर है, किन्तु मानवता-विज्ञान[3] चिरन्तन तथा अनश्वर है, क्योंकि वह उस विज्ञानका एक अंश है।

उपरोक्त कथनसे यह भी सिद्ध होता है कि क्रिया-विज्ञान और मानवता-विज्ञान दोनोंके अनादि होनेपर मानवता कभी नष्ट न होगी—मानवमें ज्ञान (=दर्शन, साइंस आदि)का प्रकाश सदा होता रहेगा।

(ङ) सभी विज्ञानोंका परमविज्ञानमें समागम—रोश्दके कहे

[1] अक़्ल-मुत्लक़्। [2] अफ़लाक। [3] नफ़से-इन्सानियत्।

पाँच विज्ञानोंका[1] नाम हम बतला चुके हैं। रोश्द उनको समझाते हुए कहता है कि (१) प्राकृतिक विज्ञानका[2] अस्तित्त्व मनुष्यके पैदा होनेके साथ होता है, उस वक्त वह सिर्फ ज्ञानकी योग्यता या संभावनाके रूपमें रहता है आयुके बढ़नेके साथ (अन्तर्हित) योग्यता क्रियाका रूप लेती है, और इस विकासका अन्त (२) **अभ्यस्त-विज्ञान**की[3] प्राप्तिपर होता है, जो कि मानव-जीवनकी चरम सीमा है। लेकिन अभ्यस्त-विज्ञान विज्ञानका चरम-स्थान नहीं है। हाँ, प्रकृतिसे लिप्त रहते उसका जो विकास हो सकता है, उसका चरम विकास कह सकते हैं। उसके आगे प्राकृतिक जगत्से ऊपर उठता वह शुद्ध **विज्ञान-जगत्**की ओर बढ़ता है, जितना वह विज्ञान-जगत्के करीब पहुँचता जाता है, उतना ही उसका विज्ञान-जगत्से समागम होता जाता है। इस अवस्थामें पहुँचकर विज्ञान हर प्रकारकी वस्तुओंका ज्ञान स्वयं प्राप्त कर लेता है। अर्थात् ज्ञाता-विज्ञानकी[4] अवस्थामें पहुँच जाता है। यही वह अवस्था है, जहाँ 'मैं-तुम'के भेद उठ जाते हैं, और मनुष्य कर्त्ता-विज्ञान[5] (=ईश्वर)का पद प्राप्त कर लेता है। चूँकि कर्त्ता-विज्ञानके अन्दर सब तरहकी वस्तुएं मौजूद हैं, इसलिए मनुष्य भी मूर्त्तिमान् "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"[6] बन जाता है।

[कर्त्ता (परम) विज्ञान ही सब कुछ]—अरस्तू कहता है—"ज्ञान ही विज्ञानका स्वरूप है, और ज्ञान भी मामूली इन्द्रिय-विषयोंका नहीं बल्कि सनातन गुण रखनेवाली चीजों—विज्ञानमय (=विज्ञान-जगत्)—का। तब स्पष्ट है कि नफ़्सोंका नफ़्स (=विज्ञानोंका विज्ञान) अर्थात् कर्त्ता-विज्ञान (ईश्वर)का स्वरूप ज्ञानके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता। ईश्वरमें जीवन है, और उसका जीवन केवल ज्ञान-क्रिया होनेका नाम है। कर्त्ता-विज्ञान सनातन शिव और केवल मंगल (-मय) है; और ज्ञानसे बढ़कर कोई शिवता (=अच्छाई) नहीं हो सकती। ("नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह

---

[1] **अक़्ल।** [2] **अक़्ल-हेवलानी।** [3] **अक़्ल-मुस्तफ़ाद।** [4] **अक़्ले-मुद्रिक्।** [5] **अक़्ल-फ़अ़ाल।** [6] **"हमा-ओ-स्त" (सब वह है)।**

विद्यते") अतः ईश्वर इस शिवताका स्रोत है। किन्तु उसके ज्ञानमें विज्ञाता और विज्ञेयका भेद नहीं, क्योंकि वहाँ उसके स्वरूपके सिवा और कोई चीज मौजूद भी नहीं है, और है भी तो उसके अन्दर। अतएव वह (=कर्त्ता-विज्ञान, ईश्वर) यदि अपनेसे भिन्न चीजका ज्ञान भी करे, तो भी अपने स्वरूपके ज्ञानके सिवा और हो नहीं सकता। इस तरह वह स्वयं ही ज्ञाता और ज्ञेय दोनों है; बल्कि यों कहना चाहिए कि उसका ज्ञान, ज्ञानके ज्ञानका नाम है, क्योंकि उस अवस्थामें ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञातामें कोई भी भेद नहीं है—जो ज्ञान है वही ज्ञाता है, जो ज्ञाता है वही ज्ञेय है, और इसके अतिरिक्त सारी चीजें 'नास्ति' हैं।[1]

रोश्द आचार-शास्त्रमें संक्षेपमें फिर अपने विज्ञान-अद्वैतवादपर लिखता है[2]—

"ज्ञान—प्रतीति—के अतिरिक्त और जितनी शिवतायें (=अच्छाइयाँ) हैं, उनमेंसे कोई भी स्वतः वांछनीय नहीं होती, और न किसीसे आयुमें वृद्धि होती है। वह सबकी सब नश्वर हैं, किंतु यह शिवता (-ज्ञान) अनश्वर है; सबकी सब दूसरोंकी वांछा पूरी करती हैं, किंतु यह (ज्ञान) स्वयं अपनी वांछा है, उसको छोड़ किसी वांछाका अस्तित्व नहीं। लेकिन मुश्किल यह है, कि ज्ञानोंका उच्चतम पद मनुष्यकी पहुँचसे बाहर है—मनुष्य सिरसे पैर तक भौतिकतासे घिरा हुआ है, वह मानवताकी चहारदीवारीके भीतर रहते उन पदों तक किसी तरह पहुँच नहीं सकता। हाँ, उसके भीतर ईश्वर (=कर्त्ता-विज्ञान)की ज्योति जग रही है, यदि वह उसकी ओर बढ़नेकी कोशिश करे—मानवताकी पोशाक (=आवरण)को उतारकर—अपने अपनत्व (=मैंपन)को नष्ट कर दे, तो निस्संदेह केवल शिवकी प्राप्ति उसे हो सकती है।....लोग कहते हैं कि मनुष्यको मनुष्यकी तरह जीवन-यापन करना चाहिए, चूँकि वह स्वयं भौतिक है, इसलिए भौतिकतासे ही उसे नाता रखना

---

[1] "माबाद-तबइयात्", पृष्ठ २५५

[2] "तल्खीस किताबे-अख़्लाक़", पृष्ठ २९६

चाहिए। लेकिन यह ठीक नहीं है। हर जातिकी शिवता (=अच्छाई) सिर्फ उसी चीजमें होती है, जिससे उसके आनंदमें वृद्धि होती हो, और जो उसके अनुकूल हो। अतएव मनुष्यकी शिवता यह नहीं है, कि वह कीड़ों-मकोड़ोंकी तरह (प्रवाहमें) बह जाये। उसके भीतर तो ईश्वरकी ज्योति जगमगा रही है, वह उसकी ओर क्यों न ख्याल करे, और ईश्वरसे वास्तविक समागम क्यों न प्राप्त करे—यही तो वास्तविक शिवता[1] और उसका अमर जीवन है। "उस पदकी क्या प्रशंसा की जाये? वह आश्चर्यमय पद है, जहाँपर पहुँचकर बुद्धि आत्मविभोर हो जाती है, लेखनी आनंदातिरेकमें रुक जाती है, जिह्वा स्खलित होने लगती है, और शब्द अर्थोंके पर्दोंमें छिप जाते हैं। जबान उसके स्वरूपको किस तरह कहे, और लेखनी चलना चाहे तो भी किस तरह चले?"

(च) परमविज्ञानकी प्राप्तिका उपाय—यद्यपि ऊपरके उद्धरण-की भाषा और कुछ-कुछ आशयसे भी—आदमीको भ्रम हो सकता है, कि रोश्द सूफ़ीवादके योग-ध्यानको कर्त्ता-विज्ञान (=ईश्वर)के समागमके लिए ज़रूरी समझता होगा; किन्तु, ध्यानसे देखनेसे मालूम होगा, कि उसका परमविज्ञान-समागम ज्ञानकी प्राप्तिपर है। इस्लामिक दार्शनिकोंमें रोश्द सबसे ज्यादा सूफीवादका विरोधी है। वह योग, ध्यान, ब्रह्मलीनता[2]को बिलकुल झूठी बात कहता है। मनुष्यकी शिवता उसी योग्यताको विकसित करनेमें है, जिसे लेकर वह पैदा हुआ, और वह है ज्ञानकी योग्यता। आदमीको उसी वक्त शिवता प्राप्त होती है, जब वह इस योग्यताको उन्नत कर पदार्थोंकी वास्तविकताके तह तक पहुँच जाता है। सूफियोंका आचार-उपदेश बिल्कुल असत्य और बेकार है। मनुष्यके पैदा होनेका प्रयोजन यह है, कि इन्द्रिय-जगत्पर विज्ञान-जगत्का रंग चढ़ाये। बस इसी एक उद्देश्यके प्राप्त हो जानेपर मनुष्यको स्वर्ग मिल जाता है, चाहे उसका कोई भी मज़हब क्यों न हो। "दार्शनिकोंका असली मज़हब है

---

[1] सआदत्।　　[2] फ़ना-फ़िल्लाही।

विश्वके अस्तित्वका अध्ययन, क्योंकि ईश्वरकी सर्वश्रेष्ठ उपासना केवल यही हो सकती है, कि उसकी सृष्टि—कारीगरी—का वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया जाये; यह ईश्वरके परिचय करने जैसा है। यही एक कर्म है, जिससे ईश्वर खुश होता है। सबसे बुरा कर्म वे करते हैं, जो कि ईश्वरकी बहुत ही श्रेष्ठ उपासना करनेवालेको काफिर कहते, तथा परेशान करते हैं।"[1]

(छ) मनुष्य परिस्थितिका दास—मनुष्य काम करनेमें स्वतंत्र है या परतंत्र; दूसरे कितने ही दार्शनिकोंकी भाँति रोश्दने भी इस प्रश्नपर कलम उठाई है। इसपर कुछ कहनेसे पहिले संकल्पको समझना ज़रूरी है, क्योंकि कर्म करनेसे पहिले संकल्प होता है अथवा संकल्प स्वयं ही एक कर्म—मानस-कर्म—है।

(a) **संकल्प**—संकल्पके बारेमें रोश्दका मत है—संकल्प मनुष्यकी एक आत्मिक (=मानसिक) अवस्था है, जिसका उद्देश्य यह है, कि मनुष्य कोई कर्म करे। लेकिन, मनुष्यके संकल्पकी उत्पत्ति उसके भीतरसे नहीं होती, बल्कि उसकी उत्पत्ति कितने ही बाहरी कारणोंपर निर्भर है। यही नहीं कि इन बाहरी कारणोंसे हमारे संकल्पमें दृढ़ता पैदा होती है, बल्कि हमारे संकल्पकी कायमी और सीमा भी इन्हीं कारणोंपर निर्भर है। संकल्प राग या द्वेष इन दो मानसिक अवस्थाओंका है, जो कि बाहर किसी लाभदायक या हानिकारक वस्तुके अस्तित्व या ख्यालसे हमारे भीतर पैदा होती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि एक हद तक संकल्पका अस्तित्व बाहरी कारणों ही पर निर्भर है—जब कोई सुन्दर वस्तु हमारी आँखके सामने आती है, अवश्य ही हमारा आकर्षण उसकी ओर होता है; जब कोई असुन्दर या भयानक वस्तुपर हमारी निगाह पड़ती है, तो उससे विराग होता है। मनकी इसी राग-द्वेष या आकर्षण-विराग वाली अवस्थाका नाम संकल्प है। जब तक हमारे मनको उकसानेवाली कोई बात सामने नहीं आती, उस वक्त तक संकल्प भी अस्तित्वमें नहीं आता, यह स्पष्ट है।

---

[1] History of Philosophy (G. E. Lewis) Vol. I

(b) **संकल्पोत्पादक बाहरी कारण**—(१) बाहरी कारण संकल्पके उत्पादक होते हैं, यह तो बतलाया; किन्तु यह भी ख्याल रखना है, कि इन बाहरी कारणोंका अस्तित्व भी क्रम-रहित—व्यवस्था-शून्य—नहीं होता; बल्कि ये स्वयं बाहरवाले अपने कारणोंके आधीन होते हैं। इस प्रकार हमारे भीतर संकल्पका आना क्रम-शून्य तथा बे-समय नहीं होता; बल्कि (२) कारणोंके क्रम (=परम्परा)की भाँति संकल्पोंकी भी एक क्रमबद्ध श्रृंखला होती है। जिसकी प्रत्येक कड़ी कारणोंकी श्रृंखलाकी भाँति बाहरी कड़ीसे मिली होती है। इसके अतिरिक्त (३) स्वयं हमारी शारीरिक व्यवस्था—जिसपर कि बहुत हद तक हमारे संकल्प निर्भर करते हैं—भी एक खास व्यवस्थाके आधीन है। ये तीनों कार्य-कारण श्रृंखलामें एक दूसरेसे जकड़ी हुई हैं। इन तीनों श्रृंखलाओंके सभी अंश या कड़ियाँ मनुष्यकी अक़्लकी पहुँचसे बाहर हैं। हमारे शरीरकी व्यवस्थामें जो परिवर्तन होते हैं, वे सभी हमारे ज्ञान या अधिकारसे बाहर हैं। इसी तरह बाहरी जगत्की जो क्रियाएं या प्रभाव हमारे मानसिक जीवनपर काम करते हैं, वह असंख्य होनेके अतिरिक्त हमारे ज्ञान या अधिकारसे बाहर रहते, हमपर काम करते हैं। इस तरह इन बाहरी क्रियाओं या प्रभावोंमेंसे अधिकांशको संचित करना क्या उनका ज्ञान प्राप्त करना भी मनुष्यकी शक्तिसे बाहरकी बात है। यही वजह है, कि मनुष्य परिस्थितिके सामने लाचार और बेबस है। वह चाहता कुछ है, और होता कुछ है।

(४) **सामाजिक विचार**—हम देख चुके हैं, कि रोश्द जहाँ विज्ञान (=नफ़्स)को लेता है, तो ज्ञानकी हलकीसी चिनगारीको भी परम विज्ञानसे आई बतलाकर सबको विज्ञानमय बतलाता है। साथ ही प्रकृति (=भूत) से न वह इन्कार करता है, और न उसे विज्ञानका विकार या माया बतलाता है; बल्कि परिस्थितिवादमें तो विज्ञान-ज्योतिसे युक्त मानवको वह जिस प्रकार प्रकृतिसे लाचार बतलाता है, उससे तो अपने क्षेत्रमें प्रकृति उसके लिए विज्ञानसे कम स्वतंत्र नहीं है। इन्हीं दो तरहके विचारोंको लेकर उसके समर्थकोंका विज्ञानवादी और भौतिकवादी दो दलोंमें

बँट जाना बिलकुल स्वाभाविक था। यदि रोश्दको विज्ञानवाद भी पसंद था तो इसमें तो शक नहीं कि वह ग़ज़ाली आदिके सूफीवाद या शंकर आदिके अद्वैत-ब्रह्मवादकी तरहका नहीं था, जिसमें जगत् ब्रह्ममें कल्पित सिर्फ माया या अध्यास मात्र हो। लेकिन रोश्दके सामाजिक विचारोंकी जो बानगी हम देने जा रहे हैं, उससे जान पड़ता है, कि भौतिकवाद और व्यवहार-वादपर ही उसका जोर ज्यादा था।

(क) समाजका पक्षपाती—समाजके सामने व्यक्तिको रोश्द कितना कम महत्त्व देता था, यह उसके इस विचारसे साफ हो जाता है—मानवजातिकी अवस्था वनस्पतिकी भाँति है। जिस तरह किसान हर साल बेकार तथा निष्फल वृक्षों और पौधोंको जड़से उखाड़ फेंकते हैं, और सिर्फ उन्हीं वृक्षोंको रहने देते हैं, जिनसे फल लेनेकी आशा होती है; उसी तरह यह बहुत आवश्यक है कि बड़े-बड़े नगरोंकी जन-गणना कराई जाये, और उन व्यक्तियोंको क़तल कर दिया जाये, जो बेकार जीवन बिताते हैं, और कोई ऐसा पेशा या काम नहीं करते जिनसे जीवन-यापन हो सके। सफाई और स्वास्थ्य-रक्षाके नियमानुसार नगरोंको बसाना सरकारका कर्त्तव्य है, और यह तबतक संभव नहीं है, जबतक कि काम करनेमें असमर्थ, लूले, लँगड़े और बेकार आदमियोंसे शहरोंको पाक न कर दिया जाये[1]।

रोश्दने अरस्तूके "राजनीति-शास्त्र"के अभावमें अफलातूँके "प्रजा-तंत्र"पर विवरण लिखा था, और इस बारेमें अफलातूनके सिद्धान्तोंसे बहुत हद तक सहमत था। नगरको फजूलके आदमियोंसे पाक करना, अफलातूँके दुर्बल बच्चोंको मरनेके लिए छोड़ देनेका अनुकरण है। स्वास्थ्य-रक्षा, आनुवंशिकता और सन्तान-नियंत्रण द्वारा, बिना क़तल किये भी, अगली पीढ़ियोंको कितना बेहतर बनाया जा सकता है, इसे रोश्दने नहीं समझा। तो भी उस वक़्तके ज्ञानकी अवस्थामें यह क्षम्य हो सकता है; किन्तु उनके

---

[1] "इब्न-रोश्द" (रेनाँ, २४७) अन्सारी द्वारा उद्धृत, पृष्ठ २६२

लिए क्या कहा जाय, जो कि आज क़त्ल-आमके द्वारा "हीन" जातियोंका संहार कर "उच्च" जातिका विस्तार करना चाहते हैं।

रोश्द मूर्ख शासकों और धर्मान्ध मुल्लोंके सख़्त ख़िलाफ़ था। मुल्लोंको वह विचार-स्वातंत्र्यका दुश्मन होनेसे मानवताका दुश्मन मानता था। अपने समयके शासकों और मुल्लाओंका उसे बड़ा तल्ख़ तजर्बा था, और हकामकी (हस्तलिखित) चार लाख पुस्तकोंकी लाइब्रेरीकी होली उसे भूलनेवाली न थी। इस तरह दुनियामें अंधेर देखते हुए भी वह फाराबी या बाजाकी भाँति वैयक्तिक जीवन या एकान्तताका पक्षपाती न था। समाजमें उसका विश्वास था। वह कहता था कि वैयक्तिक जीवन न किसी कलाका निर्माण कर सकता है न विज्ञानका। वह ज़्यादासे ज़्यादा यही कर सकता है, कि समाजकी पहिलेकी अर्जित निधिसे गुज़ारा करे, और जहाँ-तहाँ नाममात्रका सुधार भी कर सके। समाजमें रहना, तथा अपनी शक्तिके अनुसार सारे समाजकी भलाईके लिए कुछ करना हर एक आदमीका फ़र्ज़ होना चाहिए। इसीलिए वह स्त्रियोंकी स्वतंत्रता चाहता है। मजहबवालोंकी भाँति सदाचार नियमको वह "आसमानसे टपका" नहीं मानता था, बल्कि उसे बुद्धिकी उपज समझता था; न कि वैयक्तिक स्वार्थके लिए वैयक्तिक बुद्धिकी उपज। राष्ट्र या समाजकी भलाई उसके लिए सदाचारकी कसौटी थी। धर्मके महत्त्वको भी वह सामाजिक उपयोगिताके ख़्यालसे स्वीकार करता था। आमतौरसे दर्शनसे भिन्न और उलटी राय रखनेके कारण धर्मकी असत्यतापर रोश्दका विश्वास था, किन्तु अफलातूँके "भिन्न-भिन्न धातुओंसे बने आदमियोंकी श्रेणियाँ होने"को प्रोपेगंडा द्वारा हृदयांकित करनेकी भाँति मजहबको भी वह प्रोपेगंडाकी मशीन समझता था, और उस मशीनको इस्तेमाल करनेसे उसे इन्कार नहीं था, यदि वह अपने आचार-नियमों द्वारा समाजकी बेहतरी कर सके।

(ख) स्त्री-स्वतन्त्रतावादी—मुल्समीन शासकोंके यहाँ स्त्रियाँ मुँह

---

[1] देखो "मानव-समाज" पृष्ठ १२०-१

खोले सरे-आम घूमती थीं, और मर्द मुँहपर पर्दा रखते थे, ऐसा करके इस्लाम-ने दिखला दिया कि वह इस पार उस पार दोनों चरम-पंथोंमें जा सकता है। किंतु, इसका यह अर्थ नहीं कि मुल्समीन रानियाँ और राजकुमारियाँ आर्थिक स्वातंत्र्य—जो ही कि वास्तविक स्वातन्त्र्य है—की अधिकारिणी थीं; और फिर यह रवाज सिर्फ़ राजवंश तक सीमित था। रोश्द वस्तुतः स्त्रियोंकी स्वतंत्रता चाहता था, क्योंकि वह इसीमें समाजका कल्याण समझता था। यह भी स्मरण रहना चाहिए, कि इस बातमें अफलातूँ भी इतना उदार नहीं था।

रोश्दकी रायमें स्त्री और पुरुषकी मानसिक तथा शारीरिक शक्तियोंमें कोई मौलिक भेद नहीं है, भेद यदि कहीं मिलेगा तो वह कुछ कमी-बेशी ही का। कला, विद्या, युद्ध-चातुरीमें जिस तरह पुरुष दक्षता प्राप्त करते हैं, उसी तरह स्त्रियाँ भी प्राप्त कर सकती हैं; पुरुषोंके कंधेसे कंधा मिलाकर वह समाजकी हर तरहसे सेवा कर सकती हैं। यही नहीं, कितनी ही विद्याएं—कलाएं—तो स्त्रियोंके ही लिए प्रकृतिकी ओरसे सुरक्षित हैं;— उदाहरणार्थ संगीतकी व्यवस्था और चरम विकास तभी हो सकता है, जब कि स्त्रियाँ उसमें हस्तावलंब दें। युद्धमें स्त्रियोंकी दक्षता कोई काल्पनिक बात नहीं है। अफ़्रीकाकी कितनी ही बद्दू-रियासतोंमें स्त्रियोंकी रण-चातुरीके बहुत अधिक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें स्त्रियोंने युद्ध-क्षेत्रमें सिपाही और अफ़सरके कर्त्तव्यको बड़ी सफलतासे पूरा किया। इसी तरह इसके भी कितने ही उदाहरण हैं, जब कि शासन-यंत्र स्त्रीके हाथमें रहा, और राज्य-प्रबंध ठीकसे चलता रहा। स्त्रियोंके लिए स्थापित की गई आजकलकी व्यवस्था बहुत बुरी है, इसके कारण स्त्रियोंको अवसर नहीं मिलता, कि वह अपनी योग्यताको दिखला सकें। आजकी व्यवस्थाने तै कर दिया है कि स्त्रियोंका कर्त्तव्य सिर्फ यही है, कि सन्तान बढ़ावें, और बच्चोंका पालन-पोषण करें। लेकिन इसीका परिणाम है, जो कि एक हद तक उनकी छिपी हुई स्वाभाविक शक्ति लुप्त होती चली जा रही है। यही वजह है, कि हमारे देश (=स्पेन) में ऐसी स्त्रियाँ बहुत कम दिखलाई

पड़ती हैं, जो किसी बातमें भी समाजमें विशेष स्थान रखती हों। उनका जीवन वनस्पतियोंका जीवन है, खेतीकी भाँति वह अपने पतियोंकी सम्पत्ति हैं। हमारे देश (=स्पेन) में जो दरिद्रता दिन-पर-दिन बढ़ रही है, उसका भी कारण स्त्रियोंकी यही दुरवस्था है। चूँकि हमारे देशमें स्त्रियोंकी संख्या पुरुषोंसे अधिक है, और स्त्रियाँ अपने दिनोंको अधिकतर बेकार गुजारती हैं, इसलिए वह अपने श्रमसे परिवारकी सम्पत्तिको बढ़ानेकी जगह मर्दोंपर भार होकर जिन्दगी बसर करती हैं।

रोश्दके ये विचार बतलाते हैं, कि क्यों वह युरोपीय समाजमें तूफान लाने तथा उसे एक नई दिशाकी ओर धक्का देनेमें सफल हुआ।

४–यहूदी दार्शनिक

क–इब्न-मैमून (११३५–१२०८ ई०)

यद्यपि इब्न-मैमून मुसलमान घरमें नहीं, बल्कि इब्न-जिब्रोलकी भाँति यहूदी घरमें पैदा हुआ था, तो भी इस्लामिक दर्शन या दार्शनिकसे हमारा अभिप्राय यहाँ कुरानी दर्शनसे नहीं है, बल्कि ऐसी विचारधारासे है, जो अरबसे निकले उस क्षीण स्रोतमें दूसरी नई-पुरानी विचार-धाराओंके मिलनेसे बनी। इसीलिए हमने जिब्रोल—जो कि स्पेनिश इस्लामिक दर्शनधाराका आरम्भक था—के बारेमें पहिले लिखा, और अब इब्न-मैमूनके बारेमें लिखते हैं, जिसके साथ यह धारा प्रायः बिलकुल खतम हो जाती है।

(१) **जीवनी**—मूसा इब्न-मैमूनका जन्म रोश्दके शहर कार्दोवामें ११३५ ई० में हुआ था। बचपनसे ही वह बहुत तेज बुद्धि रखता था, और जब वह अभी बिलकुल तरुण था, तभी उसने बाबुल और यरूशिलमकी **तालमूदों**[1]पर विवरण लिखे, जिसकी वजहसे यहूदियोंमें उसका बहुत

[1] यहूदियोंके धर्म-ग्रंथ जो बाइबलसे निचले दर्जेके समझे जाते हैं, और जिन्हें उनके धर्माचार्योंने यरूशिलम या बाबुलके प्रवासमें बनाया।

सम्मान होने लगा। मैमूनने दर्शन किससे पढ़ा, इसमें मतभेद है। कुछ लेखक उसे रोश्दका शिष्य कहते हैं, और वह अपने दार्शनिक विचारोंमें रोश्दका अनुगामी था, इसमें सन्देह नहीं है; लेकिन वह स्वयं अपनी पुस्तक "दलाला" में सिर्फ इतना ही लिखता है, कि उसने इब्न-बाजाके एक शिष्यसे दर्शन पढ़ा। मोहिदीनके प्रथम शासक अबुल्मोमिन (११४७-६३ ई०) के शासनारंभमें यहूदियोंकी जो बुरी अवस्था हुई थी, उसी समय मैमून मिश्र भाग गया। पीछे वह मिश्रके नये शासक तथा शीयोंके ध्वंसक सलाहुद्दीन अयूबीका राजवैद्य बना। मिश्रमें आनेपर उसे रोश्दके ग्रंथोंको पढ़नेका शौक हुआ। ११९१ ई० में वह अपने योग्य शिष्य यूसुफ इब्न-यह्याको लिखता है—"मैं अरस्तूपर लिखी इब्न-रोश्दकी सारी व्याख्याओंको एकत्रित कर चुका हूँ, सिर्फ "हिस्स व महसूस" (=इन्द्रियके ज्ञान और ज्ञेय) की पुस्तक अभी नहीं मिली। वस्तुतः इब्न-रोश्दके विचार बहुत ही न्याय-सम्मत होते हैं, इसलिए मुझे उसके विचार बहुत पसंद हैं; किन्तु अफसोस है, कि समयाभावसे मैं उसकी पुस्तकोंका अध्ययन नहीं कर सका हूँ।"

मैमूनने ही सबसे पहिले रोश्दके महत्त्वको समझा, और उसकी वजहसे यहूदी विद्वानोंने उसके दर्शनके अध्ययन-अध्यापनका काम ही अपने हाथमें नहीं लिया, बल्कि उन्हींके इब्रानी और लातीनी अनुवादोंने युरोपकी अगली विचार-धाराके बनानेका भारी काम किया।

मैमूनका देहान्त ६०५ हिजरी (=सन् १२०८ ई०) में हुआ।

(२) दार्शनिक विचार—रोश्दने जिस तरह दर्शनके बुद्धि-प्रधान हथियारसे इस्लामके मजहबी वाद-शास्त्रियोंकी खबर ली, मैमूनने वही काम यहूदी वाद-शास्त्रियोंके साथ किया। रोश्दकी "तोहाफ़तु'त्-तोहाफ़त्" (=खंडन-खंडन) की भाँति ही उसकी पुस्तक "दलाला" ने यहूदी धर्मवादियों-पर प्रहारका काम किया। यहूदियोंके कितने ही सिद्धान्त इस्लामकी तरहके थे, और उनके खंडनमें मैमूनने रोश्दकी तरह ही सरगर्मी दिखलाई; बल्कि ईश्वरके बारेमें तो वह रोश्दसे भी आगे गया, और उसने कहा कि ईश्वरके बारेमें हम सिर्फ इतना ही कह सकते हैं, कि वह "यह नहीं" है "ऐसा

नहीं है"। यह बतलाना तो हमारी सामर्थ्यके बाहर है, कि उसमें अमुक-अमुक गुण हैं; क्योंकि यदि हम ईश्वरके गुणोंको साफ तौरसे बतला सकें, तो वह संसारकी चीजें जैसा हो जायेगा। वह यहाँ तक कहता है, कि ईश्वरको "असंग-अद्वैत" (=वहदहू-लाशरीक) भी नहीं कह सकते, क्योंकि अद्वैत भी एक गुण है। यद्यपि मैमून "जगत्‌की अनादिता"को स्वयं नहीं मानता था, किन्तु ऐसा माननेवालेको वह नास्तिक कहनेके लिए तैयार न था।

विज्ञान (=नफ़्स)के सिद्धान्तमें मैमूनका रोश्दसे मतभेद था। वह मानता था, कि प्राकृतिक-विज्ञान[1], अभ्यस्त-विज्ञान[2]से ज्ञान प्राप्त करता है, और अभ्यस्त-विज्ञान कर्त्ता-विज्ञान[3] (=ईश्वर)से। विद्या (=दर्शन)को वह भी रोश्दकी भाँति ही बहुत महत्त्व देता था—मनुष्यकी चरमोन्नति उसकी विद्यासंबंधी उन्नतिपर निर्भर है, और यही ईश्वरकी सच्ची उपासना है।[4] विद्याके द्वाराही आदमी अपने जीवनको उन्नत कर सकता है; किन्तु, इस साधनका उपयोग सबके लिए आसान नहीं, इसलिए मूर्खों और अ-विद्वानोंकी शिक्षाके लिए ईश्वर पैगंबरोंको भेजता है।

ख—यूसुफ़ इब्न-यह्या (११९१ ई०)

जीवनी—यूसुफ इब्न-यह्या मराकोका रहनेवाला यहूदी था। यहूदियोंके निर्वासनके जमानेमें वह भी मिश्र चला आया, और मूसा इब्न-मैमूनसे उसने दर्शनका अध्ययन किया। यूसुफ भी अपने गुरुकी भाँति ही रोश्दके दर्शनका बड़ा भक्त था। रोश्दके प्रति अपनी भक्तिको उसने एक पत्रमें प्रकट किया है, जिसे उसने अपने गुरु मैमूनको लिखा था—

"मैंने आपकी प्रिय पुत्री सुरैयाको ब्याह-संदेश दिया। उसने

---

[1] अक्ल-माद्दी। [2] अक्ल-मुस्तफ़ाद। [3] अक़्ल-फ़आल।

[4] मैमूनसे दो सदी पहिले ब्राह्मण नैयायिक उदयनाचार्य (९८४ ई०) ने भी "उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता" (कुसुमांजलि) कहा था।

तीन शर्तोंके साथ मुझ गरीबकी प्रार्थना स्वीकार की—(१) स्त्रीधन (=मेहर) देनेकी जगह मैं अपने दिलको उसके हाथ बेच डालूँ; (२) शपथ-पूर्वक सदा प्रेम करनेकी प्रतिज्ञा करूँ; (३) वह षोड़शी कुमारियोंकी तरह मुझे आलिंगन करना पसंद करे। मैंने विवाहके बाद तीनों शर्तें पूरी करनेकी उससे प्रार्थना की। बिना किसी उज्रके वह राजी हो गई। अब हम दोनों पारस्परिक प्रेमके आनंद लूट रहे हैं। ब्याह दो गवाहोंकी उपस्थितिमें हुआ था : एक स्वयं आप—मूसा इब्न-मैमून—थे, और दूसरे थे इब्न-रोश्द।"

सारे पत्रको यूसुफने आलंकारिक भाषामें लिखा है। सुरैया वस्तुतः मैमूनकी कोई औरस पुत्री नहीं थी, बल्कि मैमून द्वारा प्रदत्त दर्शन-विद्याको ही वह उसकी प्रिय पुत्री कह रहा है, और इस "पाणिग्रहण"के करानेमें रोश्दका भी हाथ वह स्वीकार करता है।

यूसुफ जब हलब् (=अलेप्पो, सीरिया) में रहता था, तो उसकी जमाल-उद्दीन क़ुफ़्तीसे बहुत दोस्ती थी। जमालुद्दीन लिखता है—"एक दिन मैंने यूसुफसे कहा—यदि यह सच है कि मरनेके बाद जीवको इस दुनियाकी खबर मिलती रहती है, तो आओ हम दोनों प्रतिज्ञा करें कि हममेंसे जो कोई पहिले मरे, वह स्वप्नमें आकर दूसरेसे मृत्युके बादकी हालतकी सूचना दे। ....इसके थोड़े ही समय बाद यूसुफ मर गया। अब मुझको फिक्र पड़ी, कि यूसुफ स्वप्नमें आये और मुझे परलोककी बात बतलाये। प्रतीक्षा करते-करते दो वर्ष बीत गए। अन्तमें एक रात उसके दर्शनका सौभाग्य हुआ। मैंने देखा कि वह एक मस्जिदके आँगनमें बैठा हुआ है, उसकी पोशाक उजली है। उसे देखते ही मैंने पुरानी प्रतिज्ञाकी याद दिलाई। पहिले वह मुस्कराया, और मेरी ओरसे उसने मुँहको दूसरी ओर फेर लिया। लेकिन मैंने आग्रहपूर्वक कहा कि प्रतिज्ञा पूरी करनी होगी। लाचार हो कहने लगा—अवयवी (=पूर्ण ब्रह्म) अवयवमें समा गया, और अवयव (=शरीर-परमाणु) अवयव हीमें रह गया।"[1]

---

[1] "अखबारु'ल्-हुक्मा कुफ़्ती", पृष्ठ २५८

यूसुफ इब्न-यह्याकी प्रसिद्धि एक लेखकके तौरपर नहीं है। उसने अपने गुरुके काम—रोश्दके दर्शनका पठन-पाठन द्वारा यहूदियोंमें प्रचार—को खूब किया। यहूदियोंमें इस प्रचारका यह नतीजा हुआ, कि उनमें धर्मकी ओरसे उदासीनता होने लगी। यह अवस्था देख यहूदी धर्माचार्य मैमूनियोंके विरोधी हो गए, और १३०५ ई०में बारसलोना (स्पेन)के बड़े यहूदी धर्माचार्य सुलेमान इब्न-इद्रीसने फतवा जारी किया कि जो आदमी २५ वर्षकी आयुसे पहिले दर्शनकी पढ़ाई करेगा वह बिरादरीसे निकाल दिया जावेगा।

युरोपमें दर्शनके प्रचार—विशेषकर रोश्दके ग्रंथोंके अनुवाद-द्वारा—यहूदी विद्वानोंने किस तरह किया इसे हम अगले अध्यायमें कहेंगे।

५—इब्न-खल्दून (१३३२–१४०६ ई०)

[सामाजिक-अवस्था]—तेरहवीं सदीमें जब कि इस्लामने भारतपर अधिकार कर पूर्वमें अपने राज्यका विस्तार किया, उसी समय पच्छिममें उठती हुई युरोपीय जातियोंके प्रहारके कारण उसे स्पेन छोड़कर हटना पड़ा। लेकिन यह छोड़ना सिर्फ शासनके क्षेत्रमें ही नहीं था, बल्कि इस्लाम-धर्मको भी उसीके साथ जिब्राल्तरके जलतटको छोड़ अफ़्रीका लौटना पड़ा, जहाँ अब भी मराकोपर इस्लामी ध्वजा फैला रही है, और जिसकी राजधानी फ़ेज़की बनी काले फुँदनेवाली लाल टोपियाँ अब भी तुर्की टोपी-के नामसे भारतके कितने ही मुसल्मानोंके सिरोंपर देखी जाती हैं। कबीलाशाही युगके यहूदी धर्मने राजनीतिक विजयमें जिस तरह धर्मको भी शामिल किया था, उसे सामन्तशाही युगका ईसाई-धर्म स्वीकार करनेमें असमर्थ था, और उसने कबीलाशाही मनोवृत्तिको छोड़ भिन्न-भिन्न राष्ट्रोंमें केवल धार्मिक भावको लेकर अपना प्रसार किया। धार्मिक प्रचारके साथ राजनीतिक प्रभाव विस्तार भी पीछे हुआ, बल्कि युरोपके कितने ही जर्मन, स्लाव आदि सामन्तोंने तो ईसाइयतको स्वीकारकर उसका प्रचार अपनी प्रजामें इसलिए जोरसे किया कि उससे कबीलाशाही स्वतंत्रताका खातमा

होता है, और निरंकुश ईश्वरके प्रतिनिधि सामन्तके शासनकी पुष्टि होती, तो भी ईसाइयतमें दूसरेके देशपर आक्रमण कर उसे जीतनेके लिए जहाद (धर्म-युद्ध) छोड़नेकी गुंजाइश नहीं थी। शुद्ध कबीलाशाही समाजमें धर्म, राजनीति, और बहुत हद तक अर्थनीति भी सामाजिक जीवनके अभिन्न अंशसे होते हैं, इसलिए कबीला जो कुछ भी करता है उसके पीछे सिर्फ एक लक्ष्यको रख करता है यह नहीं कहा जाता। इस्लाम कबीलाशाही अरबमें पैदा हुआ था, किंतु वह सामन्तशाही प्रभावसे वंचित नहीं बल्कि बहुत हद तक प्रभावित था, जहाँ तक उसके धर्मका संबंध था; हाँ, प्रारंभमें आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि उसकी बहुत कुछ कबीलाशाही थी। हर कबीलेका ईश्वर, धर्म तथा जातीयताके साथ इतना संबद्ध होता है, कि उसे दूसरे कबीलेको दिया नहीं जा सकता है; इस्लाम इस बारेमें एक गैर-कबीलाशाही धर्म था, उसका ईश्वर और धर्म सिर्फ क़ुरैशके कबीलेके ही नहीं, सिर्फ अरब भाषा-भाषी कबीलों हीके लिए नहीं बल्कि दुनियाके सभी लोगोंके लिए था। इस तरह धर्ममें गैर-कबीलाशाही होते भी, युद्धनीति और राजनीतिमें उसने कबीलाशाहीका अनुसरण करना चाहा। राज (=शासन)-नीतिमें किस तरह म्वावियाने कबीलाशाही—जिसे कितने ही लोग जनतंत्रता समझनेकी भारी गलती करते हैं—को तिलांजलि दी, इसका हम जिक्र कर चुके हैं। लेकिन युद्धनीतिमें कबीलाशाही मनोभावको इस्लामने नहीं छोड़ा—जहाद और माल-गनीमत (=लूटका धन) का औचित्य उसीके निदर्शन हैं। अरब कबीले कबीलाशाही सार्वदैशिक नियमके अनुसार जहाद और गनीमतको ठीक समझते थे; किन्तु इस्लाम जिस सामन्तशाही धर्मका प्रचार कर रहा था, उसमें ज्यादा विशाल दृष्टिकी ज़रूरत थी, जिसे कि ईसाई या बौद्ध जैसे दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय धर्मोंने स्वीकार किया था। इस्लामको वैसा बननेके लिए इतिहासने भी मजबूर किया था। पैगंबर मुहम्मदने अपनी पैगंबरीके आरंभिक (मक्कावाले) वर्षोंमें इस्लामके लिए जो नीति स्वीकार की थी, वह बहुत कुछ ईसाइयों जैसी युक्ति और प्रेमके साथ धर्मको समझानेकी थी; किन्तु जब क़ुरैशके जुल्मसे 'बचनेके लिए' वह भागकर मदीना आये

और वहाँ भी वही खतरा ज्यादा जोरके साथ दिखलाई देने लगा, तो उन्हें तलवार उठानी पड़ी। हर तलवारके पीछे कोई नारा जरूर होना चाहिए, वहाँके लोग कबीलेशाही नारेको ही समझते थे—जो कि जहाद और माल-गनीमतका नारा हो सकता था—पैगंबरको भी वही नारा स्वीकार करना पड़ा। और जब एक वार इस नारेपर अल्लाहकी मुहर लग गई, तो हर देश और कालमें उसे स्वीकार करनेसे कौन रोक सकता है? इस्लाम अरबसे बाहर गया, साथ ही इस "जहाद" (रक्षात्मक ही नहीं धन जमा करनेके लिए भी आक्रमणात्मक युद्ध)के नारेको भी लेता गया। इस्लामका नेतृत्व अरबी कबीलों तथा अरबी सामन्तोंके हाथसे निकलकर गैर-अरब लोगोंके हाथमें चला गया, तो भी उन्होंने इस नारेको अपने मतलबके लिए इस्तेमाल किया।

यह भी पीछे कहा जा चुका है कि इस्लामने एक छोटेसे कबीलेसे बढ़ते-बढ़ते अनेक जाति-व्यापी "विश्व कबीला" बनानेका आदर्श अपने सामने रखा था। कबीला होनेके लिए एक धर्म, एक भाषा, एक जाति, एक संस्कृति, एक देश, (भौगोलिक स्थिति) होनेकी ज़रूरत है। इस्लामने इस स्थितिके पैदा करनेकी भी कोशिश की। आज मराको, त्रिपोली, मिश्र, सीरिया, मेसोपोतामियामें (पहिले स्पेन और सिसलीमें भी) जो अरबी भाषा बोली जाती है, वह बहुत कुछ उसी एक भाषा बनानेका नतीजा है। अरबी भाषामें ही नमाज पढ़नेकी सख्ती भी उसी मनोभावको बतलाती है। ईरान, शाम, तुर्किस्तान (मध्य-एसिया) आदि देशोंकी जातीय संस्कृतियों तथा साहित्योंको एक ओरसे नेस्त-नाबूद करनेका प्रयत्न भी एक कबीला-स्थापनाका फल था। प्रारंभिक अरब मुस्लिम विजेता बड़ी ईमानदारीके साथ इस्लामके इस आदर्शको पूरा करना चाहते थे। उनको क्या मालूम था, कि जिस कामको वह करना चाहते हैं, उसमें उनका मुका-बिला वर्तमान पीढ़ीकी कुछ जातियाँ ही नहीं कर रही हैं, बल्कि उनकी पीठपर प्रकृति भी है, जो सामन्तवादी जगत्को कबीलाशाही जगत्में बदल देनेके लिए इजाज़त नहीं दे सकती। आखिर भयंकर नरसंहार और क़ुर्बा-नियोंके बाद भी एक कबीला (=जन) नहीं बन सका।

हाँ, सामन्तशाही युगके निवासियोंके लिए "जहाद"का नारा अजब-सा लगा। वे लोग लड़ाइयाँ न लड़ते हों यह बात नहीं थी; किन्तु वह लड़ाइयाँ राजाओंके नेतृत्वमें राजनीतिक लाभके लिए होती थीं। उनमें ईश्वरकी सहायता या वरदान भी माँगा जाता था, लेकिन लड़नेवाले दोनों फ़रीक़ दिलमें समझते थे, कि ईश्वर इसमें तटस्थ है। जो धार्मिक थे वह यह भी मानते थे कि जिधर न्याय है, ईश्वर उधर ही पलड़ा भारी करना चाहेगा। यह समझना उनके लिए मुश्किल था, कि वह जो लड़ाई लड़ रहे हैं, वह ईश्वरकी लड़ाई है। इस्लामके जहादियोंने किस तरह अपने झंडोंको दूर-दूर तक गाड़नेमें सफलता पाई, इसको यहाँ कहनेकी ज़रूरत नहीं। यहाँ हमें सिर्फ़ इतना बतलाना है कि इस्लामी जहादके मुकाबिलेमें युरोपकी जातियोंको भी उसीकी नक़लपर ईसाई जहाद (=सलीबी जंग)[1] लड़ने पड़े। ये ईसाई जहादसे भी कितने अधिक भयंकर थे, यह इसीसे पता लगता है, कि जहाँ मुस्लिम स्पेनमें कितने ही स्पेनिश ईसाई परिवार बँच गये थे, वहाँ ईसाई स्पेनमें कोई भी पहिलेका मुसलमान नहीं रह गया।

इस्लामके इस युगके एक दार्शनिकका हम यहाँ जिक्र करते हैं।

(१) जीवनी—इब्न-खल्दूनका जन्म १३३२ ई०में उत्तरी अफ़्रीकाके तूनिस् नगरमें हुआ था। उसका परिवार पहिले सेविली (स्पेन)का रहनेवाला था। इस प्रकार हम उसे प्रवासी स्पेनिश मुसलमान कह सकते हैं। तूनिस्में ही उसने शिक्षा पाई। उसका दर्शनाध्यापक एक ऐसा व्यक्ति था, जिसने पूर्वमें भी शिक्षा पाई थी, और इस प्रकार उसके शिष्यको सेविली, तूनिस् और पूर्वकी शिक्षाओंसे लाभ उठानेका मौका मिला।

शिक्षा समाप्त करनेके बाद खल्दून कभी किसी दरबारमें नौकरी करता और कभी देशोंकी सैर करता रहा। वह कितनी ही बार भिन्न-भिन्न सुल्तानोंकी ओरसे अफ़्रीका और स्पेनमें राजदूत भी रहा। राजदूत बनकर

---

[1] Crusade.

कुछ समय वह 'क्रूर' पीतरके दरबारमें सेविलीमें भी रहा। उस वक्त पूर्वजोंकी जन्मनगरी इस्लामिक स्पेनके गौरव——सेविली——को उस तरह ईसाइयोंके हाथमें देखकर उसके दिलपर कैसा असर हुआ होगा; उसकी वजहसे उसके दिमागको जो सोचना पड़ा था, उसी सोचनेका फल हम उसके इतिहास-दर्शनमें पाते हैं। तैमूरका शासन उस वक्त मध्य-एसियासे भूमध्य-सागरके पूर्वी तट तक था, और दमिश्क भी उसकी एक राजधानी थी। खल्दून दमिश्कमें तैमूर (मंगोल, थि-मुर=लोहा)के दर्बारमें राजदूत बनकर भी कितने ही समय तक रहा था। १४०६ ई० में काहिरा (मिश्र)में खल्दूनका देहान्त हुआ।

(२) दार्शनिक विचार: (क) प्रयोगवाद—इस्लामिक दर्शनके इतिहासके बारेमें हमने अबतक देखा है, कि अश्अरीकी तरह कुछ लोग तो दर्शन या तर्कको इस्तेमाल करके सिर्फ यही साबित करना चाहते थे कि दर्शन गलत है, बुद्धि, ज्ञान प्राप्तिके लिए टूटी नैया है। ग़ज़ालीकी भाँति कुछका कहना था कि दर्शनकी नैया कुछ ही दूर तक हमारा साथ दे सकती है, उसके आगे योग-ध्यान ही हमें पहुँचा सकता है। सीना और रोश्द जैसे इन दोनों तरीकोंको झूठ और बेकार कह कर बुद्धिको अपना सारथी बना दर्शनको ही एक मात्र पथ मानते थे। खल्दून, सीना और रोश्दके करीब ज़रूर था, किन्तु उसने जगत् और उसकी वस्तुओंको बहुत बारीकीसे देखा था, और उस बारीक दृष्टिने उसे वस्तु-जगत्के बारेमें विश्वास दिला दिया था, कि सत्य तक पहुँचनेके लिए यहाँ तुम्हें बेहतर साधन मिलेगा। उसका कहना था——दार्शनिक समझते हैं कि वह सब कुछ जानते हैं, किंतु विश्व इतना महान् है, कि उस सारेको समझना दार्शनिककी शक्तिसे बाहर है। विश्वमें इतनी हस्तियाँ और वस्तुएं हैं, वह इतनी अनगिनित हैं, जिनका जानना मनुष्यके लिए कभी संभव न होगा। तर्कसे जिस निष्कर्षपर हम पहुँचते हैं, वह कितनी ही बार व्यवहार या प्रयोग——वस्तुस्थिति——से मेल नहीं खाता। इससे साफ है, कि केवल तर्कके उपयोगसे सच तक पहुँचनेकी आशा दुराशा मात्र है। इसलिए साइंसवेत्ताका काम है प्रयोगसे प्राप्त अनुभवके सहारे

सत्य तक पहुँचनेकी कोशिश करे। और यहाँ भी उसे सिर्फ अपने प्रयोग, अनुभव, और निष्कर्षपर सन्तोष नहीं करना चाहिए, बल्कि पीढ़ियोंसे मानव जातिने जो ऐसे निष्कर्ष छोड़े हैं, उनसे भी मदद लेनी चाहिए। वादकी सत्यता प्रयोगके अनुसरण करनेपर है—साइंसके इस सिद्धान्तकी कितनी साफ तौरसे खल्दूनने पुष्टि की है, इसे कहनेकी ज़रूरत नहीं।

(ख) ज्ञान-प्राप्तिका उपाय तर्क नहीं—खल्दून जीवको स्वभावसे ज्ञान-हीन मानता है, किन्तु साथ ही यह भी कि उसमें यह शक्ति स्वाभाविक है, वह अपने तजर्बेपर मनन और व्याख्या कर सकता है। जिस वक्त वह इस तरहके मननमें लगा रहता है, उसी वक्त अक्सर एक विचार यकायक बिजलीकी तरह दिमागमें चमक उठता है, और हम अन्तर्दृष्टि—वास्तविकता—सत्य—तक पहुँच जाते हैं। इस प्रयोग, मनन, अन्तर्दृष्टिको पीछे तर्ककी भाषा (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण आदि)में क्रमबद्ध किया जा सकता है। इससे यह तो साफ है कि तर्क ज्ञानको उत्पन्न नहीं करता; वह सिर्फ उस पथको अंकित करता है, जिसे हमें मनन करते वक्त पकड़ना चाहिए था; वह बतलाता है कि कैसे हम ज्ञान तक पहुँचते हैं। तर्कका एक फायदा यह भी है, कि वह हमें हमारी भूल बतलाता है, बुद्धिको तीखी करता, और उसे ठीक तौरसे सोचनेमें सहायक होता है।

खल्दून ज्ञानके युद्धमें प्रयोगको प्रधान और तर्कको सहायक मानता है, फिर उससे इस बातकी आशा ही थी, कि वह कीमिया और फलित ज्योतिषके मिथ्या-विश्वाससे मुक्त होगा।

(ग) इतिहास-साइंस—खल्दूनका सबसे महत्त्वपूर्ण विचार है, इतिहासकी सतहसे भीतर घुसकर उसके मौलिक नियमों—इतिहास-दर्शन या इतिहास-साइंस—को पकड़ना। खल्दूनके मतसे इतिहासको साइंस या दर्शनका एक भाग कहना चाहिए। इतिहासकारका काम है घटनाओंका संग्रह करना और उनमें कार्य-कारण संबंधको ढूँढ़ना। इस कामको गंभीर आलोचनात्मक दृष्टिके साथ बिल्कुल निष्पक्षपात होकर करना चाहिए। हर समय हमें इस सिद्धान्तको सामने रखना चाहिए कि कारण जैसा कार्य

होता है—अर्थात्, एक जैसी घटनाएं बतलाती हैं कि उनसे पूर्वकी स्थितियाँ एक जैसी थीं, अथवा सभ्यताकी एक जैसी परिस्थितियोंमें एक जैसी घटनाएं घटित होती हैं। यह बहुत संभव है, कि समयके बीतनेके साथ मनुष्यों और मानव-समाजके स्वभावमें परिवर्तन नहीं हुआ है, या बहुत ज्यादा नहीं हुआ है; ऐसा होनेपर वर्तमानका एक सजीव ज्ञान हमें अतीत संबंधी गवेषणाके लिए जबर्दस्त साधन हो सकता है। जिसे हम पूरी तौरसे जानते हैं तथा जो अब भी हमारे आँखोंके सामने है, उसकी सहायतासे हम एक गुजरे जमानेकी अल्पज्ञात घटनाके बारेमें एक निष्कर्षपर पहुँच सकते हैं। हर एक परम्पराको लेते वक्त उसे वर्तमानकी कसौटीपर कसना चाहिए, और यदि वह ऐसी बात बतलाये जो कि वर्त्तमानमें असंभव है, तो उसकी सत्यतापर संदेह होना चाहिए। वर्तमान और अतीत दो बूँदोंकी भाँति एक दूसरे जैसे हैं। किन्तु यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि यह नियम सामान्य तौरसे ही ठीक है, विस्तारमें जानेपर उसमें कई दिक्कतें हैं, और वहाँ इसके ठीक होनेके लिए घटनाओंकी आवश्यकता होगी।

सामाजिक जीवन—या समाजकी सामूहिक, भौतिक और बौद्धिक संस्कृति—खल्दूनके मतसे इतिहासका प्रतिपाद्य विषय है। इतिहासको दिखलाना है, कि कैसे मनुष्य श्रम करता, तथा अपने लिए आहार प्राप्त करता है? क्यों वह एक दूसरेपर निर्भर रहते तथा एक अकेले नेताके अधीन हो एक बड़े समुदायका अंग बनना चाहते हैं? कैसे एक स्थायी जीवनमें उन्हें उच्चतर कला और साइंसके विकासके लिए अवकाश और अनुकूलता प्राप्त होती है? कैसे एक मोटे-मोटे तथा छोटे आरंभसे सुन्दर संस्कृति फूट निकलती, और फिर काल-कवलित हो जाती है? जातियाँ अपने इस उत्थान और पतनमें समाजके निम्न स्वरूपोंसे गुजरती हैं—(१) खानाबदोशी समाज; (२) सैनिक राजवंशके अधीनस्थ समाज; (३) नागरिक ढंगका समाज।

सबसे पहिला प्रश्न आदमीके लिए आहारका है। अपने आर्थिक स्वरूपोंके कारण मनुष्य और जातियाँ तीन अवस्थाओं में बँटी हैं—खानाबदोश

(अ-स्थायी-वास, घुमन्तू), स्थायी-वास पशुपालक, और कृषिजीवी। आहारकी माँग, युद्ध, लूट और संघर्ष पैदा करती है, और मनुष्य ऐसे एक राजाकी अधीनताको स्वीकार करते हैं, जो कि वहाँ उनका नेतृत्व करे। वह सैनिक नेता अपना राजवंश स्थापित करता है, जिसके लिए नगर—राजधानी—की जरूरत पड़ती है। नगरमें श्रम-विभाग और पारस्परिक सहयोग स्थापित होता है, जिससे वह अधिक सम्पत्तिमान् तथा समृद्ध होता है। किन्तु यही समृद्धि नागरिकोंको विलासिता और निठल्लेपनमें गिराती है। श्रमने सभ्यताकी प्रथमावस्थामें सम्पत्ति और समृद्धि पैदा की; किन्तु सभ्यताकी उच्चतम अवस्थामें मनुष्य दूसरे आदमियोंसे अपने लिए श्रम करवा सकता है, और अक्सर बदलेमें बिना कुछ दिये। आगे समाज और खासकर समृद्धि-शाली वर्गकी आवश्यकतायें बढ़ती जाती हैं, जिसके कारण करका बोझ और बढ़ता तथा असह्य होता जाता है। समृद्धिशाली धनी वर्गका एक ओर विला-सिताके कारण फ़जूलखर्च होता है, और दूसरी ओर उसपर करका बोझ बढ़ता है; इस प्रकार वह अधिक और अधिक दरिद्र होता जाता है; साथ ही अस्वाभाविक जीवन बितानेके कारण उसका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य गिरता जाता है। खल्दून स्वयं सेविली-निर्वासित इसी गिरे हुए वर्गमें पैदा हुआ था, इसलिए वह सिर्फ इसी संस्कृत प्रभुवर्गकी दुरवस्थापर आँसू बहाता है, उसे अपने आसपासके दासों और कम्मियोंके पशुसे बदतर जीवनके ऊपर नज़र डालनेकी फुरसत न थी। नागरिक जीवन उसके पुराने सैनिक रीति-रवाज अधिक सम्भ्रान्त रूप धारण कर अपनी उपयोगिता खो बैठते हैं, और लोग शत्रुके आक्रमणसे अपनी रक्षा नहीं कर सकते। एक समाज या एक धर्मसे संबद्ध होनेके कारण जो सामूहिक शक्ति और इरादा पहिले मौजूद था, वह जाता रहता है, और लोग ज्यादा स्वार्थी तथा अधार्मिक हो जाते हैं। भीतर ही भीतर सारा समाज खोखला बन जाता है, उसी वक्त रेगिस्तानसे कोई प्रबल खानाबदोश, या सभ्यतामें अधिक प्रगति न रखनेवाली किन्तु सामूहिक जीवनमें दृढ़ जंगली-प्राय जाति उठकर स्त्रैण नागरिकोंपर टूट पड़ती है। एक नया शासन कायम होता है, और

शनैः शनैः विजयी जाति पुरानी सभ्यताकी भौतिक तथा बौद्धिक सम्पत्ति-को अपनाती है, और फिर वही इतिहास दुहराया जाता है। यह उतार-चढ़ाव जैसे परिवारमें देखा जाता है, वैसे ही राजवंश या बड़े समाजमें भी पाया जाता है; और तीनसे छै पीढ़ीमें उनका इतिहास समाप्त हो जाता है—पहिली पीढ़ी अधिकार स्थापित करती है, दूसरी पीढ़ी उसे कायम रखती है, और शायद तीसरी या कुछ और पीढ़ियाँ भी उसे सँभाले रहती हैं; और फिर अन्त आ पहुँचता है। यही सभी सभ्यताओंका जीवन-चक्र है।

जर्मन-विद्वान् अगस्ट मूलरका कहना है, खल्दूनका यह नियम ग्यार-हवींसे पन्द्रहवीं सदी तकके स्पेन, मराको, दक्षिणी अफ़्रीका और सिसलीके इतिहासोंपर लागू होता है, और उन्हींके अध्ययनसे खल्दून इस निष्कर्षपर पहुँचा मालूम होता है।

खल्दून पहिला ऐतिहासिक है, जिसने इतिहासकी व्याख्या ईश्वर या प्राकृतिक उपद्रवोंके आधारपर न करके उसकी आन्तरिक भौतिक सामग्रीसे करनेका प्रयत्न किया, और उनके भीतर पाये जानेवाले नियमों—इतिहास-दर्शन—तक पहुँचनेकी कोशिश की। खल्दून अपने ऐतिहासिक लेखोंमें इति-हासकी कारण-शृंखला तक पहुँचनेके लिए जाति, जलवायु, आहार-उत्पादन आदि सभीकी स्थितिपर बारीकीसे विचार करता है; और फिर सभ्यताके जीवन-प्रवाहमें वह अपने सिद्धान्तकी पुष्टि होते देखता है। हर जगह अ-प्राकृ-तिक नहीं प्राकृतिक, दैवी—लोकोत्तर—नहीं, लौकिक कारणोंको ढूँढ़नेमें वह चरम सीमा तक जाता है। कारण-शृंखलाका जहाँसे आगे पता नहीं लगता, वहाँ हमें चरम कारण या ईश्वरको स्वीकार करना पड़ता है। गोया खल्दून इस तरह इतिहासकी कारण शृंखलामें ईश्वरके लानेका मतलब अज्ञता स्वीकार करना समझता है। अपने अज्ञानसे आगाह होना भी एक प्रकारका ज्ञान है, किन्तु जहाँ तक हो सकता है, हमें ज्ञानके पानेकी कोशिश करनी चाहिए। खल्दून अपने कामके बारेमें समझता है कि उसने सिर्फ मुख्य-मुख्य समस्याओंका संकेत किया है, और इतिहास-साइंसकी

प्रक्रिया तथा विषयके बारेमें सुझाव भर पेश किये हैं। लेकिन वह आशा करता है कि उसके बाद आनेवाले लोग इसे और आगे बढ़ायेंगे।

इब्न-खल्दूनकी आशा पूर्ण हुई, किन्तु इस्लामके भीतर नहीं : वहाँ जैसे उसका (अपने विचारोंका) कोई पूर्वगामी नहीं था, वैसे ही उसका कोई उत्तराधिकारी भी नहीं मिला।[१]

---

[१] The Philosophy in Islam (by G.T.J. De Boer), pp. 200-208.

अष्टम अध्याय

युरोपपर इस्लामी दार्शनिकोंका ऋण

रोश्दके बाद कैसे उसके दर्शनका मैमूनियोंने अध्ययनाध्यापन जारी रखा, इसका जिक्र पहिले हो चुका है, और हम यह भी बतला चुके हैं, कि स्पेनकी इस्लामिक सल्तनत तथा स्वयं इस्लाम भी वहाँसे ईसाई जहादोंमें खतम हो गया। इस्लामकी प्रभुता जब स्पेनमें स्थापित थी और कार्दोवा दस लाखका एक बड़ा शहर ही नहीं बल्कि विद्याका महान् केन्द्र था, उस वक्त भी पास-पड़ोसके देशोंके ईसाई-विद्यार्थी वहाँ विद्या पढ़ने आते थे (अध्ययनका माध्यम अरबी थी), और रोश्द तथा दूसरे दार्शनिकोंके विचारोंको अपने साथ ले जाते थे। लेकिन जब मोहिदीन शासकों और स्पेनिश ईसाइयोंकी अन्तिम जहादी लड़ाइयाँ होने लगीं, तो देशके हर भाग और श्रेणीके लोगों में खून-खराबी मच गई; दोनों पक्षोंमेंसे किसी भी ओर रहनेवाले यहूदी स्पेन छोड़कर भागने लगे। यह भागे हुए यहूदी या तो उत्तरी (ईसाई) स्पेनके शहरों—प्राविंस, बारसलोना, सारागोसा आदिमें बस गए, या दक्षिणी फ़्रांसके मार्सेई आदि शहरोंमें चले गए। ये प्रवासी यहूदी अपने साथ अपनी विद्या और विद्याप्रेमको भी लेते गये, और कुछ ही समय बाद उनके नये निवास-स्थान भी विद्या-केन्द्र बनने लगे।

§ १. अनुवादक और लेखक

१—यहूदी (इब्रानी)

यूनानी पुस्तकोंके सुरियानी, इब्रानी फ़ार्सी और अरबी भाषाओंमें अनुवाद होनेकी बात कही जा चुकी है। अब सात सदियों बाद फिर नये

अनुवादोंका दौर शुरू होता है। यूनानी दर्शनके आधारपर अरबोंने जो दर्शन-प्रासाद खड़ा किया था, अब उसको युरोपके दर्शन अनुरागियोंके सामने रखना था, और इसमें भाग लेनेवाले थे यही प्रवासी यहूदी। यहूदी जबतक इस्लामिक स्पेनमें रहे तबतक अरबी उनकी मातृभाषा बनी हुई थी; इसलिए अनुवादकी ज़रूरत न थी; किन्तु जब वह दूसरे देशोंमें बस गए और वहाँ अरबीकी जगह दूसरी भाषाको उन्हें द्वितीय भाषाके तौर-पर अपनाना पड़ा; तो अरबी भाषा (अरबी भाषा क्या अरबी लिपि) को भी द्वितीय भाषाके तौरपर जारी रखना उनके लिए मुश्किल था। स्थानीय भाषाएं उतनी उन्नत न थीं, इसलिए उन्होंने जहाँ अरबीकी पुस्तकों-को इब्रानी लिपिमें उतार डाला; वहाँ उन्हें इब्रानीमें अनुवादित करना भी शुरू किया। इन अनुवादित ग्रंथोंमें रोश्दकी कृतियाँ बहुत ज्यादा थीं।

(१) प्रथम इब्रानी अनुवाद-युग—इब्रानी-अनुवादके कामको शुरू करनेवालोंमें इब्न-तैबूनके खान्दानका खास हाथ है। ये लोग इस्लामिक स्पेनसे आकर ल्योनल (उत्तरी स्पेन)में बस गये थे। इस खान्दानका पूर्व-पुरुष इब्न-तैबून दर्शन, प्राणिशास्त्र और कीमियाका एक बड़ा पंडित था। इस खान्दानका सबसे पहिला अनुवादक समुयेल इब्न-तैबून था, जिसने "दार्शनिकोंके सिद्धान्त"[1]के नामसे एक पुस्तक लिखी जो कि इब्न-रोश्दके ग्रंथोंसे शब्दशः ली गई थी। इसी समय तलीतला[2] (स्पेन)के एक यहूदी धर्माचार्य यह्या बिन्-सलामाने "तिब्बुल्-हिकमत्" (१२७४ ई०) लिखी; यह्या जर्मन राजा फ़्रेडरिक द्वितीय (१२४० ई०) के दरबारमें अरबी ग्रंथोंके अनुवादका काम करता था।

समुयेलके बाद मूसा-बिन्-तैबूनने "भौतिक-शास्त्र"[3]की अधिकतर पुस्तकोंका इब्रानीमें अनुवाद किया। समुयेलके समकालीन इब्न-यूसुफ बिन्-फ़ाख़ोरा (जन्म १२२६ ई०) तथा जर्सन बिन्-सुलेमानने भी अनुवाद किये। जर्सन समुयेलका संबंधी भी था, इसने इब्रानीमें बहुत ज्यादा अनुवाद किये।

---

[1] "आराउ'ल्-हुकमा"। [2] तूलों ? [3] "तब्-इयात्"।

फ्रेडरिकके दरबारमें एक मशहूर यहूदी अनुवादक याकूब बिन्-मरियम् अबी-शम्शून था, इसने फ्रेडरिककी आज्ञा (१२३२ ई०)से रोश्दकी बहुतसी पुस्तकोंका अनुवाद किया; जिनमें निम्न मुख्य हैं—

	तर्कशास्त्र (मन्तक़ियात)-व्याख्या	(१२३२ ई० नेपल्समें)
तर्क-संक्षेप (तल्ख़ीस-मन्तिक़)		
तल्ख़ीस-मुहस्सती		(१२३१ नेपल्समें)

इनके अतिरिक्त निम्न अनुवादकोंके कुछ अनुवाद इस प्रकार हैं—

सुलेमान बिन्-यूसुफ	मुक़ाला फि'स्-समाअ्-व-आलम्[1]	(१२५९ ई०)
ज़करिया बिन्-इस्हाक	भौतिक शास्त्र-टीका	(१२८४ ई०)
	अति भौतिक शास्त्र-टीका	(१२८४ ई०)
	देवात्मा-जगत्-टीका	(१२८४ ई०)
याकूब बिन्-मशीर	तर्क-संक्षेप	(१२९८ ई०)
	प्राणिशास्त्र[2]	(१३०० ई०)

(२) **द्वितीय इब्रानी अनुवाद-युग**—चौदहवीं सदीसे इब्रानी अनुवादोंका दूसरा युग आरम्भ होता है। पहिले अनुवादकी भाषा उतनी मँजी हुई नहीं थी, और न उसमें ग्रंथकारके भावोंका उतना ख्याल रखा गया था। ये अनुवाद गोया फाराबीसे पहिलेके अरबी अनुवादों जैसे थे, लेकिन नये अनुवाद भाषा-भाव दोनोंकी दृष्टिसे बेहतर थे। इन अनुवादकोंमें सबसे पहिला है कालोनीम् बिन्-कालोनीम् बिन्-मीर[3] (जन्म १२८७ ई०) है। उसने निम्न पुस्तकों[4]के अनुवाद किये —

---

[1] समाअ्-व-आलम्।　[2] हैवानात्।

[3] यह लातीनी भी जानता था, इसने रोश्दके "खंडन-खंडन"का लातीनी भाषामें अनुवाद (१३२८ ई०) किया था।

[4] Topics, Sophistics, the Second Analytics, Physics, Mytaphysics, De Coelo et Mundo, De Generatione et Corruptione, Meteorology.

टॉपिक् (तर्क)	अरस्तू	१३१४ ई०
सोफिस्ता (तर्क)	,,	,,
अनालोतिक द्वितीय (तर्क)	,,	,,
भौतिक शास्त्र	,,	१३१७
अतिभौतिक शास्त्र	,,	,,
देवात्मा और जगत् (भौतिक शास्त्र)	,,	,,
कोन-व-फ़साद (भौतिक शास्त्र)	,,	,,
मुक़ाला फ़िल्-माहयात् (भौतिक शास्त्र)	,,	,,

इसके अतिरिक्त निम्न अनुवादकोंने भी इस युगमें इब्रानी अनुवाद[1] किये—

अनुवादक	ग्रंथ	ग्रंथकर्त्ता	अनुवाद-काल
कालोनीम् बिन्-दाऊद	खंडन-खंडन[2]	रोश्द	
अबी समुयेल बिन्-यह्या	आचार-शास्त्र	अरस्तू	१३२१
	"प्रजातंत्र"-व्याख्या	रोश्द	,,
थ्योदोर	टॉपिक	अरस्तू	१३३७
	खिताबत्[3]	अरस्तू	,,
	आचार-शास्त्र	अरस्तू	,,

इसी सदीमें निम्न अनुवादक और हुए जिन्होंने करीब सारे ही रोश्द-दर्शनको इब्रानीमें कर डाला—

इब्न-इस्हाक,
यह्य बिन्-मैमून,
मूसा बिन्-तावूरा,
मूसा बिन्-सुलेमान
यह्या बिन्-याक़ूब,
सुलेमान बिन्-मूसा अल्-गोरी,

[1] पुस्तक-नामोंके लिए देखो पृष्ठ ११५, २२१-२३ भी।
[2] "तोहाफ़तु-त्तोहाफ़त्"। [3] Rhetoric (=भाषण-शास्त्र)

(क) ल्योन् अफ़्रीकी—इसी चौदहवीं सदी हीमें लाबी बिन्-जर्सन—जिसे ल्योन् अफ़्रीकी भी कहते हैं—ने रोश्दके दर्शनके अध्ययनाध्यापनके सुभीतेके लिए वही काम किया है, जो कि रोश्दने अरस्तूके लिएं किया था। ल्योन्ने रोश्दके ग्रंथोंकी व्याख्याएं और संक्षेप लिखे। उनका एक समय इतना प्रचार हुआ था, कि लोग रोश्दके ग्रंथोंको भी भूल गए। ल्योन् भूत (=प्रकृति)को अनुत्पन्न नित्य पदार्थ मानता था। वह पैगम्बरीको मानवी शक्तियोंका ही एक भेद समझता था।

ल्योन् अफ़्रीकीके ग्रंथोंने यहूदी विद्वानोंमें रोश्दका इतना प्रचार बढ़ाया कि अरस्तूकी पुस्तकोंको कोई पढ़ना न चाहता था। इसी कालमें मूसा नारबोनीने भी रोश्दकी बहुतसी व्याख्याएं और संक्षेप लिखी।

(ख) अहरन् बिन्-इलियास्—अब तक यहूदियोंमें मज़हबी लोग दर्शनसे दूर-दूर रहा करते थे, और वह सिर्फ स्वतंत्र विचार रखनेवाले धर्मोपेक्षकोंकी चीज समझा जाता था; किंतु चौदहवीं सदीके अंतमें एक प्रसिद्ध यहूदी दार्शनिक अहरन्-बिन्-इलियास् पैदा हुआ। इसने "जीवन-वृक्ष"[1] के नामसे एक पुस्तक लिखी, जिसमें रोश्दके दर्शनका जबर्दस्त समर्थन किया, जिससे उसका प्रचार बहुत ज्यादा बढ़ा।

यहूदी विद्वान् इलियास् मदीजू पेदुआ (इताली) विश्वविद्यालयमें अन्तिम प्रोफेसर था। इसने भी रोश्दपर कई पुस्तकें लिखीं।

सोलहवीं सदी पहुँचते-पहुँचते रोश्दके दर्शनके प्रभावसे विचार-स्वातंत्र्यका इतना प्रचार हो गया, कि यहूदी धर्माचार्योंको धर्मके खतम होनेका डर होने लगा। उन्होंने दर्शनका जबर्दस्त विरोध शुरू किया, और दर्शनके खिलाफ मुसलमान धर्माचार्योंके इस्तेमाल किये हुए हथियारोंको इस्तेमाल करना चाहा। इसी अभिप्रायसे अबी-मूसा अल्-मशीनोने १५३८ ई० में गज़ालीकी पुस्तक "तोहाफतुल्-फ़िलासफ़ा" (=दर्शन-खंडन) का इब्रानी अनुवाद प्रकाशित किया। अफलातूनके दर्शनको धर्मके ज़्यादा

---

[1] "शज्रुल्-हयात्"।

अनुकूल देखकर उन्होंने अरस्तूकी जगह उसका प्रचार शुरू किया। अब हम बेकन् (१५६१-१६२६), हॉब्स (१५८८-१६७९ ई०) और द-कार्त (१५९६-१६५० ई०) के जमानेके साथ दर्शनके आधुनिक युगमें पहुँच जाते हैं; जिसमें अन्तिम यहूदी दार्शनिक स्पिनोज़ा (१६३२-७७ ई०) हुआ जिसने यहूदियोंके पुराने दर्शन और द-कार्तके सिद्धान्तोंको मिलाकर आधुनिक युरोपके दर्शनकी बुनियाद रखी, और तबसे दर्शन धर्मसे स्वतंत्र हो गया।

स्पिनोजापर इस्राईली (८५०-९५० ई० के बीच), सादिया (८९२-९४२ ई०), वाकिया (१०००-१०५० ई०), इब्न-जब्रोल (१०२०-७० ई०), मैमून (११३५-१२०४ ई०), गेरसूनी (१२८८-१३४४ ई०) और क्रस्का (१३४०-१४१० ई०) के ग्रंथोंका बहुत असर पड़ा था।

२—ईसाई (लातीनी)

ईसाई जहादों (=सलीबी युद्धों) का जिक्र पहिले हो चुका है। तेरहवीं सदीमें ये युद्ध स्पेन हीमें नहीं हो रहे थे, बल्कि उस वक्त सारे यूरोपके ईसाई सामन्त मिलकर यरोशिलम और दूसरे फिलस्तीनी ईसाई तीर्थ-स्थानोंके लौटानेके बहानेसे लड़ाइयाँ लड़ रहे थे। इन लड़ाइयोंमें भाग लेनेके लिए साधारण लोगोंसे ज्यादा उत्साह यूरोपीय सामन्त दिखाते थे। कितनी ही बार तो एक सामन्त दूसरे सामन्त या राजासे अपने प्रभाव और प्रभुत्वको बढ़ानेके लिए युद्धमें सबसे आगे रहना चाहता था।

(१) फ़्रेडरिक द्वितीय (१२४० ई०)—जर्मन राजा फ़्रेडरिक द्वितीय सलीबी युद्धोंके बड़े बहादुरोंमेंसे था। जब युरोपीय ईसाइयोंने यरोशिलमपर छठा हमला किया, तो फ़्रेडरिक उसमें शामिल था। धर्मके बारेमें उसकी सम्मति बहुत अच्छी न थी, तो भी अपने ही कथनानुसार, वह उसमें इसलिए शामिल हुआ कि अपने मूर्ख सिपाहियों और जनतापर प्रभुत्व बढ़ाये।—इस बातमें वह हिटलरका मार्ग-दर्शक था। फ़्रेडरिककी प्रारम्भिक ज़िन्दगीका काफ़ी भाग सिसलीमें बीता था। सिसली द्वीप सदियोंतक अरबोंके हाथमें रहनेसे अरबी संस्कृतिका केन्द्र बन गया था। फ़्रेडरिकका

अरब विद्वानोंसे बहुत मेल-जोल था और वह अरबी भाषाको बहुत अच्छी तरहसे बोल सकता था। अरबी सभ्यताका वह इतना प्रेमी हो गया था कि उसने भी हरम (=रनिवास) और ख्वाजा-सरा (=हिजड़े दरोगा) कायम किये थे। ईसाइयतके बारेमें उसकी राय थी—"चर्चकी नींव दरिद्रावस्थामें रखी गई थी, इसीलिए आरम्भिक युगमें सन्तोंसे ईसाई दुनिया खाली न रहती थी; लेकिन अब धन जमा करनेकी इच्छाने चर्च और धर्माचार्योंके दिलको गंदगीसे भर दिया है।" वह खुल्लम्खुल्ला ईसाई-धर्मका उपहास करता था, जिससे नाराज़ होकर पादरियोंने उसे शैतानका नाम दे रखा था। पोप इन्नोसेंत चतुर्थकी प्रेरणासे ल्योन्समें एक धर्म-परिषद् (कौंसिल) बैठी, जिसने फ़्रेडरिकको ईसाई बिरादरीसे छाँट दिया।

जिस वक्त सलीबी युद्ध चल रहा था, उस वक्त भी फ़्रेडरिकका दार्शनिक कथा-संवाद जारी रहता था। मुसलमान विद्वान् बराबर उसके दरबारमें रहते थे। मिश्रके सुल्तान सलाह्-उद्दीनसे उसकी वैयक्तिक मित्रता थी, जो उन युद्धके दिनोंमें भी वैसी ही बनी हुई थी, और दोनों ओरसे भेंट-उपायन आते-जाते रहते थे।

युद्धसे लौटनेके बाद उसने खुल्लम्खुल्ला, दर्शन तथा दूसरी विद्याओंका प्रचार शुरू किया, सिसलीमें पुस्तकालय स्थापित किये; अरस्तू, तालमी, और रोश्दके ग्रंथोंको अनुवाद करनेके लिए यहूदी विद्वानोंको नियुक्त किया। पिंपल्समें एक युनिवर्सिटीकी नींव रखी और सलर्नोके विद्यापीठका संरक्षक बना। उसने विद्या-प्रचारके लिए दूर-दूरसे अरबीदाँ विद्वानोंको एकत्रित किया। तैबून खान्दानवाले अनुवादक इसीके दरबारसे संबंध रखते थे। फ़्रेडरिक स्वयं विद्वान् था और विद्या तथा संस्कृतिमें सिरमौर उस समयकी अरबी दुनियाको उसने नज़दीकसे देखा था, इसलिए वह चाहता था कि अपने लोगोंको भी वैसा ही बनाये। आक्सफोर्डके एक पुस्तकालयमें 'मसायल्-सक़्लिया' नामक एक अरबी हस्तलिखित पुस्तक है जिसके बारेमें कहा जाता है कि फ़्रेडरिकने स्वयं उसे लिखा था; लेकिन वस्तुतः वह पुस्तक दक्षिणी स्पेनके एक सूफ़ी दार्शनिक इब्न-सबईनकी कृति है, जिसे उसने १२४० ई०

में फ़्रेडरिकके चंद दार्शनिक प्रश्नों—जिन्हें कि उसने इस्लामिक दुनियाके दूसरे प्रसिद्ध विद्वानोंके पास भी भेजे थे—के उत्तरमें लिखा था। इस वक्त दक्षिणी स्पेनपर सुल्तान रशीदकी हुकूमत थी। इस हुकूमतमें उस वक्त विचार-स्वातंत्र्यकी क्या हालत थी यह सबईनके इस वाक्यसे पता लगता है—"हमारे देशमें इन विषयोंपर कलम उठाना बहुत खतरेका काम है। यदि मुल्लोंको खबर हो जाये कि मैंने इस विषयपर कलम उठाई है, तो वह मेरे दुश्मन बन जायेंगे और उस वक्त मैं दुश्मनीके हमलोंसे बच न सकूँगा।"[1]

चालीस साल तक फ़्रेडरिकने चर्चके विरोधके होते हुए भी युरोपको विद्याके प्रकाशसे प्रकाशित करनेकी कोशिश जारी रखी। जब वह मरा तो पोप इन्नोसेंतने सिसलीके पादरियोंके सामने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"आसमान और ज़मीनके लिए यह खुशीकी घड़ी है, क्योंकि जिस तूफानमें मानव जगत् फँस गया था उससे ईसाई जगत्को अन्तिम बार मुक्ति मिली।" लेकिन फ़्रेडरिकके बाद जो परिवर्तन यूरोपमें दिखाई पड़ा, उसने पोपकी रायको गलत साबित किया।

(२) अनुवादक—बिन्-मीरके "खंडन-खंडन"के लातीनी अनुवाद (१३२८ ई०) के बारेमें हम कह चुके हैं; किन्तु इसके पहिले हीसे अरबी ग्रंथोंके लातीनी अनुवाद शुरू हो गए थे। फ़्रेडरिकका दरबारी मी काल स्कात तलेतला (स्पेन) का निवासी था, इसने अपने शहरके एक यहूदी विद्वान्की मददसे कई पुस्तकोंका लातीनी भाषामें अनुवाद किया, जिनमें कुछ हैं—

समाअ्-व-आलम्-शरह (टीका)	रोश्द	१२३० ई०
मुक़ाला फिल्-रूह (टीका)	रोश्द	,,
मुक़ाला कोन-व-फसाद	रोश्द	
जौहरुल्-कौन		

[1] "आसारुल्-अद्हार", पृष्ठ २४१

राजर बैकन (१२१४-९२ ई०) के अनुसार स्कात अरबी भाषा बहुत कम जानता था और उसने दूसरोंकी सहायतासे ही अनुवाद किये थे। कुछ भी हो, स्कात पहिला आदमी है जिसने ईसाई दुनियाके सामने पहिले-पहिल रोश्दके दर्शनको, उस वक्तकी चर्चकी भाषा लातीनीमें पेश किया। राजर बैकन खुद अरबी जानता था, उसने रोश्दके दर्शनको अपने देश इंगलैण्ड-में फैलानेके लिए क्या किया, यह हम आगे कहेंगे।

फ़्रेडरिकके दर्बारके दूसरे विद्वान् हरमनने निम्न दर्शन ग्रंथोंका लातीनी-में अनुवाद किया—

भाषण[1]-टीका	फाराबी	१२५६ (तलेतला[2])
अलंकार[3]-संक्षेप	रोश्द	१२५६ (तलेतला)
आचार[4]-संक्षेप	रोश्द	१२४० ई० (तलेतला)

तेरहवीं सदीके अन्त होते-होते तक रोश्दके सभी दार्शनिक ग्रंथोंका लातीनी भाषामें अनुवाद हो गया था।

---

[1] Rhetoric. [2] Toledo. [3] Rhetoric. [4] Ethics.

नवम अध्याय

यूरोपमें दर्शन-संघर्ष

संत अगस्तिन् (३५३-४३० ई०) के दर्शन प्रेमके बारेमें हम पहिले कह चुके हैं; किंतु अगस्तिन्का प्रेम अगस्तिन् तक ही रह गया। उसके बाद यद्यपि ईसाई-धर्म यूरोपमें बड़े जोरसे फैला; किन्तु ईसाई साधु या तो लोगोंको अपनी तोतारटनपर विश्वास करते, मठोंको दान-पुण्य करनेका उपदेश देते, और छोटे-बड़े महन्त बन मौज लूट रहे थे; अथवा कोई-कोई सब छोड़ एकान्तवासी बन ध्यान-भक्तिमें लगे हुए थे—विद्याका दीपक एक तरहसे बुझ चुका था।

§ १. स्कोलास्तिक

आठवीं सदीमें जब शार्लमान (=चार्लस) यूरोपका महान् राजा हुआ तो उसने यह हालत देखी। साथ ही उसने यह खतरा भी देखा कि बाहरसे देख-सुनकर आये लोगोंके द्वारा धर्मपर संदेहकी दृष्टि डालनेकी ओर प्रवृत्ति भी चुपके-चुपके बढ़ रही है। शार्लमानने इसके प्रतीकारके लिए मूर्ख-उजड्ड साधुओंसे भरे ईसाई-मठोंमें पढ़े-लिखे साधुओंको बैठा बच्चोंकी शिक्षाका प्रबंध किया, और नये-नये मठ भी कायम किये। इन पाठशालाओंमें सिर्फ धर्म हीकी शिक्षा नहीं दी जाती थी, बल्कि, ज्यामिति, अंकगणित, ज्योतिष, संगीत, साहित्य, व्याकरण, तर्क—इन "सात उदार कलाओं"की भी पढ़ाई होती थी। बढ़ते हुए बुद्धिवादको कुंठित कर धर्मका अनुसरण करनेके ही लिए वहाँ तर्ककी पढ़ाई होती थी। शार्लमानका यह प्रयत्न उसी वक्त हो रहा था जब कि भारतके नालंदाकी कीर्ति सारी दुनियामें

फैली हुई थी, और उसमें भी शार्लमानकी भाँति ही राजाओं और सामन्तोंने दिल खोलकर गाँव और धन दे रहे थे। नालंदाके अतिरिक्त और भी विद्यापीठ तथा "गुरुकुल" थे जिनमें विद्या, विशेषकर दर्शनकी चर्चा होती थी। हमारे यहाँ हीकी तरह शार्लमान द्वारा स्थापित विद्यापीठोंमें भी ग्रंथोंको कंठस्थ तथा शास्त्रार्थ करना—विद्याध्ययनका मुख्य अंग था। यहाँ यह कहनेकी ज़रूरत नहीं कि भारतके इतने बड़े शिक्षा-प्रयत्न क्यों निष्फल हुए, और वह क्यों फिर अंधकारकी कालरात्रिमें चला गया—वस्तुतः भारतमें उस वक़्त भी शिक्षाको सार्वजनिक करनेका प्रयत्न नहीं हुआ और न बाद ही, विद्या-प्रचार थोड़ेसे लोगों—शासकों और धर्माचार्यों—में ही सीमित रहा।

शार्लमानके मरनेके बाद यद्यपि उसके स्थापित मठों, विद्यापीठोंमें शिथिलता आ गई, तो भी ईसाई यूरोपकी छातीपर—स्पेनमें—इस्लाम काला साँप बनकर लोट रहा था, वह सिर्फ़ तलवारके बल पर ही अपने प्रभुत्वका विस्तार नहीं कर रहा था, बल्कि पुराने यूनान और पूरबके पुराने ज्ञान-भंडारको अपनी देनके साथ युरोपके ज्ञान-पिपासुओंमें वितरित कर रहा था। ऐसी अवस्थामें ईसाई-धर्म अच्छी तरह समझता था कि उसकी रक्षा तभी हो सकती है जब कि वह भी अपनी मददके लिए विद्याके हथियारको अपनावे।

शार्लमानके इन मठीय विद्यालयोंको स्कोल (=स्कूल, पीठ) कहा जाता था, और इनमें धर्म और दर्शन पढ़ानेवाले अध्यापकोंको **स्कोलास्तिक आचार्य**[1] कहा जाता था। पीछे धर्मकी रक्षाके समर्थकके तौरपर जिस मिश्रित दर्शन (वाद-शास्त्र)को उन्होंने विकसित किया, उसका नाम भी स्कोलास्तिक दर्शन पड़ गया। इस वाद-दर्शनका विकास ईसाई धर्माचार्यों-के उस प्रयत्नके असफल होनेका पक्का प्रमाण था जो कि बुद्धिवाद और दर्शनकी ओर बढ़ती हुई रुचिको दबानेके लिए वह पशुबलसे गला घोटकर

---

[1] Doctors Scholastic.

कर रहे थे। इस नये प्रयत्नसे उन्हें इतनी आशातीत सफलता हुई कि जिस समय (बारहवीं सदीके अन्तमें) नालंदा, उडन्तपुरी, विक्रमशिला, जगत्तला आदिके महान् विद्यापीठ भारतमें आगकी नज़र किये जा रहे थे, उसी समय यूरोपमें आक्सफोर्ड, केम्ब्रिज, पेरिस, सोरबोन्, बोलोना, सलेर्नो आदिमें नये मठीय विश्वविद्यालय क़ायम किये जा रहे थे।

स्कोलास्तिक विद्वानोंमें जान स्काट्स एरिगेना (८१०-७७ ई०), सन्त अन्से(ल्)म् (१०६३-११०९ ई०), रोसेलिन्[1] (१०५१-११२१ ई०) अबेलार्द (१०७९-११४२ ई०) ज्यादा प्रसिद्ध हैं।

१. जान स्काट्स एरिगेना[2] (८१०-७७ ई०)

एरिगेना इंगलैण्डमें पैदा हुआ था और स्कोलोंके प्रयत्नके पहिले फलोंमें था। उसे अरस्तूका वस्तुवादी दर्शन पसन्द था। उस वक़्त यूनानी दार्शनिकोंके ग्रंथ सिर्फ़ एसियाई भाषाओंमें ही मिलते थे, लेकिन एरिगेना अरबी भाषासे बिलकुल अनभिज्ञ था। संभव है सुरियानी भाषा पढ़ने या सुरियानी ईसाई विद्वानोंकी संगतिका उसे अवसर मिला हो।

एरिगेनाके मुख्य सिद्धान्त थे, अद्वैत विज्ञानवाद और जगत्की अनादिता। यह दोनों ही सिद्धान्त ईसाई-धर्मके विरुद्ध थे, इसे यहाँ बतलानेकी आवश्यकता नहीं। एरिगेना अपनी पुस्तक "जगत्की वास्तविकता"में अपने सिद्धान्तके बारेमें लिखता है—"जगत्के अस्तित्वमें आनेसे पहिले सभी चीज़ें **पूर्ण विज्ञान**के भीतर मौजूद थीं, जहाँसे निकल-निकलकर उन्होंने अलग-अलग रूप धारण किये लेकिन जब ये रूप नष्ट हो जायेंगे तो वे फिर उसी **पूर्ण विज्ञान**में जाकर मिल जायेंगी, जहाँसे कि वह निकली थीं। इसमें संदेह नहीं यह वसुबंधु (४०० ई०) की "विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि" (त्रिशंतिका) की इस कारिकाका भावार्थ है—

("आलय विज्ञान रूपी समुद्रसे) वीची तरंगकी तरह उन (जगत्की

---

[1] Roscellinus. [2] जान अर्पचीना।

चीज़ों) की उत्पत्ति कही गई है।"[१]

एरिगेनाका **पूर्ण-विज्ञान** योगाचार (विज्ञानवाद) का **आलय-विज्ञान** है, जिसमें क्षणिकताके अटल नियमके अनुसार नाश-उत्पाद वीची-तरंगकी तरह होता रहता है। एरिगेनासे पहिले यह सिद्धान्त यूरोपकेलिए अज्ञात था। हमने देखा है, पीछे रोश्दने भी इसी विज्ञानवादको अपनी व्याख्याके साथ लिया है। धर्मांधता-युगके दूसरे दार्शनिकोंकी भाँति एरिगेना भी धर्म और दर्शनका समन्वय करना चाहता था।

२. अमोरी और दाविद

एरिगेनाके विचार-बीज पश्चिमी यूरोपके मस्तिष्कमें पड़ जरूर गये, किन्तु उनका असर जल्दी दिखाई नहीं दिया। दसवीं सदीमें अमोरी और उसका शागिर्द दाविद दे-देनिन्तो प्रसिद्ध दार्शनिक हुए। अमोरीके सिद्धान्त जिब्रोल (१०२१-७० ई०) से मिलते हैं जो कि अभी तक पैदा न हुआ था। दाविद जगत्की उत्पत्ति मूल हेवला[२] (=प्रकृति)से मानता है। हेवला स्वयं शकल-सूरतसे रहित है, यह एरिगेनाके पूर्ण विज्ञानका ही शब्दान्तरसे व्याख्यान है, यद्यपि मूल प्रकृतिके रूपमें वह वाह्यार्थवाद—प्राकृतिक(=वास्तविक) दुनियाके बहुत करीब आ जाता है।

३. रोसेलिन् (१०५१-११२१ ई०)

दाविद और अमोरीके दर्शनने वाह्यार्थवाद (=प्राकृतिक जगत्की वास्तविकता)की ओर कदम बढ़ाया था। स्कोलास्तिक डाक्टर रोसेलिन्ने उसके विरुद्ध **नाम** (=अ-रूप) **वाद**[३] पर जोर दिया और कहा कि एक प्रकारकी सभी व्यक्तियोंमें जो समानताएं (=सामान्य) पाई जाती हैं, उनका अस्तित्व उन व्यक्तियोंसे बाहर नहीं है।

---

[१] **"वीची-तरंग-न्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्त्तिता।"—त्रिंशिका (वसुबंधु)**
[२] Hyla. [३] Nominalism.

§ २. इस्लामिक दर्शन और ईसाई चर्च

रोश्दके ग्रंथोंका पठन-पाठन तथा पीछे उनके अनुवादोंकी प्रगतिके बारेमें हम बतला चुके हैं। यह हो नहीं सकता था कि एरिगेना, अमोरी आदिके प्रयत्नके कारण पहिलेहीसे कान खड़े किये ईसाई धर्मके क्षेत्रपर उसका असर न पड़ता।

१. फ़्रांसिस्कन संप्रदाय

रोश्दके दर्शनका सबसे ज़्यादा प्रभाव ईसाइयोंके फ़्रांसिस्कन संप्रदायपर पड़ा। इस संप्रदायके संस्थापक—उस वक़्त काफ़िर और पीछे सन्त—फ़्रांसिस्ने तेरहवीं सदीमें विलासितामें सरतक डूबे पोप और उसके महन्तोंके विरुद्ध बग़ावतका झंडा खड़ा किया था। फ़्रांसिस्का जन्म असिसी (इताली)में १२१९ ई० में हुआ था। उसने विद्या पढ़नेकेलिए तीव्र प्रतिभा ही नहीं पाई थी, बल्कि आसपासके दीन-हीनोंकी व्यथा समझने लायक हृदय भी पाया था। "सादा आचार और उच्च विचार"—उसका आदर्श था। महन्तोंकी शान-शौकत और दुराचारसे वह समझ रहा था कि ईसाई-धर्म रसातलको जानेवाला है; इसलिए उसने गरीबीकी जिन्दगी बितानेवाले शिक्षित साधुओंका एक गिरोह बनाया जिसे ही पीछे फ़्रांसिस्कन संप्रदाय कहा जाने लगा। फ़्रांसिस् जैसे विद्वान्को ऐसी गरीबीकी जिन्दगी बिताते देख लोगोंका उधर आकर्षित होना स्वाभाविक ही था—खासकर उस वक्तके विचार-संघर्षके समयमें—और थोड़े ही समयमें फ़्रांसिसके साथियोंकी संख्या पाँच हज़ार तक पहुँच गई।

(१) **अलेकज़ेंडर हेस**—अलेकज़ेंडर हेस (तेरहवीं सदी) फ़्रांसिस्कन संप्रदायका साधु था। इसने पेरिसमें शिक्षा पाई थी। हेसने अरस्तूके अति-भौतिक-शास्त्र[1]पर विवरण लिखा था। अपने विवरणमें उसने सीना और

---

[1] Metaphysics.

ग़ज़ालीके मतोंको बड़े सम्मानके साथ उद्धृत किया है; किन्तु उसी संबंधके रोश्द-के विचारोंके उद्धृत नहीं करनेसे पता लगता है कि वह उनसे परिचित न था।

(२) राजर बैकन (१२१४-९२ ई०)—(क) जीवनी—आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय फ़्रांसिस्कन संप्रदायका गढ़ था, और वहाँ रोश्दके दर्शनका बहुत सम्मान था। राजर बैकन नालंदा-विक्रमशिलाके ध्वंस (१२०० ई०) के चंद ही सालोंके बाद इंगलैण्डमें पैदा हुआ था। उसने पहिले आक्सफ़ोर्ड में शिक्षा पाई थी; पीछे पेरिसमें जाकर डाक्टरकी उपाधि प्राप्त की। वह लातीनी तो जानता ही था, साथ ही अरबी और यूनानीसे भी परिचित था। इन भाषाओंका जानना—ख़ासकर अरबीका जानना—उस वक़्तके विद्याभ्यासीकेलिए बहुत ज़रूरी था। पेरिससे लौटनेपर वह साधु (फ़्रांसिस्कन) बना। यद्यपि उसके विचार मध्यकालीनतासे मुक्त न थे, तो भी उसने वेध, प्रयोग, तथा परीक्षणके तरीकोंपर ज़्यादा जोर दिया, पुस्तकों तथा शब्दप्रमाणपर निर्भर रहने को ज्ञानकेलिए बाधक बतलाया। वह स्वयं यंत्र और रसायन शास्त्रकी खोजमें समय लगाता था, जिसके लिए स्वार्थी पादरियोंने लोगोंमें मशहूर कर दिया कि वह जादूगर है। जादूगरीके अपराधमें उस वक़्त यूरोपमें लाखों स्त्री-पुरुष जलाये जाते थे। खैर, राजर उससे तो बच गया; किन्तु उसके स्वतंत्र विचारोंको देखकर पादरी जल बहुत रहे थे, और जब इसकी ख़बर रोममें पोपको पहुँची, तो उसने भी इसके बारेमें कुछ करनेकी कोशिश की, किन्तु वह तबतक सफल नहीं हुआ जबतक कि १२७८ ई० में फ़्रांसिस्कन संप्रदायका एक महंथ जेरोम डी-एसल् राजरका दुश्मन नहीं बन गया। राजर बैकन नास्तिकता और जादूगरीके अपराधमें जेलमें डाल दिया गया। उसके दोस्तोंकी कोशिशसे वह जेलसे मुक्त हुआ और १२९२ ई० में आक्सफोर्डमें मरा। पादरियोंने उसकी पुस्तकोंको आगमें जला दिया, इसलिए रॉजर बैकनकी कृतियोंसे लोगोंको ज़्यादा फ़ायदा नहीं हो सका।

(ख) दार्शनिक विचार—सीना और रोश्दके दार्शनिक विचारोंसे रॉजर बहुत प्रभावित था। एक जगह वह लिखता है—

"इब्न-सीना पहला आदमी था, जिसने अरस्तूके दर्शनको दुनियामें प्रकाशित किया; लेकिन सबसे बड़ा दार्शनिक इब्न-रोश्द है, जो इब्न-सीनासे अकसर मतभेद प्रकट करता है। इब्न-रोश्दका दर्शन एक समय तक उपेक्षित रहा; किन्तु अब (तेरहवीं सदीमें) दुनियाके करीब-करीब सारे दार्शनिक उसका लोहा मानते हैं। कारण यही है, कि अरस्तूके दर्शनकी उसने ठीक व्याख्या की है। यद्यपि कहीं-कहीं वह उसके विचारोंपर कटाक्ष भी करता है; किन्तु सिद्धान्ततः उसके विचारोंकी सत्यता उसे स्वीकृत है।"

राजर दूसरे फ़्रांसिस्कनोंकी भाँति रोश्दका समर्थक था; और वह कर्त्ता-विज्ञान[1]को जीवसे अलग एक स्वतंत्र सत्ता मानता, तथा उसीका नाम ईश्वर बतलाता था[2]—

"कर्त्ता-विज्ञान एक रूपमें ईश्वर है, और एक रूपमें फरिश्तों (=देवात्माओं) के तौर पर। (दोमिनिकन संप्रदायवाले कहते हैं, कि) कर्त्ता-विज्ञान नातिक-विज्ञान[3] (=जीव) की एक अवस्थाका नाम है; लेकिन यह ख्याल ठीक नहीं जान पड़ता। मनुष्यका नातिक-विज्ञान स्वयं ज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ है, जबतक कि दैवी साधन उसके सहायक न हों। और वह सहायक किस तरह होते हैं? कर्त्ता-विज्ञानके द्वारा, जो कि मनुष्य तथा ईश्वरके बीच संबंध पैदा करानेवाला, और मनुष्यसे अलग स्वतः सत्तावान् एक अ-भौतिक द्रव्य है।

(३) दन् स्कातस्—राजर बेकनके बाद अरबी दर्शनका समर्थक दन् स्कातस् था। पहिले स्कातस् अक्विनाका अनुयायी था, किन्तु पीछे अक्विनाके इस बातसे असहमत हो गया, कि ईश्वरका मनुष्यके कर्मोंपर कोई अधिकार नहीं। अक्विना और स्कात्सके इस विवादकी प्रतिध्वनि सारे

---

[1] **अक़्ल-फ़आल** (Creative Reason)
[2] Ibn Roshd (Renan), pp. 154, 155
[3] Nautic nouse.

स्कोलास्तिक दर्शनमें मिलती है। तामस्के विरुद्ध स्कातस्की यह भी राय थी, कि मूलभूत (=प्रकृति) अनादि है, *आकृति*के उत्पन्न होनेसे प्रकृतिका उत्पन्न होना ज़रूरी नहीं है, क्योंकि प्रकृति आकृतिके बिना भी पाई जाती है। ईश्वरका सृष्टिकरनेका यही मतलब है, कि प्रकृतिको आकृतिकी पोशाक पहना दे। स्कातस् रोश्दके अद्वैत-विज्ञानको माननेसे ही इन्कार नहीं करता था; बल्कि इस सिद्धान्तके प्रारंभको मनुष्यताकी सीमाके भीतर रखना नहीं चाहता था। स्कात्सने ही पहिले-पहिल रोश्दको उसके अद्वैतवादके कारण घोर नास्तिक घोषित किया, जिसको लेकर पीछे यूरोपमें रोश्दकी पैगंबरीके अन्दर नास्तिकोंका गिरोह क़ायम हो गया।

२–दोमिनिकन्-सम्प्रदाय

जिस तरह ईसाइयोंका फ़्रांसिस्कन सम्प्रदाय रोश्द और इस्लामिक दर्शनका ज़बर्दस्त समर्थक था, उसी तरह दोमिनिकन् सम्प्रदाय उसका ज़बर्दस्त विरोधी था। इस सम्प्रदायका संस्थापक सन्त दोमिनिक ११७० में पैदा हुआ था, और १२२१ ई० में मरा—गोया वह भारतके अन्तिम बौद्ध संघराज तथा विक्रंशिलाके प्रधानाचार्य शाक्यश्रीभद्र (११२७-१२२५ ई०) का समकालीन था। फ़्रांसिस्कन सम्प्रदाय रोश्दके दर्शनका ज़बर्दस्त विरोधी था, यह बतला चुके हैं।

(१) अल्बर्तस् मग्नस् (११९३-१२८० ई०)—अल्बर्तस् मग्नस् उसी समय पैदा हुआ था, जब कि दिल्लीपर अभी हालमें तुर्की झंडा फहराने लगा था। वह उसी साल (१२२१ ई०) दोमिनिकन संप्रदायमें साधु बना, जिस साल कि सन्त दोमिनिक मरा था; और फिर बोलोन् (फ़्रांस) विश्वविद्यालयमें प्रोफ़ेसर हुआ। अरबी दार्शनिकोंके खंडनमें इसने कितनी ही पुस्तकें लिखी थीं, तो भी वह इब्न-सीनाका प्रशंसक, और रोश्दका दूषक था। रोश्दका विरोधी तथा अरस्तूका ज़बर्दस्त समर्थक ताम्स अक्विना इसीका शिष्य था। अल्बर्तस्ने स्वयं भी रॉजर बेकन और दन स्कातस्के रोश्द-समर्थक विचारोंका खंडन किया, तो भी

वह ज़्यादा एकान्तप्रिय था; और उसके कामको उसके शिष्य अक्विनाने पूरा किया।

(२) तामस् अक्विना (१२२५-७४ ई०) (क) जीवनी—तामस् अक्विना इतलीके एक पुराने सामन्त वंशमें १२२५ ई० में (जिस साल कि नेपाल, तिब्बत, आदिकी खाक छानकर अपनी जन्मभूमि कश्मीरमें शाक्य श्रीभद्रने शरीर छोड़ा) पैदा हुआ था। उसकी शिक्षा केसिनो और नेपल्स-में हुई, मगर अन्तमें वह अल्वर्तस् मग्नस्की विद्याकी प्रसिद्धि सुन, बोलोञ् विश्वविद्यालयमें अल्वर्तस्के शिष्योंमें सम्मिलित हो गया। विद्या समाप्त करनेके बाद पेरिस विश्वविद्यालयमें धर्म, दर्शन और तर्कशास्त्रका प्रोफेसर नियुक्त हुआ। १२७२ ई० में जब पोप ग्रेगरी दशमने रोमन[१] और यूनानी[२] चर्चमें मेल करानेके लिए एक परिषद् बुलाई थी, तो तामस् अक्विनाने एक पुस्तक लिखकर परिषद्के सामने रखी थी, जिसमें यूनानी चर्चके दोष बतलाये थे। मेल तो नहीं हो सका, किन्तु इस पुस्तकके कारण अक्विनाका नाम बहुत मशहूर होगया। परिषद्के दो वर्ष बाद (१२७४ ई०) अक्विनाका देहान्त हो गया।

(ख) दार्शनिक विचार—अक्विना अपने समयमें रोश्द-विरोधी दोमिनिकन विचारकोंका अगुआ था। धर्ममें वह कितना कट्टर था, यह तो इसीसे मालूम है, कि ग़ज़ालीकी भाँति विशालहृदयता दिखलाते हुए सारे ईसाई सम्प्रदायोंको मिलानेके काममें पोप ग्रेगरीके प्रयत्नके असफल होनेसे जिसे सबसे खुशी हुई, वह अक्विना था। फ़ांसिस्कन यद्यपि रोश्दके दर्शनके समर्थक थे, किन्तु इसलिए नहीं कि वह प्रगति-शील विचारोंका वाहक है, बल्कि इसलिए कि वह वस्तुवादसे ज्यादा अद्वैत-विज्ञानवाद[३]का समर्थक है। इसके विरुद्ध रोश्दका विरोधी

---

[१] रोमन कैथलिक (रोमवाले उदारवादी)

[२] ग्रीक अर्थोडक्स (यूनानवाले सनातनी), जिसके अनुयायी पूर्वी यूरोपके स्लाव (रूस आदि) देशोंमें ज्यादा रहे हैं। [३] वहदत्-अक़्ल।

अक्विना अपने गुरु अल्बर्तस्‌की भाँति वस्तुवादका समर्थक था। अक्विनाका गुरु अल्बर्तस् मग्नस् पहिला आदमी था, जिसने अरस्तूके वस्तुवादी दर्शनकी ओर अपना ध्यान आकर्षित किया। मध्यकालकी गाढ़ निद्रासे यूरोपको जगानेमें चंगेज़के हमलेने मदद पहुँचाई। चंगेज़की तलवारके साथ बारूद, कागज, कुतुबनुमा आदि व्यवहारकी बड़ी सहायक चीजोंने पहुँचकर भी इस प्रत्यक्ष दुनियाका मूल्य बढ़ा दिया था, इस प्रकार अक्विना का इस ओर झुकाव सिर्फ आकस्मिक घटना न थी।

जान लेविस् अक्विनाके बारेमें लिखता है[1]—"उसने बिखरे हुए भिन्न-भिन्न विचारोंको एकत्रित कर एक सम्बद्ध पूर्ण शरीरके रूपमें संगठित किया, और फिरसे आविष्कृत और प्रतिष्ठापित हुए अरस्तूके बौद्धिक दर्शनसे जोड़ दिया। (इस प्रकार) उसने जो सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक रचना की, वह चार सौ वर्षों तक युरोपीय सभ्यताका आधार रही, और तीन सौ साल तक यूरोपके अधिक भाग तथा लातीनी अमेरिकामें एक ज़बर्दस्त—यद्यपि पतनोन्मुख—शक्ति बनी रही।

"(अक्विना द्वारा किया गया) ईसाई दर्शनका नया संस्करण अधिक सजीव, अधिक आशावादी, अधिक दुनियावी, अधिक रचनात्मक था। ....यह अरस्तूका पुनरुज्जीवन था।"

अक्विना और मग्नस्‌की नई विचारधाराके प्रवाहित करनेमें कम कठिनाई नहीं हुई। पुराने ढर्रेके ईसाई विद्वान् अरस्तूके वस्तुवादी दर्शनका इस प्रकार स्वागत धर्मके लिए खतरेकी चीज समझते थे। लेकिन भौतिक परिस्थिति नये विचारोंके अनुकूल थी, इसलिए अक्विनाकी जीत हुई। अक्विनाका प्रधान ग्रंथ **सुम्मा थेवलोगी**[2] एक विश्वकोष है। अक्विनाका दर्शन अब भी रोमन कैथलिक सम्प्रदायका सर्वमान्य दर्शन है।

(a) **मन**—अक्विना सारे ज्ञान्‌की बुनियाद तजर्बे (=अनुभव)को

---

[1] Introduction to Philosophy by John Lewis, p. 35.

[2] Summa Theologies=**ब्रह्मविद्या-संक्षेप।**

बतलाता था—"सभी चीज़ें जो बुद्धिमें हैं, वह (कभी) इन्द्रियोंमें थीं।" मन इन्द्रियोंके पाँच रोशनदानोंसे रोशन है। कोई चीज़ स्वयं बुरी नहीं है, बल्कि चीजोंके आधार बुरे होते हैं। इस प्रकार अक्विना इंद्रियों, शरीरकी वेदनाओं, और साधारण मनुष्यके अनुभवोंको तुच्छ या हेय नहीं, बल्कि बड़े महत्त्वकी चीज समझता था।

(b) **शरीर**—मनुष्यको तभी हम जान सकते हैं जब कि हम सारे मनुष्यत्वको लेकर विचार करें। बिना शरीरके मनुष्य, मनुष्य नहीं है, उसी तरह जैसे कि मनके बिना वह मनुष्य नहीं। मनुष्य मनुष्य तभी है, जब मन और शरीरका योग हो।

भौतिक तत्त्व अ-मूर्त्त, कच्चे पदार्थ हैं जिनसे कि सारी चीजें बनी हैं। वही भौतिक तत्व भिन्न-भिन्न **वास्तविकताओं**के रूपमें संगठित किये जा सकते हैं, जीवन-चिन्तनवाला मानव इन्हीं वास्तविकताओंमेंसे एक है। भौतिक तत्वोंकी विशेषता यह है कि वह नये परिवर्तन, नये संगठन, नये गुणोंको अस्तित्वमें ला सकते हैं। अक्विना यहाँ अनजाने मार्क्सीय भौतिकवादकी ओर बहक गया है। यदि गुणात्मक परिवर्तन हो सकता है, तो भौतिक तत्व चेतनाको भी पैदा कर सकते हैं।

मनुष्यको अपना या अपनी चेतनाका ज्ञान पीछे होता है। वह क्या है, इसे भी पीछे जानता है। सबसे पहिले मनुष्य (अपनी इन्द्रियोंसे) वस्तुको देखता है, और वह जानता है कि मैं "देख रहा हूँ," जिसका अर्थ है कि वह कोई चीज देख रहा है। यहाँ "है" मौजूद है; और मन बाहरी वस्तुके सिर्फ संस्कारको नहीं बल्कि उसकी सत्ताको पूरी तौरपर जानता है। अपने या अपनी चेतनाके बारेमें मनुष्यका ज्ञान इसके बाद और इसके आधार पर होता है, इसलिए बाहरी वस्तुओंसे इन्कार करना ज्ञानके आधारसे इन्कार करना है।

(c) **द्वैतवाद**—अक्विनाकी दुनिया दो भागोंमें विभक्त है—(१) रोज़-बरोज़ हम जिस जगत्को इन्द्रियोंसे देख रहे हैं; (२) और उसके भीतर बसनेवाला **मूलरूप** (विज्ञान)। शुद्धतम और सर्वश्रेष्ठ **विज्ञान** ईश्वर

है—यही अरस्तूका दर्शन है। ईश्वरके अतिरिक्त कितने ही विशेष विज्ञान हैं, जिन्हें जीव कहा जाता है, और जो देव (=फरिश्ते), मानुष, आदिकी आत्माओंके रूपमें छोटे-बड़े दर्जोंमें बँटे हैं। इन विज्ञानोंमें देवों, मनुष्योंके अतिरिक्त वह आत्मायें भी शामिल हैं, जो नक्षत्रोंका संचालन करती हैं।

अक्विनाकी सबसे बड़ी कोशिश थी, धर्म और दर्शनके समन्वय करनेकी। उसका कहना था, दर्शन और धर्म दोनोंके लिए अपना-अपना अलग कार्यक्षेत्र है, उन्हें एक दूसरेके काममें बाधा नहीं डालनी चाहिए। अगस्तिन् (रोश्द भी) सारे ज्ञानको भगवानके प्रकाशकी देन मानता था, किन्तु अक्विना इन्द्रिय-प्रत्यक्षके महत्त्वको स्वीकार करता था।

अक्विना नवीन अरस्तू-दर्शनके हिमायती दोमिनिकन साधु-सम्प्रदायसे संबंध रखता था। फ़्रांसिस्कन साधु उसका विरोध करते थे। उनके विद्वान् दन स्कातस् (१२६५-१३०८) और ओकम्वासी विलियम (मृ० १३४९ ई०) इस बातके विरोधी थे कि धर्म और दर्शनमें समन्वय किया जाये। दर्शन और पदार्थ ज्ञानके लिए एक बात सच्ची हो सकती है, किन्तु वही बात धर्मके अनुसार असत्य हो सकती है। सत्यका साक्षात्कार इन्द्रियों और अनुभवसे नहीं, बल्कि आत्मासे होता है। शिव (=अच्छा) सत्यसे ऊपर है, और शिव वही है, जिसके लिए भगवान्का वैसा आदेश है। मनुष्यका कर्तव्य है, भगवान्की आज्ञाका पालन करना। बुरे समझे जानेवाले कर्म भी अच्छे हो जाते हैं, यदि वह भगवान्की सेवाके लिए हों। चर्च या धर्म-सम्प्रदायके द्वारा ही हमें भगवान्का आदेश मिलता है, इसलिए धर्मके हिमायतियोंका कहना था, कि चर्च और उसका अध्यक्ष पोप पृथ्वीपर वही अधिकार रखते हैं, जो कि भगवान् ईसामसीह विश्वपर।

(३) रेमोंद मार्तिनी—अक्विनाके बाद रेमोंद मार्तिनी दोमिनिकनोंकी ओरसे विज्ञवाद और रोश्दके विरोधका आरंभ हुआ। इसने अपने काममें ग़ज़ालीकी पुस्तकोंसे मदद ली; यद्यपि ग़ज़ाली स्वयं सूफी अद्वैतवादी था, किन्तु उसके चूँचूँके मुरब्बेमें क्या नहीं था? मार्तिनी इस अन्दाज़में सचके बहुत करीब था, कि रोश्दने अपने अद्वैत विज्ञान

(वहदत्-अक्ल)-वादको अरस्तूसे नहीं अफलातूँसे लिया है।

(४) **रेमोंद लिली**—(१२२४-१३१५ ई०)—इस्लामी जहादोंके जवाबमें प्रारंभ हुई ईसाई जहादोंकी बात हम कह चुके हैं। बारहवीं-तेरहवीं सदियोंमें जहाँ बाहरी दुनियामें ये जहाद चल रहे थे, वहाँ भीतरी दुनियामें भी विचारात्मक जहाद चल रहे थे, जिसे कि लाखों स्त्री-पुरुषोंको नास्तिक और जादूगर होनेके इल्ज़ाममें जलाये जानेके रूपमें देखते हैं। [हमें इसके लिए युरोपवालोंको ताना देनेका हक नहीं है, क्योंकि वाण (६०० ई०) की तीव्र आलोचनासे लेकर बेंटिक (१८३५ ई०)के सती कानून तकमें धर्मके नामपर पागल करके जिन्दा जलाई जानेवाली स्त्रियोंकी तादाद गिनी जाये तो वह उससे कई गुना ज़्यादा होती है]—कहीं रॉजर बैकनकी पुस्तकोंके जलाये जानेके रूपमें और कहीं दोमिनिकन और फ़्रांसिस्कनके वाद-विवादके रूपमें। रेमोंद लिली ऐसे ही समयमें इतालीके एक समृद्ध परिवारमें पैदा हुआ था। पहिले तो उसका जीवन बहुत विलासितापूर्ण रहा, किन्तु यकायक उसने अपनेको सुधारा, और उसे धुन सवार हो गई, कि इस्लामको दुनियासे नेस्तनाबूद करना चाहिए। वह युरोपके सारे ईसाइयोंको सलीबी लड़ाइयोंमें शामिल देखना चाहता था। इसके लिए उसने १२८७ ई०में पोप होनोरियस्के दरबारमें पहुँचकर अपने विचार रखे—इस्लामको खतम करनेके लिए एक भारी सेना तैयार की जाये, इस्लामी देशोंमें काम करने लायक विद्वानोंको तैयार करनेके लिए विश्वविद्यालय कायम किये जायें, और रोश्दकी पुस्तकोंको धर्म-विरोधी घोषित कर दिया जाये। वहाँ सफल न होनेपर उसने फ़्रांस, इताली, स्विटज़र्लैंड आदिमें इसके लिए दौरा किया। १३११ ई०में ईसाइयोंकी एक बड़ी सभा वीना (आस्ट्रिया)में हुई, वहाँ भी वह पहुँचा; किन्तु वहाँ भी असफल रहा। इसी निराशामें वह १३१५ ई०में मर भी गया। रेमोंद विद्वान् था, उसने रोश्द और दूसरे दार्शनिकोंकी पुस्तकोंको पढ़ा था, और कुछ लिखा भी था, इसलिए उसके इस्लाम-विरोधी विचार-बीज धरतीमें पड़े हुए समयकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

§ ३–इस्लामिक दर्शन और विश्वविद्यालय

१. पेरिस और सोरबोन्

फ़्रांसिस्कन सम्प्रदायका कार्यक्षेत्र अपने गढ़ आक्सफोर्डसे इंग्लैंड भर हीमें सीमित था। पश्चिमी यूरोपमें इस्लामिक दर्शनका प्रचारकेन्द्र पेरिस था। पेरिसमें एक बड़ा सुभीता यह भी था, कि यहाँ स्पेनसे प्रवासित उन यहूदियोंकी एक काफी संख्या रहती थी, जिन्होंने रोश्द तथा दूसरे दार्शनिकोंके ग्रंथोंको अरबीसे अनुवाद करनेमें बहुत काम किया था। रोश्द-दर्शनके समर्थकों और विरोधियोंके यहाँ भी दो गिरोह थे। सोरबोन् विश्वविद्यालय रोश्द-विरोधियोंका गढ़ था, और पास ही पेरिस-विश्वविद्यालय समर्थकोंका। पेरिसके कला (आर्ट)-विभागका प्रधानाध्यापक सीज़र ब्राबॅत (मृ० १२८४ ई०) रोश्दका ज़बर्दस्त हामी था। अपने इन विचारोंके लिए धर्म-विरोधी होनेके अपराधमें उसे जेल भेज दिया गया, और ओर्बीतो[1]के जेलमें उसकी मृत्यु हुई। अब भी पेरिसमें उसकी दी हुई अरबीकी दार्शनिक पुस्तकोंकी काफी संख्या है।

पेरिस विश्वविद्यालयके विरुद्ध सोरबोन् धर्मवादियोंका गढ़ था— और शायद इसीलिए आज भी वह भाग (जो कि अब पेरिस नगरके भीतर आगया है) लातीनी मुहल्ला कहा जाता है। सोरबोन्पर पोपकी विशेष कृपा होनी ही चाहिए, और उसी परिमाणमें पेरिस पर कोप। सोरबोन्-वालोंकी कोशिशसे पोपने पेरिस विश्वविद्यालयके नाम १२१७ ई० में फर्मान निकाला कि ऐसे शास्त्रार्थ न किये जायें, जिनमें फसादका डर हो। वस्तुतः यह फर्मान अरबी दर्शन संबंधी वाद-विवादको रोकनेका एक बहाना मात्र था। पीछेके पोपोंने भी इस तरहके फर्मान जारी करके अरबी दर्शनके अध्ययन-नाध्यापनको ही धर्म-विरुद्ध ठहरा दिया। १२६९ ई० में सोरबोन्वालोंकी

---

[1] Orbieto.

कोशिशसे एक धर्म-परिषद् बुलाई गई, जिसने निम्न सिद्धान्तोंके मानने-वालोंपर नास्तिकताका फतवा दे दिया—

(१) सभी आदमियोंमें एक ही विज्ञान है;
(२) जगत् अनादि है;
(३) मनुष्यका वंश किसी बाबा आदम तक खतम नहीं हो जाता;
(४) जीव शरीरके साथ नष्ट हो जाता है;
(५) ईश्वर व्यक्तियोंका ज्ञान नहीं रखता;
(६) बंदों (=आदमियों)के कर्मपर ईश्वरका कोई अधिकार नहीं;
(७) ईश्वर नश्वर वस्तुको नित्य नहीं बना सकता।

यह सब कुछ होनेपर भी पेरिस-विश्वविद्यालयमें इस्लामिक दर्शनका अध्ययन बंद नहीं हुआ।

२. पेदुआ विश्वविद्यालय

यूरोपमें सिसली द्वीप और स्पेन इस्लामिक शासन-केन्द्र थे, इसलिए इनके ही रास्ते इस्लामिक विचारों (दर्शन)का भी यूरोपमें पहुँचना स्वाभाविक था। सिसली द्वीप इतालीके दक्षिणमें है, यहाँसे ही वे विचार इतालीमें पहुँचे, उनके स्पेनसे फ़्रांस जानेकी बात हो चुकी है। इतालीमें भी पेदुआके विद्यापीठने इस्लामिक दर्शनके अध्ययन द्वारा अपनी कीर्तिको सारे यूरोपमें फैला दिया।—खासकर रोश्दके दर्शनके अध्ययनकेलिए तो यह विश्वविद्यालय सदियों तक प्रसिद्ध रहा। यहाँ रोश्दपर कितने ही विवरण और टीकायें लिखी गईं। तेरहवीं सदीसे रोश्दके दर्शनके अन्तिम आचार्य दे-क्रिमोनी (मृत्यु १६३१ ई०) तक यहाँ इस्लामिक दर्शन पढ़ाया जाता रहा। यहाँके इस्लामिक दर्शनके प्रोफेसरोंमें निम्नका नाम बहुत प्रसिद्ध है—

पीतर-द-बानो
जीन दे-जाँदन
फ़्रा अरबानो

पाल दी-वेनिस्—(मृत्यु १४२९ ई०)
गाइतनो—(मृत्यु १४६५ ई०)
इलियास् मदीजू—(१४७७ ई०)
वेरोना
ज़्राबीला—(१५६४-८९ ई०)
पंदेसियो
सीज़र क्रिमोनी—(मृ० १६३१ ई०)

सोलहवीं सदीमें इब्न-रोश्दकी पुस्तकोंके नये लातीनी अनुवाद हुए, इस काममें पेदुश्राका खास हाथ रहा। इन अनुवादकोंमें पेदुश्राका प्रोफ़ेसर वेरोना भी था, जिसने कुछ पुस्तकोंका अनुवाद सीधे यूनानीसे किया था। पंदेसियोके व्याख्यानोंके कितने ही पुराने नोट अब भी पेदुश्राके पुस्तकालयमें मौजूद हैं।

[क्रिमोनी]—ज़्राबीलाका शागिर्द सीज़र क्रिमोनी इस्लामिक दर्शनका अन्तिम ही नहीं, बल्कि वह बहुत योग्य प्रोफ़ेसर भी था। इसके लेक्चरोंके भी कितने ही नोट उत्तरी इतालीके अनेक पुस्तकालयोंमें मिलते हैं। ज़्राबीलाकी भाँति इसका भी मत था, कि ग्रह नक्षत्रोंकी गतिके सिवा ईश्वरके अस्तित्वका कोई सबूत नहीं। रोश्दकी भाँति यह भी मानता था, कि ईश्वरको सिर्फ़ अपना ज्ञान है, उसे व्यक्तियोंका ज्ञान नहीं है। मनुष्यमें सोचनेकी शक्ति कर्त्ता-विज्ञानसे आती है। यह ऐसे विचार थे, जिन्हें ईसाई-धर्म नास्तिकता कहता था। क्रिमोनी उनसे बचनेकी कोशिश कैसे करता था, इसका उदाहरण लीजिए—[१] "इस पुस्तकमें मैं यह कहना नहीं चाहता, कि जीवके बारेमें हमारा क्या विश्वास होना चाहिए। यहाँ मैं सिर्फ़ यह बतलाना चाहता हूँ, कि जीवके बारेमें अरस्तूके क्या विचार थे। यह स्मरण रहे कि दर्शनकी आलोचना मेरा काम नहीं है, इस कामको सन्त तामस् आदिने अच्छी तरह पूरा किया है।" लेकिन इसपर भी

---

[१] रोश्दके "किताबुन्'नफ्स"की व्याख्याकी भूमिका।

३ जूलाई १६१६ ई० को उसके नाम पेदुआके सरकारी अफसरका हुक्म-नामा आया—"लेतरन कौंसिल सारे प्रोफ़ेसरोंको सजग करती है, कि दर्शनके जो सिद्धान्त धर्मके खिलाफ़ हैं, (पढ़ाते वक़्त) उनका खंडन भी वह करते जायें; और जब किसी विषयका उद्धरण देने लगें तो इस बातका ख्याल रखें, कि विद्यार्थियोंपर उसका बुरा असर न पड़े। चूँकि आप इस आज्ञाका ख्याल नहीं रखते, इसलिए मेरा फ़र्ज है, कि मैं बार-बार आपका ध्यान इधर आकर्षित कराता रहूँ।" क्रिमोनीने इसके उत्तरमें एक लंबा पत्र लिखा—"मुझे विश्वविद्यालयकी ओरसे सिर्फ़ इसलिए वेतन मिलता है, कि मैं अरस्तूके दर्शनकी शिक्षा दूँ। यदि विश्वविद्यालय इस कामकी जगह कोई दूसरा काम लेना चाहता है, तो मैं त्यागपत्र देनेके लिए तैयार हूँ, वह स्वतंत्र है किसी दूसरेको उस कामपर लगाले। मैं तो जबतक प्रोफ़ेसरके पदपर रहूँगा, अपने पद-कर्त्तव्यके विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकता।"

क्रिमोनीकी मृत्यु (१६३१ ई०) के साथ इस्लामिक दर्शनका ही पठन-पाठन खतम नहीं होता, बल्कि पुरानी दुनिया ही बदल जाती है। क्रिमोनीके बाद लसीतो (मृत्यु १६५६ ई०) प्रोफ़ेसर हुआ, जिसपर नवीन दर्शनका प्रभाव दिखाई देने लगता है। उसके बाद ब्रेगार्द प्राचीन यूनानी दर्शनकी पढ़ाई करता है। १७०० ई० में फार्देलाके साथ पेदुआमें पुराना सिल-सिला टूट जाता है, और वहाँ प्राचीन दर्शनकी जगह दे-कार्तका दर्शन पाठ्य-पुस्तकोंमें दाखिल होता है।

§ ४. इस्लामिक दर्शनका यूरोपमें अन्त

दन स्कातस्ने किस तरह रोश्दकी शिक्षाको मनुष्यतासे गिरी हुई बत-लाया, यह हम कह चुके हैं। इसकी वजहसे रोश्द जहाँ धार्मिक क्षेत्रमें बद-नाम हुआ, वहाँ हर तरहकी स्वतंत्रताके चाहनेवाले लोग—खासकर बुद्धि-स्वातंत्र्यवादी—रोश्दके झंडेके नीचे खड़े होने लगे, और रोश्दके नामपर जगह-जगह दल बनने लगे। इन्हीं दलोंमेंसे एक उन लोगोंका था,

जिन्होंने अपना नाम "स्वतंत्रताके पुत्र" रखा था। ये लोग विश्वको ही ईश्वर मानते थे, और विश्वकी चीज़ोंको उसका अंश। ईसाई चर्चके न्यायालयोंसे इनको आगमें जलानेकी सजा होती थी और ये लोग ख़ुशी-ख़ुशी आगमें गिरकर जान दे देते थे। "स्वतंत्रताके पुत्रों" में बहुत सी स्त्रियाँ भी शामिल थीं, उन्होंने भी अग्निपरीक्षा पास की।

पादरी लोग इस अधार्मिकताके ज़िम्मेवार फ़्रेडरिक और इब्नरोश्दको ठहराते थे। तो भी इस विरोधसे रोश्दके दर्शन—अथवा पुराने दर्शन—का कुछ नहीं बिगड़ा।

चौदहवीं सदीमें तुर्कोंने बेज़न्तीनके ईसाई राज्यपर आक्रमण कर अधिकार ज़माना शुरू किया। हर ऐसे युद्ध—राजनीतिक अशांति—में लोगोंका तितर-बितर होना ज़रूरी है। कुस्तुन्तुनिया (आजका इस्तांबूल) का नाम उस वक़्त बेज़न्तीन था, और प्राचीन रोमन सल्तनतके उत्तराधिकारी होनेसे उसका जहाँ सम्मान ज़्यादा था, वहाँ वह विद्या और संस्कृतिका एक बड़ा केन्द्र भी था। ईसाई धर्मके दो सम्प्रदायों—उदार (=कैथलिक) और सनातनी (=आर्थोडाक्स)—में सनातनी चर्चका पेत्रियार्क (=महापितर या धर्मराज) यहीं रहता था। जिस तरह कैथलिक चर्चकी धर्मभाषा लातीनी थी, उसी तरह पूर्वी सनातनी चर्चकी धर्मभाषा यूनानी थी। तुर्कोंके इस आक्रमणके समय वहाँसे भागनेवालोंमें कितने ही यूनानी साहित्यके पंडित भी थे। वे बहुमूल्य प्राचीन यूनानी पुस्तकोंके साथ पूर्वसे भागकर इतालीमें आ बसे। इन पुस्तकोंको देखकर वहाँके पंडितोंकी आँखें खुल गईं; यदि जैसे मानो तिब्बती चीनी अनुवादों-दर-अनुवादोंके सहारे पढ़ते रहनेवाले भारतीय विद्वानोंके हाथमें असंगकी "योगचर्या भूमि"[1], वसुबंधुकी "वादविधि", दिग्नागका "प्रमाणसमुच्चय", धर्मकीर्तिका "प्रमाणवार्त्तिक"[2] और "प्रमाणविनिश्चय" मूल संस्कृतमें मिल

[1] मूल संस्कृत पुस्तक मुझे तिब्बतमें मिली है।

[2] तिब्बत और नेपालमें मिली, और इसे मैंने सम्पादित भी कर दिया है।

१९

जावें। अब लोगोंको क्या जरूरत थी, कि वे मूल यूनानी पुस्तकको छोड़ यूनानी न जाननेवाले लेखकोंकी टीकाओं और संक्षेपोंकी मददसे उन्हें पढ़नेकी कोशिश करें।

पिदारक (१३०४-७४ ई०)—रेमोंद लिली (१२२४-१३१५)ने इस्लामको उखाड़ फेंकनेकी बहुत कोशिश की थी, किन्तु वह उसमें सफल नहीं हुआ, तो भी उसकी वसीयतके एक हिस्से—यूरोपसे इस्लामिक दर्शनके अध्ययनाध्यापनको खतम करने—की पूर्त्तिकेलिए तस्केनीमें पिदारकका जन्म हुआ। बापने उसे वकील बनाना चाहा था, किन्तु उसका उसमें दिल नहीं लगा, और अन्तमें वह पेदुआमें आगया। पिदारक लातीनी और यूनानी भाषाओंका पंडित था, दर्शन और आचार-शास्त्रपर उसकी पुस्तकें आज भी मौजूद हैं। "जहादवाद"ने युरोपके दिमागपर कितना जहरीला असर किया था, यह पिदारकके इस विचारसे मालूम होगा: अरबोंने कला और विद्याकी कोई सेवा न की, उन्होंने यूनानी संस्कृति और कलाकी कुछ बातोंको कायम जरूर रखा। पिदारक कहता था कि जब यूनानी संस्कृति और विद्याकी मूल वस्तुएं हमें प्राप्त हो गई हैं, तो हमें अरबोंकी जूठी पत्तल चाटनेसे क्या मतलब। अरबोंसे उसे कितनी चिढ़ थी, यह उसके एक पत्रसे पता लगेगा, जिसे उसने अपने एक मित्रको लिखा था—"मैं तुमसे इस कृपा-की आशा रखता हूँ, कि तुम अरबोंको इस तरह भुला दोगे, जैसे संसारमें उनका अस्तित्व कभी था ही नहीं। मुझे इस जातिकी जातिसे घृणा है। यह भलीभाँति याद रखें, कि यूनानने दार्शनिक, वैद्य, कवि और वक्ता पैदा किये। दुनियाकी वह कौनसी विद्या है, जिसपर यूनानी विद्वानोंकी पुस्तकें न मौजूद हों। लेकिन अरबोंके पास क्या है?—सिर्फ़ दूसरोंकी बची-खुंची पूँजी। मैं उनके यहाँके वैद्यों, दार्शनिकों, कवियोंसे भली प्रकार परिचित हूँ, और यह मेरा विश्वास है, कि अरब कौमसे कभी भलाईकी उम्मीद नहीं की जा सकती।.......तुम ही बताओ, यूनानी भाषाके वक्ता देमस्थनीज़के बाद सिसरो, यूनानी कवि होमरके बाद वर्जिल, यूनानी ऐतिहासिक हेरोदोतस्के बाद तीतस् लेवीका जन्म दुनियामें कहाँ

हुआ ? . . . .हमारी जातिके काम बाज़ बातोंमें दुनियाकी सभी जातियोंके कारनामोंसे बढ़-चढ़कर हैं। यह क्या बेवकूफ़ी है, कि अपनेको अरबोंसे भी हीन समझते हो। यह क्या पागलपन है, कि अपने कारनामोंको भुलाकर अरबोंकी स्तुति—प्रशंसा—के नशेमें डूब गये हो। इतालीकी बुद्धि और प्रतिभा ! क्या तू कभी गाढ़ निद्रासे नहीं जागेगी ?"

पिदारकके बाद "इतालीकी प्रतिभा" जगी, और यूनानी दर्शनके विद्वानोंने—जो कि पूरबसे भाग-भागकर आये थे—जगह-जगह ऐसे विद्यालय स्थापित किये, जिनमें यूनानी साहित्य और दर्शनकी शिक्षा सीधे यूनानी पुस्तकोंसे दी जाती थी। आरम्भके यूनानी अध्यापकोंमें गाज़ा (मृ० १४७८ ई०) जार्ज दे-त्रेपरविंद (मृत्यु १४८४ ई०) जार्ज स्कोलारियस् ज़्यादा प्रसिद्ध हैं।

४ नवम्बर सन् १४९७ ई० की तारीख पेदुआ और इतालीके इतिहासमें अपना "खास" महत्त्व रखती है। इसी दिन प्रोफ़ेसर ल्युनियस्ने पेदुआके विश्वविद्यालय-भवनमें अरस्तूके दर्शनको उस भाषा द्वारा पढ़ाया, जिसमें नौ सौ साल पहिले खुद अरस्तू अथेन्समें पढ़ाया करता था। प्राचीनता-पंथियोंको गर्व हुआ कि उन्होंने कालकी सुईको पीछे लौटा दिया, किन्तु वह उनके बसकी बात नहीं थी, इसे इतिहासने आगे साबित किया।

४ नवम्बर १४९७ ई०के बाद भी रोश्दका पठन-पाठन पेदुआमें भी जारी रहा यह बतला चुके हैं। सत्रहवीं सदीमें जेसुइत-पंथियोंने रोश्दपर भी हमला शुरू किया, किन्तु सबसे जबर्दस्त हमला जो चुपचाप हो रहा था; वह था साइंसकी ओरसे, गेलेलियोकी दुरबीन, न्यूटनके गुरुत्वाकर्षण और भापके इंजनके रूपमें।

---

३. यूरोपीय दर्शन

३. यूरोपीय दर्शन

दशम अध्याय

सत्रहवीं सदीके दार्शनिक

(विचार-स्वातन्त्र्यका प्रवाह)

[ल्योनार्दो दा-विन्ची (१४५१-१५१९)]—नवीन यूरोपके स्वतंत्र-विचारक और कलाकारका एक नमूना था दा-विन्ची; जिसकी कला (चित्र) में ही नहीं, लेखोंमें भी नवयुगकी ध्वनि थी, किन्तु वह अपने ग्रंथोंको उस वक्त प्रकाशित कर पोप और धर्माचार्योंके कोपका भाजन नहीं बनना चाहता था, इसलिए उसके वैज्ञानिक ग्रन्थ उस वक्त प्रकाशमें नहीं आये।

१४५५ ई०में छापेका आविष्कार ज्ञानके प्रचारमें बड़ा सहायक साबित हुआ, निश्चय ही छापेके बिना पुस्तकों द्वारा ज्ञानका प्रचार उतनी शीघ्रतासे न होता, जितना कि वह हुआ। पोप-पुरोहित परिश्रमसे देरमें लिखी दो-चार कापियोंको जलवा सकते, किन्तु छापेने सैकड़ों हजारों कापियोंको तैयार कर उनके प्रयत्नको बहुत हद तक असफल कर दिया।

पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदियाँ हमारे यहाँ सन्तों और सूफियोंको पैदा कर दुनियाकी तुच्छता—अतएव दुनियाकी समस्याओंके भुलाने—का प्रचार कर रही थीं; लेकिन इसी समय यूरोपमें बुद्धिको धर्म और रूढ़ियोंसे स्वतंत्र करनेका प्रयत्न बहुत जोखिम उठाकर हो रहा था। लारेंज़ो वाला (१४०८-५७ ई०) ने खुलकर शब्दोंके धनी धर्म-रूढ़िके हिमायती दार्शनिकोंपर प्रहार किया। उसका कहना था, शब्दोंके दिमाग़ी तर्कको छोड़ो और सत्यकी खोजकेलिए वस्तुओंके पास जाओ। कोलम्बस (१४४७-१५०६),

वास्को-दा-गामा (१४६९-१५२४) ने अमेरिका और भारतके रास्ते खोले। परासेल्सस् (१४९३-१५४१) और फ़ान् हेल्मोन्ट (१५७७-१६४४) ने पुस्तक पत्रेकी गुलामीको छोड़ प्रकृतिके अध्ययनपर जोर दिया। उस वक़्तके विश्वविद्यालय धर्मकी मुट्ठीमें थे, और साइंस-संबंधी गवेषणाकेलिए वहाँ कोई स्थान न था; इसीलिए साइंसकी खोजोंकेलिए स्वतंत्र संस्थाएँ स्थापित करनी पड़ीं। लेलेसिग्रो (१५७७-१६४४) ने ऐसी गवेषणाओंकेलिए नेपल्समें पहिली रसायनशाला खोली। १५४३ में वेसालियस् (१५१५-६४ ई०) ने शरीरशास्त्रपर साइंस सम्मत ढंगसे पहिली पुस्तक लिखी, इसमें उसने कल्पनाकी जगह हर बातको शरीर देखकर लिखनेकी कोशिश की। धर्म बहुत परेशानीमें पड़ा हुआ था, वह मृत्युके डरसे साइंसकी प्रगतिको रोकना चाहता था। १५३३ ई०में सर्वेतस् और १६०० ई०में ग्योर्दिनो ब्रूनो आगमें जलाकर साइंसके शहीद बनाये गये। यह वह समय था, जब कि भारतमें अकबर उदारतापूर्वक साइंसवेत्ताओंके खूनके प्यासे इन ईसाई पुरोहितों और दूसरे धर्मियोंके साथ समानताका बर्ताव करते हुए सबकी धार्मिक शिक्षाओंको सुनता तथा एक नये धर्म द्वारा उनके समन्वय करनेके प्रयत्नमें लगा हुआ था। सोलहवीं सदीके पोथी-विरोधी प्रयोग-हिमायती विद्वानोंमें "मोंताञ्"[1] (१५६१-१६२६), तायचो ब्राहे (१५४६-१६०१) के, सांशेज[2] (१५६२-१६३२) के नाम खास तौरसे उल्लेखनीय हैं।

पन्द्रहवीं सदीके विचार-स्वातंत्र्य और सोलहवीं सदीके भौगोलिक, खगोलिक आविष्कारोंने कूप-मंडूकताके दूर करनेमें बहुत मदद की, और इस प्रकार सत्रहवीं सदीके युरोपमें कुछ खुली हवा सी आने लगी थी। इस वक़्तके दार्शनिकोंकी विचारधारा दो प्रकारकी देखी जाती है। (१) कुछका कहना था, कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, और तजर्बा (प्रयोग) ही ज्ञानका एक-मात्र आधार है, इन्हें **प्रयोगवादी** कहते हैं। बैकन, हाब्स, लॉक, बर्कले, ह्यूम, प्रयोगवादी दार्शनिक थे; (२) दूसरे दार्शनिक ज्ञानको इन्द्रिय या

---

[1] Montaigne. [2] Sanchez.

प्रयोग-गम्य नहीं बुद्धिगम्य मानते थे। इन्हें **बुद्धिवादी** कहा जाता है; द-कार्त, स्पिनोजा, लाइप्निट्ज़ इस प्रकारके दार्शनिक थे।

§ १–प्रयोगवाद[1]

प्रयोगवाद प्रयोग या तजर्बेको ज्ञानका साधन बतलाता है, किन्तु प्रयोगके जरिये जिस सच्चाईको वह सिद्ध करता है, वह केवल भौतिक तत्त्व, केवल विज्ञानतत्त्व—अर्थात् अद्वैत भी हो सकता है—अथवा भौतिक और विज्ञान दोनों तत्त्वोंको माननेवाला द्वैतवाद भी। हॉब्स, टोलैण्ड, अद्वैती-भौतिकवादी थे, स्पिनोज़ा अद्वैती-विज्ञानवादी; और बैकन, द-कार्त, लीप्नित्ज़ द्वैतवादी थे।

१. अद्वैत-भौतिकवाद

(१) हॉब्स (१५८८–१६७९ ई०)—टामस हॉब्सने अध्ययन आक्सफोर्डमें किया। पेरिसमें उसका परिचय देकार्तसे हुआ। जो देश उद्योग-धंधे और पूँजीवादका बानी बनने जा रहा था, यह ज़रूरी था, कि उसका नंबर स्वतंत्र-विचारकोंमें भी पहिला हो; इसलिए सत्रहवीं सदीके आरंभमें बैकन (१५६१-१६२६) का विचार-स्वातंत्र्यका प्रचार और मध्ययुगीनताका विरोध करना; तथा हॉब्स, लॉक जैसे दार्शनिकोंका उसे आगे बढ़ाना, कोई आकस्मिक घटना न थी। बैकन दार्शनिक विचारोंमें प्रगतिशील था, किन्तु यह ज़रूरी नहीं है, कि दार्शनिक प्रगतिशीलता राजनीतिमें भी वही स्थान रखे। जब इंगलैंडमें सामन्तवादके खिलाफ क्रामवेलके नेतृत्वमें जनताने क्रान्तिका झंडा उठाया, तो हॉब्स क्रान्ति-विरोधियोंके दलमें था। ३० जनवरी १६४९ को शाहजहाँके समकालीन राजा चार्लस्का शिरश्छेदकर जनताने सामन्तवादियोंपर विजय पाई। हॉब्स जैसे कितने ही व्यक्ति उससे सन्तुष्ट नहीं हुए। नवम्बर १६५१ में हॉब्स फ़्रांस भाग गया, लेकिन उसे यह समझनेमें देर न लगी, कि

---

[1] Empiricism.

गुजरा ज़माना नहीं लौट सकता, और उसी साल लौटकर उसने अधिनायक ओलिवर क्रामवेल (१५६६-१६५८) से समझौता कर लिया।

हॉब्स लोकोत्तरवादका विरोधी था। उसके अनुसार दर्शन कारणोंसे कार्य और कार्योंसे कारणके ज्ञानको बतलाता है। हम इन्द्रियोंके साक्षात्कार द्वारा वस्तुका ज्ञान (-सिद्धान्त) प्राप्त कर सकते हैं; या इस प्रकारके सिद्धान्तसे वस्तुके ज्ञानको भी पा सकते हैं।

दर्शन गति और क्रियाका विज्ञान है, ये गति-ज्ञान प्राकृतिक पिंडोंके भी हो सकते हैं, राजनीतिक पिंडोंके भी। मनुष्यका स्वभाव, मानसिक जगत्, राज्य, प्राकृतिक घटनाएं उन्हीं गतियोंके परिणाम हैं।

ज्ञानका उद्गम इन्द्रियोंकी वेदना (=प्रत्यक्ष) है, और वेदना मस्तिष्क या किसी इसी तरहके आभ्यान्तरिक तत्त्वमें गतिके सिवा और कुछ नहीं है। जिसे हम मन कहते हैं, वह मस्तिष्क या सिरके भीतर मौजूद इसी तरहके किसी प्रकारके भौतिक पदार्थकी गतिमात्र है। विचार या प्रतिबिंब, मस्तिष्क और हृदयकी गतियाँ—अर्थात् भौतिक पदार्थोंकी गतियाँ—हैं। भौतिक तत्त्व और गति ये मूलतत्त्व हैं, वे जगत्की हर एक वस्तु—जड़, चेतन सभी—की व्याख्या करनेके लिए पर्याप्त हैं।

हॉब्सने ईश्वरके अस्तित्वका साफ तौरसे इन्कार नहीं किया, उसका कहना था कि मनुष्य "ईश्वरके बारेमें कुछ नहीं जान सकता।"

अच्छा, बुरा—पाप, पुण्य—हॉब्सके लिए सापेक्ष बातें हैं, कोई परमार्थतः न अच्छा है न परमार्थतः बुरा।

हॉब्स अरस्तूकी भाँति मनुष्यको सामाजिक प्राणी नहीं, बल्कि "मानव भेड़िया" कहता था। मनुष्य हमेशा धन, मान, प्रभुता, या शक्तिकी प्रतियोगितामें रहता है; उसका झुकाव अधिकके लोभ तथा द्वेष और युद्धकी ओर होता है। जब उसके रास्तेमें दूसरा प्रतियोगी आता है, तो फिर उसे मार डालने, अधीन बना लेने, या भगा देनेकी कोशिश करता है।

(२) टोलैंड (१६७०-१७२१ ई०)—हॉब्सकी भाँति उसका देशभाई टोलैंड भी भौतिकवादका हामी, तथा बर्कलेके विज्ञानवादका विरोधी

था। भौतिक तत्त्व गतिशून्य नहीं बल्कि सक्रिय द्रव्य या शक्ति हैं। भौतिक तत्त्व शक्ति है, और गति, जीवन, मन, सब इसी शक्तिकी क्रियाएं हैं। चिन्तन उसी तरह मस्तिष्ककी क्रिया है, जिस तरह स्वाद जिह्वाका।

२–अद्वैत विज्ञानवाद

स्पिनोज़ा (१६३२-७७ ई०)—बारुच दे-स्पिनोज़ा हालेंडमें एक धनी यहूदी परिवारमें पैदा हुआ था! उसने पहिले इब्रानी साहित्यका अध्ययन किया, पीछे फ्रेंच दार्शनिक द-कार्तके ग्रंथोंको पढ़कर उसकी प्रवृति स्वतंत्र दार्शनिक चिन्तनकी ओर हुई। उसके धर्मविरोधी विचारोंसे उसके सधर्मी नाराज़ हो गये और उन्होंने १६३६ ई० में उसे अपने धर्म-मन्दिरसे निकाल बाहर किया, जिससे स्पिनोजाको अम्स्टर्डम् छोड़नेपर बाध्य होना पड़ा। जहाँ-तहाँ धक्के खाते अन्तमें १६६६ में (औरंगजेबके शासनारंभ कालमें) वह हागमें जाकर बस गया, जहाँ उसकी जीविकाका ज़रिया चश्मेके पत्थरोंको घिसना था। शताब्दियों तक स्पिनोज़ाको नास्तिक समझा जाता था, और ईसाई, यहूदी दोनों उससे घृणा करनेमें होड़ लगाये हुए थे।

स्पिनोजा पहिला दार्शनिक था, जिसने मध्यकालीन लोकोत्तरवाद तथा धर्म-रूढ़िवादको साफ शब्दोंमें खंडन करते हुए बुद्धिवाद और प्रकृतिवादका ज़बर्दस्त समर्थन किया: हर तरहके शास्त्र या धर्मग्रंथके प्रमाणसे बुद्धि ज़्यादा विश्वसनीय प्रमाण है। धर्मग्रंथोंको भी सच्चा साबित होनेके लिए उसी तरह बुद्धिकी कसौटीपर ठीक उतरना होगा, जिस तरह कि दूसरे ऐतिहासिक लेखों या ग्रंथोंको करना पड़ता है। बुद्धिका काम है यह जानना कि, भिन्न-भिन्न वस्तुओंमें आपसका क्या संबंध है। प्राकृतिक घटनाएं परस्पर संबद्ध हैं। यदि उनकी व्याख्याकेलिए प्रकृतिसे परेकी किसी लोकोत्तर चीज़को लाते हैं, तो वस्तुओंका वह आन्तरिक संबंध विच्छिन्न हो जाता है, और सत्य तक पहुँचनेकेलिए जो एक जरिया हमारे पास था, उसे ही हम खो देते हैं। इस तरह बुद्धिवाद और प्रकृतिवाद (=भौतिकवादी प्रयोगवाद) दोनोंका हम स्पिनोज़ाके दर्शनमें संमिश्रण पाते हैं।

लेकिन स्पिनोज़ाके प्रकृति (=भौतिक)-वाद और हॉब्सके भौतिकवादमें अन्तर है। हॉब्स शुद्ध भौतिकवादी था। वह सबकी व्याख्या भौतिक तत्वों और उसकी शक्ति या गतिसे करता था; किन्तु इसके विरुद्ध स्पिनोज़ा स्तोइकों या ब्रह्म-जगत्-अद्वैतवादी वेदान्तियोंकी भाँति "यह सब ईश्वर (=ब्रह्म) है, और ईश्वर (=ब्रह्म) यह है।" इस तरह उसका जोर भौतिकतत्त्व पर नहीं बल्कि आत्मतत्त्वपर था।

(परमतत्त्व)—एक सान्त वस्तु अपनी सत्ताके लिए दूसरे अनगिनित तत्त्वोंपर निर्भर है, और इन आधारभूत तत्त्वोंमेंसे भी प्रत्येक दूसरे अनगिनित तत्त्वोंपर निर्भर हैं। इस तरह एकका आधार दूसरा, दूसरेका आधार तीसरा. . . .मानते जानेपर हम किसी निश्चयपर नहीं पहुँच सकते। कोई ऐसा तत्त्व होना चाहिए, जो स्वयंसिद्ध, स्वयं अपना आधार हो, जो सभी आधेयों, घटनाओंको अवलम्ब दे। लेकिन, ऐसे स्वतः सिद्ध तत्त्वके ढूँढ़नेकेलिए हमें प्रकृतिसे परे किसी स्रष्टाकी ज़रूरत नहीं। प्रकृति या सृष्टि स्वयं इस काम तथा ईश्वरकी आवश्यकताको पूरी करती है। इस तरह प्रकृति या ईश्वर स्वयं सर्वमय, अनन्त और पूर्ण है, इससे परे कुछ नहीं है, न कोई लोकोत्तर तत्त्व है। प्रकृति भी गतिशून्य नहीं बल्कि सक्रिय परिवर्तनशील है—सभी तरहकी शक्तियाँ वही है। हर एक अंतिम शक्ति, ईश्वरका गुण है। मनुष्य इन गुणोंमेंसे सिर्फ़ दो गुणोंको जानता है—विस्तार (=परिमाण) और चिन्तन; और यही दोनों हैं भौतिक और मानसिक शक्तियाँ। सभी भौतिक पिंड और भौतिक घटनाएं विस्तार-गुणकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएं हैं, और सभी मन तथा मानसिक अनुभव चिन्तन गुणकी। चूँकि, विस्तार और चिन्तन दोनों एक परमतत्त्वके गुण हैं—इसलिए भौतिक मानसिक पदार्थोंके संबंधमें कोई कठिनाई नहीं है। जितनी सान्त स्थितियाँ हमें दृष्टिगोचर होती हैं, वह भ्रम या माया नहीं बल्कि वास्तविक हैं—उस वक़्त जब कि वह घटित हो रही हैं, और उस वक़्त भी जब कि वह लुप्त होती हैं, तब भी उनका अत्यंताभाव नहीं होता, क्योंकि वह **एक** परमतत्त्व मौजूद रहता है, जिसमें कि **अनेक** बदलते और फिर बदलते रहते हैं।

३. द्वैतवाद

लॉक (१६३२-१७०४ ई०)—जॉन लॉकने आक्सफोर्डमें दर्शन, प्राकृतिक विज्ञान और चिकित्साका अध्ययन किया था। बहुत सालों तक (१६६६-८३ ई०) इंगलैंडके एक रईस (अर्ल शाफ़्ट्सबरी) का सेक्रेटरी रहा।

प्रयोग या अनुभवसे परे कोई स्वत:सिद्ध वस्तु है, लॉक इससे इन्कारी था। हमारा ज्ञान हमारे विचारोंसे परे नहीं पहुँच सकता। ज्ञान तभी सच हो सकता है, जब कि हमारे विचारोंको वस्तुओंकी सत्यता स्वीकार करती हो—अर्थात् विचार प्रयोगके विरुद्ध न जाते हों।

(१) तत्त्व—मानसिक और भौतिक तत्त्व—प्रत्यक्ष-सिद्ध और अप्रत्यक्ष-सिद्ध—दो पादर्थ तो हैं ही, इनके अतिरिक्त एक तीसरा आत्मतत्त्व ईश्वर है। अपनी प्राकृतिक योग्यताका ठीक तौरसे उपयोग करके हमें ईश्वर का ज्ञान हो सकता है।

अपने कामोंके बुरे होनेके बारेमें हमारी जो राय है—जो कि हमारे सीखे आचारज्ञानसे तैयार होती है—इसीको आत्माकी पुकार कहा जाता है; वह इससे अधिक कुछ नहीं है। आचार-नियम स्वयंभू[1] (=स्वतः उत्पन्न) नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उन्हें न स्वयंभू देखा जाता है, और न सर्वत्र एक समान पाया जाता है। ईश्वर-संबंधी विचार भी स्वयंभू नहीं है। यदि ऐसा होता तो कितनी ही जातियोंको ईश्वरके ज्ञानसे वंचित अथवा उसके जाननेके लिए उत्सुक न देखा जाता। इसी प्रकार आग, सूर्य, गर्मीके ज्ञान भी सीखनेसे आते हैं, स्वयंभू नहीं हैं।

(२) मन—मन पहिले-पहिल साफ सलेट जैसा होता है, उसमें न कोई विचार होते हैं, न कोई छाप या प्रतिबिंब (=वासना)। ज्ञानकी सामग्री हमें अनुभव (=प्रयोग) द्वारा प्राप्त होती है, अनुभवके ऊपर हमारे ज्ञानकी इमारत खड़ी है।

---

[1] Innate.

लॉक कहता है **कारण** वह चीज है, जो किसी दूसरी चीजको बनाता है; और कार्य वह है जिसका आरम्भ किसी दूसरी चीज़से है।

इन्द्रियोंसे प्राप्त वेदना या उसपर होनेवाला विचार ही हमें देश-काल-विस्तार, भेद-अभेद, आचार तथा दूसरी बातोंके संबंधका ज्ञान देते हैं; यही हमारे ज्ञानकी सामग्रीको प्रस्तुत करते हैं।

लॉक चाहता था, कि दर्शनको कोरी दिमाग़ी उड़ानसे बचाकर प्रकृतिके अध्ययनमें लगाया जाये। जिज्ञासा करने, प्रश्नोंके हल ढूँढ़नेसे पहिले हमें अपनी योग्यताका निरीक्षण करना चाहिए, और देखना चाहिए किस और कितने विषयको हमारी बुद्धि समझ सकती है। "अपनी योग्यतासे परेकी जिज्ञासाएं अनेक नये प्रश्न, कितने ही विवाद खड़े कर देती हैं, जिससे....हमारे सन्देह ही बढ़ते हैं।

§ २–बुद्धिवाद (द्वैतवाद)

वैसे तो स्पिनोज़ाके अद्वैती विज्ञानवादको भी बुद्धिवादमें गिना जा सकता है, क्योंकि विज्ञानवाद भौतिक जगत्‌की सत्ताको महत्त्व नहीं देता, किन्तु स्पिनोज़ाके दर्शनमें विज्ञानवाद और भौतिकवादका कुछ इतना सम्मिश्रण है, तथा प्रकृतिकी वास्तविकतापर उसका इतना जोर है, कि उसे केवल विज्ञानवादमें नहीं गिना जा सकता। बाकी सत्रहवीं सदीके प्रमुख बुद्धिवादी दार्शनिक द-कार्त और लाइपनिट्ज़ हैं, जो दोनों ही द्वैतवादी भी हैं।

१–द-कार्त (१५९६-१६५० ई०)

रेने द-कार्तका जन्म फ़्रांसके एक रईस परिवारमें हुआ था। दार्शनिकके अतिरिक्त वह कितनी ही पुरानी भाषाओंका पंडित तथा प्रथम श्रेणीका गणितज्ञ था, उसकी ज्यामिति आज भी कार्तेसीय ज्यामितिके नामसे मशहूर है।

यूरोपके पुनर्जागरण कालके कितने ही और विद्वानोंकी भाँति द-कार्त भी अपने समयके ज्ञानकी अवस्थासे असन्तुष्ट था। सिर्फ़ गणित एक विद्या

थी, जिसकी अवस्थाको वह सन्तोषजनक समझता था, और उसका कारण उसका श्रेय वह नपी-तुली नियमबद्ध प्रक्रियाको देता था। उसने गणित-के ढंगको दर्शनमें भी इस्तेमाल करना चाहा। सन्त अगस्तिनकी भाँति उसने भी "बाक़ायदा संदेह"से सोचना आरंभ किया—मैं दुनियाकी हर चीज़को संदिग्ध समझ सकता हूँ, लेकिन अपने 'होने'के बारेमें सन्देह नहीं कर सकता, "मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ।" इसे सच इसलिए मानना पड़ता है, क्योंकि यह "स्पष्ट और असंदिग्ध" है। इस तरह हम इस सिद्धान्तपर पहुँचते हैं, "जिसे हम अत्यन्त स्पष्ट और असंदिग्ध पाते हैं, वह सच है।" इस तरहके स्पष्ट और असंदिग्ध अतएव सच विचार हैं—ईश्वर, रेखा-गणितके स्वयंसिद्ध, और "नहींसे कुछ नहीं पैदा हो सकता"की तरहके अनादि सत्य। यद्यपि द-कार्तने स्पष्ट और असंदिग्ध विचार होनेसे ईश्वरको स्वयंसिद्ध मान लिया था, किन्तु हवाका रुख इतना प्रतिकूल था, कि ईश्वरकी सिद्धिकेलिए अलग भी उसे प्रयत्न करना पड़ा। दृश्य जगत्-के भी "स्पष्ट और असंदिग्ध" अंशको उसने सत्य कहा। जगत् ईश्वरने बनाया है, और अपनी स्थितिको जारी रखनेकेलिए वह बिलकुल ईश्वरपर निर्भर है। ईश्वरनिर्मित जगत्के दो भाग हैं—काया या विस्तारयुक्त पदार्थ और मन या सोचनेवाला पदार्थ। आत्मा और शरीरको वह अक्विना की भाँति अभिन्न नहीं; बल्कि अगस्तिन्की भाँति सर्वथा भिन्न—एक दूसरेसे बिलकुल अलग-थलग—कहता था। यह भगवान्की दिव्य सहायता है, जिससे कि आत्मा शरीरकी गतिको उत्पन्न नहीं, बल्कि संचालित कर सकता है। द-कार्त इस प्रकार लोकोत्तरवादी तथा अगस्तिन्की भाँति ईसाई धर्मका एक ज़बर्दस्त सहायक था। शरीर और आत्मामें आपसका कोई संबंध नहीं, इस धारणाने द-कार्तको यह माननेके लिए भी मजबूर किया, कि जब दोनोंमेंसे किसी एकमें कोई परिवर्तन होता है, तो भगवान् बीचमें दखल देकर दूसरेमें भी वही परिवर्तन पैदा कर देता है।

अंग्रेज़ दार्शनिक हॉब्स द-कार्तका समकालीन तथा परिचित था, किन्तु दोनोंके विचारोंमें हम ज़मीन-आसमानका अंतर देखते हैं। द-कार्त पूरा

लोकोत्तरवादी, ईश्वरके इशारेपर जड़-चेतनको नाचनेवाला मानता था; किन्तु हॉब्स लोकोत्तरवादके बिलकुल खिलाफ़, हर समस्याके हलको प्रकृति में ढूँढ़नेका पक्षपाती था। स्पिनोज़ाने द-कार्तके ग्रंथोंसे बहुत फ़ायदा उठाया, 'विस्तार' और 'चिन्तन' काया और आत्माके स्वरूपोंको भी उसने द-कार्तसे लिया, किन्तु द-कार्तके दर्शनके 'ईश्वरीय यंत्रवाद'की कमज़ोरियोंको वह समझता था, इसीलिए द-कार्तके द्वैतवादको छोड़ उसने प्रकृति-ईश्वर-अद्वैत या विज्ञानवादको हॉब्सके नजदीकतर लानेकी कोशिश की।

द-कार्तके अनुसार दर्शन कहते हैं मनुष्य जितना जान सकता है, वह ज्ञान तथा अपने जीवनके आचरण, अपने स्वास्थ्यकी रक्षा, और सभी कलाओं (=विद्याओं) के आविष्कारके पूर्ण ज्ञानको। इस तरह द-कार्तकी परिभाषामें दर्शनमें लौकिक लोकोत्तर सारे ही "स्पष्ट और असंदिग्ध (=अविसंवादि) ज्ञान शामिल हैं।

ईश्वरके कामके बारेमें द-कार्तका कहना है—भगवान्ने शुरूमें गति और विश्रामके साथ भौतिक तत्त्वों (=प्रकृति)को पैदा किया। प्रकृतिमें जो गति उसने उस वक़्त पैदा की, उसे उसी मात्रामें जारी रखनेकेलिए उसकी सहायताकी अब भी ज़रूरत है, इस प्रकार ईश्वरको सदा सक्रिय रहना पड़ता है।

आत्मा या सोचनेवाली वस्तु, उसे कहते हैं, जो संदेह करने, समझने, ग्रहण-समर्थन-अस्वीकार-इच्छा-प्रतिषेध करनेकी क्षमता रखती है।

गंभीर विचारक होते हुए भी दे-कार्त मध्ययुगीन मानसिक बंधनोंसे अपनेको आज़ाद नहीं कर सका था, और अपने दर्शनको सर्वप्रिय रखनेके लिए भी वह धर्मवादियोंका कोपभाजन नहीं बनना चाहता था। स्वयं द-कार्तके अपने वर्गका भी स्वार्थ इसीमें था कि धर्म और उसके साथ प्राचीन समाजकी व्यवस्थाको न छेड़ा जाये।

२. लाइप्निट्ज़ (१६४६-१७१६ ई०)

गोट्फ़्रीड् विल्हेल्म लाइप्निट्ज़ लीपजिग् (जर्मनी)में एक मध्यवित्तक परिवारमें पैदा हुआ था। विश्वविद्यालयमें वह कानून, दर्शन, और गणित

का विद्यार्थी रहा।

दर्शन—लाइप्निट्ज़ 'आत्म-कणवाद'[1] का प्रवर्त्तक था। उसके दर्शनमें भौतिक पदार्थ—और अवकाश भी—वस्तु सत्य[2] नहीं हैं, मन जिन्हें अनुभव करता है, उसके ये सिर्फ़ दिखावे मात्र हैं। आत्मकण (=मन, विज्ञान) ही एकमात्र वस्तु सत्य हैं। सभी **आत्मकण** विकासमें एकसे नहीं हैं। कुछका विकास अत्यन्त अल्प है, वह सुप्तसे हैं। कुछका विकास इनसे कुछ ऊँचा है, वह स्वप्न अवस्थाकी चेतना जैसे हैं। कुछका विकास बहुत ऊँचा है, वह पूरी जागृत चेतना जैसे हैं। और इन सबसे ऊँचा चरम विकास ईश्वरका है। उसकी चेतना अत्यंत गंभीर अत्यंत पूर्ण, और अत्यंत सक्रिय है। आत्मकणोंकी संख्या अनन्त और उनके विकासके दर्जे भी अनन्त हैं—उनमें इतनी भिन्नता है, कि कोई दो आत्मकण एकसे नहीं हैं। इस प्रकार लाइप्निट्ज़ द्वैती विज्ञानवादको मानता है।

प्रत्येक आत्मकण अपनी सत्ता और गुणके लिए दूसरे आत्मकणका मुहताज नहीं है, एक आत्मकण दूसरेको प्रभावित नहीं कर सकता। लेकिन सर्वोच्च आत्मकण ईश्वर इस नियमका अपवाद है—उसने एक तरह अपनेमेंसे इन आत्मकणोंको पैदा किया। आत्मकण अपनी क्रियाओंके संबंधमें जो आपसमें सहयोग करते दीख पड़ते हैं, वह 'पहिलेसे स्थापित समन्वय[3]-के' कारण हैं— भगवान्ने उन्हें इस तरह बनाया है, जिसमें वह एक दूसरेसे सहयोग करें।

द-कार्तका यह विचार कि ईश्वरने भौतिक तत्त्वोंमें गति एक निश्चित मात्रा में—घड़ीकी कुंजीकी भाँति—भर रखी है, लाइप्निट्ज़को पसंद न था, यद्यपि धर्म, ईश्वर, द्वैतवाद आदिका जहाँ तक संबंध था, वह उससे सहमत था। लाइप्निट्ज़का कहना था—पिंड चलते हैं, पिंड विश्राम करते हैं—जिसका अर्थ है गति आती है, और नष्ट भी होती है। यह (संसार-) **प्रवाहका सिद्धान्त**—अर्थात् प्रकृतिमें मेढक-कुदान नहीं सम-प्रवाह है—के

---

[1] Monadism. [2] Objective reality. [3] Harmony.

खिलाफ़ जाता है। संसारमें कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, जो क्रिया नहीं करता। जो क्रिया नहीं करता वह है ही नहीं, लाइप्निट्ज़ने इस कथन द्वारा अपनेसे हज़ार वर्ष पहिलेके बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्तिकी बातको दुहराया। "अर्थ क्रियामें जो समर्थ है वही ठीक सच है।"[1]

लाइप्निट्ज़ विस्तारको नहीं, बल्कि शक्तिको शरीरका वास्तविक गुण कहता है, बिना शक्तिके विस्तार नहीं हो सकता, अतएव शक्ति मुख्य गुण है।

अवकाश या देश[2] सापेक्ष पदार्थ है, उसकी परमार्थ सत्ता नहीं है। वस्तुएं जिसमें स्थित हैं वह देश है, और वह वस्तुओंके नाशके साथ नाश हो जाता है। शक्तियाँ देशपर निर्भर नहीं हैं, किन्तु देश अपनी सत्ताकेलिए शक्तियोंपर अवश्य-निर्भर है। इसलिए वस्तुओं (=आत्मकणों)के बीचमें तथा उनसे परे देश नहीं हो सकता; जहाँ शक्तियाँ खतम होती हैं, वहाँ देश भी खतम होता है। देशकी यह कल्पना आइन्स्टाइनके सापेक्षतावाद[3] के बहुत समीप है।

(१) **ईश्वर**—लाइप्निट्ज़के अनुसार दर्शन भगवान् तक पहुँचाता है; क्योंकि दर्शन भौतिक और यांत्रिक सिद्धान्तोंकी व्याख्या करना चाहता है, उसकी उस व्याख्याके बिना चरम कारण भगवान्को हम मान ही नहीं सकते। भगवान् स्वनिर्मित गौण या उपादान-कारणों द्वारा सभी चीज़ोंको बनाता है। भगवान्ने दुनिया कोई अच्छी तो नहीं बनाई है—इसका जवाब लाइप्निट्ज़ देता है—भई! दुनियाको भगवान्ने उतना अच्छा बनाया है, जितनी अच्छी कि वह बनाई जा सकती थी—इसमें जितना संभव हो सकता है, उतने वैचित्र्य और पारस्परिक समन्वय हैं। यह ठीक है कि यह पूर्ण नहीं है, इसमें दोष हैं। किन्तु, भगवान् सीमित रूपमें कैसे अपने स्वभावको व्यक्त कर सकता था? दोष (=बुराइयाँ) भी अनावश्यक नहीं हैं। चित्रमें जैसे काली

---

[1] **"अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थ सत्"—प्रमाणवार्त्तिक।**
[2] Space. [3] **देखो "विश्वकी रूपरेखा" में सापेक्षतावाद**

ज़मीनकी आवश्यकता होती है, उसी तरह अच्छाइयों (=शिव)को व्यक्त करनेकेलिए बुराइयोंकी भी ज़रूरत है। यहाँ समाजके अत्याचार उत्पीड़नके समर्थनकेलिए लाइप्निट्ज़ कैसी कायरतापूर्ण युक्ति दे रहा है!! यदि अपनी अच्छाइयोंको दिखलानेकेलिए ईश्वरने चंद व्यक्तियोंको अपना कृपापात्र और ९० सैकड़ाको पीड़ित, दुखी, नारकीय बना रखा है, तो ऐसे भगवान्से "त्राहि माम्।"

(२) **जीवात्मा**—जीव अगणित आत्मकणोंमें एक है—यह बतला चुके हैं। आत्माको लाइप्निट्ज़ अचल एकरस मानता है।—"आत्मा मोम नहीं है, जो कि उसपर ठप्पा (=वासना) मारा जा सके। जो आत्मा को ऐसा मानते हैं, वह आत्माको भौतिक पदार्थ बना देते हैं।" आत्माके भीतर भाव (सत्ता), द्रव्य, एकता, समानता, कारण, प्रत्यक्ष, कार्यकारण, ज्ञान, परिमाण—यह सारे ज्ञान मौजूद हैं। इनकेलिए आत्मा इन्द्रियोंका मुहताज नहीं है।

(३) **ज्ञान**—बुद्धिसंगत ज्ञान तभी संभव है, जब हम कुछ सिद्धान्तोंको स्वयंभू सिद्ध मान लें, जिसमें कि उनके आधारपर अपनी युक्तियोंको इस्तेमाल किया जा सके। समानता (=सादृश्य) और विरोध इन्हीं स्वयंभू सिद्धान्तोंमें हैं। शुद्ध चिन्तनके क्षेत्रमें सच्चाईकी कसौटी यही समानता और विरोध हैं। प्रयोग (=तजर्बे)के क्षेत्रमें सच्चाईकी कसौटी पर्याप्त युक्ति ही स्वयंभू सिद्धान्त है। **दर्शन**का मुख्य काम ज्ञानके मौलिक सिद्धान्तों—जोकि साथ ही सत्यताके भी मौलिक सिद्धान्त या पूर्वनिश्चय हैं—का आविष्कार करना है।

हॉब्स और द-कार्त दोनों बिलकुल एक दूसरेके विरोधीवादों—प्रकृति-वाद और लोकोत्तरवाद—को मानते थे। स्पिनोज़ाका दिल द-कार्तके साथ था, दिमाग़ हॉब्सके साथ, जिससे वह द-कार्तको मदद नहीं कर सका, और उसका दर्शन नास्तिकता और भौतिकवादकेलिए रास्ता साफ़ करनेका काम देने लगा। लाइप्निट्ज़ चाहता था, कि दर्शनको बुद्धिसंगत बनानेके लिए मध्य-युगीनतासे कुछ आगे ज़रूर बढ़ना चाहिए, किन्तु इतना नहीं

कि स्पिनोज़ाकी भाँति लोग उसे भौतिकवादी कहने लगें। साथ ही ईश्वर, आत्मा, सृष्टि आदिके धार्मिक विचारोंको भी वह अपने दर्शनमें जगह देना चाहता जिसमें कि सभ्य समाज उसे एक प्रतिष्ठित दार्शनिक समझे। इन्हीं विचारोंसे प्रेरित हो स्पिनोज़ाके समन्वय—प्रकृति-ईश्वर-अद्वैत तत्त्व—को न मान, उसने **आत्मकण** सिद्धान्त निकाला, जिसमें स्पिनोज़ाका विज्ञानवाद भी था और द-कार्तका द्वैतवादी, ईश्वरवाद भी।

एकादश अध्याय

अठारहवीं सदीके दार्शनिक

न्यूटन (१६४२-१७२७ ई०) के सत्रहवीं सदीके आविष्कार गुरुत्वाकर्षण (१६५७ ई०) और विश्वकी यांत्रिक व्याख्याने सत्रहवीं सदी और आगेकी दार्शनिक विचार-धारापर प्रभाव डाला। अठारहवीं सदीमें हर्शल (१७३८-१८२२ ई०) ने न्यूटनके यांत्रिक सिद्धान्तके अनुसार शनिकी कक्षासे और परे वरुण[1] ग्रह तथा शनिके दो उपग्रहोंका (१७८६ ई०) आविष्कार किया। इसके अतिरिक्त उसने एक दूसरेके गिर्द घूमनेवाले ८०० युग्म (=जुडवें) तारे खोज निकाले, जिससे यह भी सिद्ध हो गया कि न्यूटनका यांत्रिक सिद्धान्त सौरमंडलके आगे भी लागू है। शताब्दीके अन्त (१७९९ ई०) में लाप्लास्‌ने अपनी पुस्तक **खगोलीय यंत्र**[2] लिखकर उक्त सिद्धान्तकी और पुष्टि की। इधर भौतिक साइंस[3]ने भी ताप, ध्वनि, चुम्बक, बिजलीकी खोजोंमें नई बातोंका आविष्कार किया। रम्‌फोर्डने सिद्ध किया कि ताप भी गतिका एक भेद है। हॉक्सबीने १७०५ ई० में प्रयोग करके पहिले-पहिल बतलाया, कि ध्वनि हवापर निर्भर है, हवा न होनेपर ध्वनि नहीं पैदा हो सकती।

रसायन-शास्त्रमें प्रीस्टली (१७३३-१८०४ ई०) और शीले (१७४२-८६ ई०)ने एक दूसरेसे स्वतंत्र रूपेण आक्सीजनका आविष्कार किया। कवेन्डिश (१७३१-१८१०)ने आक्सीजन और हाइड्रोजन मिलाकर साबित किया कि पानी दो गैसोंसे मिलकर बना है।

---

[1] Uranus. [2] Celestial Mechanics. [3] Physics.

इसी शताब्दीमें हटन (१७२६-९७ ई०) ने अपनी पुस्तक **पृथिवी-सिद्धान्त**[1] लिखकर भूगर्भ साइंसकी नींव डाली; और जेनेर (१७४९-१८९३ ई०) ने चेचकके टीकेका आविष्कारकर बीमारियोंकी पहिलेसे रोकथामका नया तरीका चिकित्साशास्त्रमें प्रारम्भ किया।

अठारहवीं सदीमें साइंसकी जो प्रगति अभी हम देख चुके हैं, हो नहीं सकता था, कि उसका प्रभाव दर्शनपर न पड़ता। इसीलिए हम अठारहवीं सदीके दार्शनिकोंको सिर्फ़ हवामें उड़ते नहीं देखते, बल्कि सन्देहवादी ह्यूम् ही नहीं विज्ञानवादी बर्कले और कान्टको भी प्रयोगकी पूरी सहायता लेते हुए अपने काल्पनिकवादका समर्थन करना चाहते हैं।

§ १. विज्ञानवाद

अठारहवीं सदीके प्रमुख विज्ञानवादी दार्शनिक बर्कले और कान्ट हैं।

१—बर्कले (१६८५-१७५३ ई०)

जार्ज बर्कलेका जन्म आयरलैंडमें हुआ था, और शिक्षा डब्लिनके ट्रिनिटी कालेजमें। १७३४ ई०में वह कोलोन्का लाट-पादरी बना।

बर्कलेके दर्शनका मुख्य प्रयोजन किसी नये तत्त्वका अन्वेषण नहीं था। उसकी मुख्य मंशा थी, भौतिकवाद और अनीश्वरवादसे ईसाई-धर्मकी रक्षा करना। इस प्रकार वह अठारहवीं सदीका अगस्तिन् और सीमित अर्थमें ईसाईयोंका ऑक्विना था। हाब्सका भौतिकवादी दर्शन तथा विचार-स्वातन्त्र्य संबंध दूसरी शिक्षाएं धीरे-धीरे शिक्षित बुद्धिवादी दिमाग़ोंपर असर कर ईसाइयतकेलिए खतरा पैदा कर रही थीं। सत्रहवीं और अठारहवीं सदीमें भी जिस तरहकी प्रगति साइंसमें देखी जा रही थी, उससे धर्मका पक्ष और निर्बल होता जा रहा था, तथा यह साबित हो रहा था कि प्रकृति और उसके अपने नियम हर बौद्धिक समस्याके हलके

[1] Theory of the Earth.

लिए पर्याप्त हैं। यद्यपि इस लहरको रोकनेकेलिए द-कार्त, स्पिनोज़ा और लाइप्निट्ज़के दर्शन भी सहायक हो सकते थे, किन्तु भौतिक-तत्त्वोंके अस्तित्वको वे किसी न किसी रूपमें स्वीकार करते थे। बिशप् (=लाट-पादरी) बर्कलेने भौतिकतत्त्वोंके अस्तित्वको ही अपने दर्शन-द्वारा मिटा देना चाहा—न भौतिकतत्त्व रहेंगे, न भौतिकवादी सर उठायेंगे।

बर्कलेका कहना था : मुख्य या गौण गुणोंके संबंधमें जो हमारे विचार या वेदनाएं हैं, वह किन्हीं वास्तविक बाह्यतत्त्वोंकी प्रतिकृति या प्रतिबिंब नहीं हैं, वह सिर्फ़ मानसिक वेदनाएं हैं; और इनसे अधिक कुछ नहीं है। विचार विचारोंसे ही सादृश्य रख सकते हैं, भौतिक पदार्थों और उनके गुणों—गोल, पीला, कड़वा आदि—से इन अभौतिक विचारों या मानस प्रति-बिंबोंका कोई सादृश्य नहीं हो सकता। इसलिए भौतिक पिंडोंके अस्तित्वको माननेकेलिए कोई प्रमाण नहीं। ज्ञानका विषय हमारे विचार हैं, उनसे परे या बाहर कोई भौतिकतत्त्व ज्ञानका वास्तविक विषय नहीं है। "मनसे बाहर चाहे वह स्वर्गकी संगीत मंडली हो, अथवा पृथिवीके सामान हों, मन (=विज्ञान)को छोड़ वहाँ कोई दूसरा द्रव्य नहीं, (मानसिक) ग्रहण ही उनकी सत्ताको बतलाता है। जब उन्हें कोई मनुष्य नहीं जान रहा है, तो या तो वे हैं ही नहीं, अथवा वे किसी **अविनाशी आत्मा**के मनमें है।" भौतिक पिंड अपने गुणानुसार नियमित प्रभाव (आग, ठंडक) पैदा करते हैं, यदि भौतिक तत्त्व नहीं है, तो सिर्फ़ विचारसे यह कैसे होता है?—बर्कलेका उत्तर था कि यह "प्रकृतिके विधाताके द्वारा स्वेच्छासे बनाए उस संबंध"का यह परिणाम है, जिसे उसने भिन्न-भिन्न विचारोंके बीच कायम किया है। बर्कले के अनुसार सत्यके तत्त्व हैं: भगवान्, उसके बनाए आत्मा, और भिन्न-भिन्न विचार जो उसकी आज्ञानुसार विशेष अवस्थाओंमें पैदा होते हैं।

२. कान्ट (१७२४-१८०४ ई०)

इम्मानुयेल कान्ट कोइनिक्सबर्ग (जर्मनी)में एक साधारण कारी-गरके घर पैदा हुआ था। उसका बाल्य धार्मिक वातावरणमें बीता था।

प्रायः सारा जीवन उसने अपने जन्मनगर और उसके पड़ोस हीमें बिताया और इस प्रकार देशभ्रमणके संबंधमें वह एक पूरा कूपमंडूक था।

हॉब्स, स्पिनोज़ा, द-कार्त, लाइप्निट्ज़के, बर्कले दर्शनोंमें या तो भौतिक तत्त्वोंको ही मूल तत्त्व होनेपर जोर दिया गया था, अथवा प्रकृतिकी उपेक्षा करके विज्ञान (=चेतना)को ही एकमात्र परमतत्त्व कहा गया। कान्टके समय तक विज्ञानका विकास और उसके प्रति शिक्षितोंका सम्मान इतना बढ़ गया था, कि वह उसकी अवहेवलना करके सिर्फ़ विज्ञानवादपर सारा ज़ोर नहीं खर्च कर सकता था—यद्यपि घूमफिरकर उसे भी वहीं पहुँचना था—,और भौतिकवादका तो वह पूर्ण विरोधी था ही। ह्यूमकी भाँति इन दोनों वादोंपर सन्देह करनेको ही वह अपना वाद बनाना पसन्द नहीं करता था। उसके दर्शनका मुख्य लक्ष्य था—ह्यूमके सन्देहवाद, और पुरानी दार्शनिक रूढ़िको सीमित करना, तथा सबसे बढ़कर वह भौतिकवाद, अनीश्वरवादको नष्ट करना चाहता था। अपनेको बुद्धिवादी साबित करनेकेलिए वह भाग्यवाद, भावुकतावाद, मिथ्या-विश्वासका भी विरोधी था। कान्टके वक़्त यूरोपका विचारशील समाज मध्ययुगीन मानस-बंधनोंसे ही मुक्त नहीं हो गया था, बल्कि उसने मध्ययुगके आर्थिक ढाँचे—सामन्तवाद—को भी दो प्रमुख देशों, इंग्लैंड (१४९५-१६००) और फ्रांस (१७८९)से विदा कर पूँजीवादकी ओर ज़ोरसे क़दम उठाया था। इंग्लैंडमें अंग्रेज़ी सामन्तवादकी निरंकुशता चार्लस प्रथमके साथ ही १६४९ में खतम कर दी गई थी। वहाँ सवाल सिर्फ़ एक मुकुटके धूलमें लोटनेका नहीं था, बल्कि मुकुटके साथ ही सनातन मर्यादाओंके प्रति लोगोंकी आस्था उठने लगी थी। अठारहवीं सदीमें अब फ़्रांसकी बारी थी। सामन्तवाद और उसके पिट्ठू धर्मसे दबते-दबते लोग ऊब गए थे। उनके इस भावको व्यक्त करनेकेलिए फ़्रांसने वोल्तेर (१६९४-१७७८), और रूसो (१७१२-७८ ई०) जैसे जबर्दस्त लेखक पैदा किये। वोल्तेर धर्मको अज्ञान और धोखेकी उपज कहता था। उसके मतसे मजहब होशियार पुरोहितोंका जाल है, जिन्होंने कि मनुष्यकी मूर्खता और पक्षपातको इस्तेमालकर इस तरह उनपर शासनका एक नया तरीका निकाला

है। रूसो, वोल्तेरसे भी आगे गया, और उसने कला और विज्ञानको भी शौकीनी और कामचोरपनकी उपज बतलाया, और कहा कि आचारिक पतनके यही कारण हैं। "स्वभावसे सभी मनुष्य समान हैं। यह हमारा समाज है, जिसने वैयक्तिक सम्पत्तिकी प्रथा चला उन्हें अ-समान बना दिया—और आज हम उसमें स्वामी-दास, शिक्षित-अशिक्षित, धनी-निर्धन, पा रहे हैं। एक बड़ा रईस वैरन् दोल्वाश (१७१२-७८ ई०) कह रहा था—"आत्मा कोई चीज़ नहीं है, चिन्तन मस्तिष्ककी क्रिया है, भौतिकतत्त्व ही एकमात्र अमर वस्तु है।"

ऐसी परिस्थितिमें कान्ट समझता था, कि यूरोपके मुक्त होते विचारोंको ईसाइयतकी तंग चहारदीवारीके अन्दर बंद नहीं किया जा सकता, इसलिए चहारदीवारीको कुछ बढ़ाना चाहिए, और ईश्वर, कर्मस्वातंत्र्य तथा आत्माके अमरत्व—धर्मके इन मौलिक सिद्धान्तोंकी रक्षा करनेकी कोशिश करनी चाहिए। इन्हींको लेकर कान्टने अपने प्रखर तर्कके ताने-बाने बुनकर एक ज़बर्दस्त जाल तैयार किया। उसने कहा : तजर्बेपर निर्भर मानव-बुद्धि बहुत दूर तक जा सकती है, इसमें शक नहीं; किन्तु उसकी गति अनन्त तक नहीं हो सकती। उसकी दौड़की भी सीमा है। ईश्वर, परलोक या परजीवन मानवके तजर्बेकी सीमासे बाहरकी—सीमापारीय—चीज़ें हैं, इसलिए उनके बारेमें कोई तर्क-वितर्क नहीं किया जा सकता, तर्कसे न उनका खंडन ही किया जा सकता है, न उन्हें सिद्ध ही किया जा सकता है। उन्हें **श्रद्धा**वश माना जा सकता है—सैद्धान्तिक तौरसे यह श्रद्धा भले ही कमज़ोर मालूम होती है, मगर **व्यवहार**मूलक होनेसे वह काफी प्रबल है।—अर्थात् ईश्वर, तथा परजन्मके विश्वास समाज और व्यक्तिमें शान्ति और संयमका प्रचार करते हैं, जो कि इनके माननेकेलिए काफी कारण हैं।

(१) **ज्ञान**—वास्तविक ज्ञान वह है, जो कि सार्वदैशिक, तथा आवश्यक हो। इन्द्रियाँ हमारे ज्ञानके लिए मसाला जमा करती हैं, और मन अपने स्वभावके अनुकूल तरीकोंसे उन्हें क्रमबद्ध करता है। इसीलिए जो ज्ञान हमें मिलता है वह वस्तुएं—अपने—भीतर जैसी हैं, वैसा नहीं होता,

बल्कि विचारोंके क्रम-संबंधी सार्वदैशिक और आवश्यक ज्ञानके तौरपर होता है। गोया वस्तुएं-अपने-भीतर क्या हैं, इसे हम नहीं जान सकते—यह है कान्टका **सन्देहवाद**। साथ ही, हमारे ज्ञानमें जो कुछ आता है वह तजर्बे या प्रयोगसे आता है—यहाँ वह **प्रयोगवादी** सा मालूम होता है। लेकिन, मन बाहरी बातोंकी कोई पर्वाह न करके, **अपने** तजर्बोंपर **चिन्तन** करता है, और उन्हें अपने स्वभावके अनुसार **ग्रहण** करता है—यह बाह्यार्थसे असंबद्ध मनका अपना निर्णय बुद्धिवाद है। प्रयोगवाद, सन्देहवाद, और बुद्धिवाद तीनोंको सिर्फ़ अपने मतलबके लिए कान्टने इस्तेमाल किया है, और इसका मतलब विचारको बड़ी सीमाबंदीके परे जानेसे रोकना है।

(२) **निश्चय**—ज्ञान सदा निश्चयके रूपमें प्रकट होता है—हम ज्ञानमें चाहे किसी बातकी स्वीकृति (=विधि) करते हैं, या निषेध करते हैं। तो भी प्रत्येक निश्चय **ज्ञान** नहीं है। जो निश्चय "सार्वदैशिक और आवश्यक" नहीं है, वह साइंस-सम्मत नहीं हो सकता। यदि उस निश्चयका कोई अपवाद भी है, तो वह सार्वदैशिक नहीं रहेगा; यदि कोई विरोधी भी आ सकता है तो वह आवश्यक नहीं।

(३) **प्रत्यक्ष**—किसी वस्तुके प्रत्यक्ष करनेकेलिए ज़रूरी है कि वहाँ भौतिक तत्त्व या उसके भीतर जो कुछ भरा (वेदना), और आकार (=रंग, शब्द, भार) हों। इन्हें बुद्धि एक ढाँचे—या देश-कालके चौकठे—में क्रम-बद्ध करती है, तब हमें किसी वस्तुका प्रत्यक्ष होता है। आत्मा (=मन) सिर्फ़ वेदनाओंको प्राप्त करता है, वह सीधे पदार्थों (=विषयों) तक नहीं पहुँच सकता, और न विषय सीधे मन (=आत्मा) तक पहुँच सकते। फिर अपनी एक विशेष शक्ति—आत्मानुभूति[१]—द्वारा उन्हें वह प्रत्यक्ष करता है। तब वह अपनेसे बाहर देश और कालमें रंगको देखता है, शब्दको सुनता है।

---

[१] Intuition.

देश, काल—मनकी बनावट ही ऐसी है, कि वहाँ कोई वैसी वस्तु न होने पर भी देश और कालका प्रत्यक्ष करता है—वह वस्तुओंको ही देश और कालमें (अर्थात् देश-कालके साथ) प्रत्यक्ष नहीं करता, बल्कि खुद देश-काल-को स्वतंत्र वस्तु के तौर पर प्रत्यक्ष करता है। हमारी आन्तरिक मानस-क्रिया कालकी सीमाके भीतर अर्थात् एकके बाद दूसरा करके होती है; और बाहरी इन्द्रिय-ज्ञान देशकी सीमाके भीतर होता है, अर्थात् हम उन्हीं चीजोंका प्रत्यक्ष कर सकते हैं, जिनका कि हमारी इन्द्रियोंसे संबंध है। देश और काल वस्तु-सत्य अर्थात् बिना दूसरेकी सहायताके खुद अपनी सत्ताके धनी नहीं हैं, और नहीं वस्तुओंके गुण या संबंध ही हैं। वे तरीके या प्रकार जिनसे कि हमारी इन्द्रियाँ विषयोंको ग्रहण करती हैं, इन्द्रियोंके स्वरूप या क्रियाएं हैं। देश और काल आत्मानुभूतिसे ही जाने जाते हैं, वे बाहरी इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं—इसका मतलब है, कि यदि आत्मानुभूति या देश-कालके प्रत्यक्षीकरणकी शक्ति रखनेवाले सत्त्व जगत्में न होते तो निश्चय ही जगत् हमारे लिए देशकालवाला न रह जाता। बिना देशके हम वस्तुका ख्याल भी नहीं कर सकते, और न बिना वस्तुके हम देशका ख्याल कर सकते, इसलिए वस्तुओं या बाहरी दुनिया-संबंधी विचारके लिए देशका होना ज़रूरी है। कालके बारेमें भी यही बात है।

(४) सीमापारी—इस प्रकार देश-काल इन्द्रियोंसे संबंध नहीं रखते, वह अनुभव (=तजर्बे) की चीज़ें नहीं हैं, बल्कि उनकी सीमासे परे—**सीमापारी**[1]—चीज़ें हैं। सीमापारी होते इन्द्रिय-अगोचर होते भी वस्तुओं-के ज्ञानसे वह चीज़ें कितना नित्य संबंध रखती हैं, यह बतला आए हैं।

(५) वस्तु-अपने-भीतर[2]—बाहरी जगतका संबंध—सन्निकर्ष—इन्द्रियोंसे होता है, इन्द्रियाँ उनकी सूचना मनको देती हैं, मन उनकी व्याख्या स्वेच्छापूर्वक खुद करता है। इन्द्रियोंका सन्निकर्ष वस्तुओंके बाहरी दिखावेसे होता है। फिर मन वस्तुके बारेमें जो व्याख्या करता है

---

[1] Transcental.   [2] Thing-in-itself, Ding-an-sich.

वह इसी दिखावेकी सूचनाके बलपर होता है। इसलिए **वस्तु-अपने-भीतर** क्या है, यह ज्ञान इन्द्रिय या तजर्बेका विषय नहीं है, वह इन्द्रियकी सीमासे परेकी—इन्द्रिय-सीमा-पारी—है। प्रत्यक्षसे या तो वस्तुओंकी आभा हमें मिलती है, या उनके संबंधका ज्ञान होता है, लेकिन वस्तु-अपने-भीतर क्या है, इसे न वह आभा बतला सकती है; न सम्बन्ध। वस्तु-अपने-भीतर (=वस्तु-सार) अज्ञेय है, उसे इन्द्रियाँ नहीं जान सकतीं। हाँ, उसके होनेका पता दूसरी तरहसे लग सकता है, वह है आन्तरिक आत्मानुभूति, जो इन्द्रियोंसे यह कहती है—'तुम्हारे आनेकी सीमा यहीं तक है, इससे आगे जानेका तुम्हें अधिकार नहीं।'

(आत्मा)—हम आत्माका ज्ञान—साक्षात्कार नहीं कर सकते, किन्तु उसके अस्तित्वपर मनन किया जा सकता है। हम इसपर चिन्तन कर सकते हैं—ज्ञान सम्भव ही नहीं है, जबतक कि एक स्वयंचेतन, विचारों को स्मृतिके रूपमें जोड़नेवाला तत्त्व आत्मा न हो। किन्तु इस आत्माको सीधे इन्द्रियोंकी सहायतासे हम नहीं जान सकते, क्योंकि वह **सीमा-पारी,** इन्द्रिय-अगोचर है।

इस तरह सीमापारी वस्तुओंका होना भी संभव है। वस्तु-अपने-भीतर या **वस्तुसार**[१] भी इसी तरह अज्ञेय है, किन्तु वह है ज़रूर, अन्यथा इन्द्रिय तथा विषयके संबंधसे जो वेदना होती है, वह निराधार होगी—आखिर बाहरी जगत् या वस्तुकी जिस आभाका ज्ञान हमें होता है, उसके पीछे कोई वस्तुसार ज़रूर है, जो कि मनसे परेकी चीज है, जो हमारी इन्द्रियोंको प्रभावित करता है, और हमारे ज्ञानके लिए **विषय** प्रस्तुत करता है। इस आधार वस्तु-अपने-भीतर (वस्तुसार)के बिना वह झाँकी ही नहीं मिलती, जिसकी बुनियादपर कि हमारा सारा ज्ञान खड़ा है।

कान्ट बुद्धि और समझके बीच फरक करता है।—समझ वह है जो कि इन्द्रिय द्वारा लाई सामग्री—वेदना—पर आधारित है। लेकिन

---

[१] Nomena.

बुद्धि समझसे परे जाती है, और इन्द्रिय-अगोचर ज्ञान—जिस ज्ञानका कि कोई प्रत्यक्ष विषय नहीं है जो शुद्ध बोध रूप है—को उपलब्ध करना चाहती है। मन या बुद्धिकी साधारण क्रियाको समझ कहते हैं। वह हमारे तजर्बे—विषय-साक्षात्कारों—को समान रूपसे तथा नियमों और सिद्धान्तों के अनुसार एक दूसरेके साथ संबंध कराती हैं, और इस प्रकार हमें निश्चय प्रदान करती हैं।

निश्चय—समझ जिन निश्चयोंको हमारे सामने प्रस्तुत करती है, कान्टने उनके बारह भेद गिनाये हैं—

(१) **सामान्य निश्चय**—जैसे सारी धातुएं तत्त्व हैं।

(२) **विशेष निश्चय**—जैसे कुछ वृक्ष आम हैं।

(३) **एकत्व निश्चय**—जैसे अकबर भारतका सम्राट् था। इन तीन निश्चयोंमें चीजें गुण-विभाग-योग, बहुत्व, एकत्व—के रूपमें देखी जाती हैं।

(४) **स्वीकारात्मक निश्चय**—जैसे गर्मी एक प्रकारकी गति है।

(५) **नकारात्मक निश्चय**—जैसे मनमें विस्तार परिमाण नहीं है।

(६) **असीम निश्चय**—जैसे मन अ-विस्तृत है। इन तीन निश्चयोंमें वास्तविकता (भाव), अभाव, और सीमाके रूपमें गुण-विभाग दिखाई देते हैं।

(७) **स्पष्ट निश्चय**—जैसे देह भारी है।

(८) **आशंसात्मक निश्चय**—जैसे यदि हवा गर्म रही तो तापमान बढ़ेगा।

(९) **विकल्पात्मक०**—जैसे द्रव्य या तो ठोस होते हैं या तरल, या गेसीय। ये तीनों निश्चय संबंधों—नित्य (समवाय या अयुतसिद्ध)-संबंध, आधार (और संयोग)-संबंध, कार्यकारण-संबंध, समुदाय (सक्रिय निष्क्रियके आपसी)-संबंध—को बतलाते हैं।

(१०) **सन्देहात्मक निश्चय**—जैसे 'हो सकता है यह ज़हर हो।'

(११) **आग्रहात्मक निश्चय**—'यह ज़हर है।'

(१२) **सुपरीक्षित निश्चय**—'हर एक कार्यका कोई कारण होता है।

ये तीनों निश्चय संभव-असंभव, सत्ता-असत्ता, आवश्यकता-संयोग—इन स्थितियोंको बतलाते हैं।

ये गुण-संबंध, स्थिति, इन्द्रिय-गोचर विषयोंमें ही हैं, इन्द्रिय-अगोचर (सीमापारी)में नहीं।

वस्तुसार (वस्तु-अपने-भीतर), अमर आत्मा, कर्मस्वातंत्र्य, ईश्वर यदि हमारी **समझ**के विषय नहीं हैं, तो उससे उनका न होना सावित नहीं होता। उनके अस्तित्वको हमें बुद्धि नहीं बतलाती है, क्योंकि वह **सीमापारी** पदार्थ हैं। तो भी आचारिक कानून भी हमें वाध्य करते हैं, कि हम ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार करें, नहीं तो अहिंसा, सत्यभाषण, चोरी-न-करना, आदि आचारोंके पालन करनेमें नियंत्रण नहीं रह जायेगा।

इस प्रकार कान्टने भी वही काम करना चाहा जो कि विशप वर्कलेने किया था। हाँ, जहाँ वर्कलेने "समझ"का आश्रय ले भौतिकतत्वोंके अस्तित्वका खंडन तथा विज्ञानका समर्थन किया; वहाँ कान्टने भौतिक तत्वोंके ज्ञानकी सच्चाईपर सन्देह पैदाकर उनके अस्तित्वको खतरेमें डाल दिया और ईश्वर-आत्मा-मनके चूँचूँके मुरब्बे—वस्तु-अपने-भीतर या वस्तुसार—को इन्द्रियोंसे परे—सीमा-पारी—बना, ईश्वर-आत्मा-धर्म-आचार (और समाजके वर्तमान ढाँचे)को शुद्ध बुद्धिसे "सिद्ध" करनेकी कोशिश की।

किन्तु क्या बुद्धि और भौतिक प्रयोगके अस्त्रको कुंठित कर कान्ट अपने अभिप्रायमें सफल हुआ? मुमकिन है बुद्धि और भौतिक तजर्बेसे जिन्हें सरोकार नहीं, वह ऐसा समझनेकी गलती करें; किन्तु कान्टके तीक्ष्ण तर्कका क्या परिणाम हुआ, इसे मार्क्सके समकालीन जर्मन विचारक हेनरिख़ **हाइने**के शब्दोंमें सुनिए—

"तब (कान्टके बाद)से सोचनेवाली बुद्धिके क्षेत्रसे ईश्वर निर्वासित हो गया। शायद कुछ शताब्दियाँ लगें जब कि उसकी मृत्यु-सूचना सर्व-साधारण तक पहुँचे; लेकिन हम तो यहाँ देरसे इस संबंधमें शोक कर रहेहैं। आप शायद सोच रहे हैं, कि अब (शोक करनेकेलिए कुछ नहीं है), सिवाय इसके कि (अपने-अपने) घर जायें?

"अभी नहीं, अपनी कसम ! अभी एक पीछे आनेवाली चीज़का अभिनय करना है। दुःखान्त नाटकके बाद प्रहसन आ रहा है।"

"अब तक इम्मानुयेल कान्ट एक गंभीर निठुर दार्शनिकके तौरपर सामने आया था। उसने स्वर्ग(-दुर्ग)को तोड़कर सारी सेनाको तलवारके घाट उतार दिया। विश्वका शासक (ईश्वर) बेहोश अपने खूनमें ही तैर रहा है। वहाँ दयाका नाम नहीं रहा। वही हालत पितृतुल्य शिवता, और आजके कष्टोंकेलिए भविष्यमें मिलनेवाले सुफलकी है। आत्माकी अमरता अपनी आखिरी साँस गिन रही है! उसके कंठमें मृत्युकी यंत्रणा ध्वनित हो रही है! और बूढ़ा भगवानदास पास खड़ा है, उसका छत्ता उसकी बाँह में है। वह एक शोकपूर्ण दर्शक है—व्यथा जनित पसीनेसे उसकी भौएं भीगी हैं, उसके गालोंपर अश्रुबिन्दु टपक रहे हैं।

"तब इम्मानुयेल कान्टका दिल पसीजता है; और अपनेको दार्शनिकोंमें महान् दार्शनिक ही नहीं बल्कि मनुष्योंमें भलामानुष प्रकट करनेकेलिए वह आधी भलमनसाहतसे और आधा व्यंगके तौरपर सोचता है—

"बूढ़े भगवानदासकेलिए एक देवताकी ज़रूरत है, नहीं तो बेचारा सुखी नहीं रह सकेगा; और वस्तुतः लोगोंको इस दुनियामें सुखी रहना चाहिए। व्यावहारिक साधारण बुद्धिका यह तक़ाज़ा है।

"अच्छी बात, ऐसा ही हो क्या पर्वाह ! **व्यावहारिक बुद्धि**को किसी ईश्वर या और किसीके अस्तित्वकी स्वीकृति देने दो।"

"परिणामस्वरूप कान्ट सैद्धान्तिक और व्यावहारिक बुद्धिके भेदपर तर्क-वितर्क करता है, और व्यावहारिक बुद्धिकी सहायतासे उसी देवता (=ईश्वर)को फिर जिला देता है, जिसे कि सैद्धान्तिक बुद्धिने लाशके रूपमें परिणत कर दिया था।[१]

"शुद्ध बुद्धि"के लिखनेके बाद "व्यावहारिक बुद्धि" लिखकर कान्टने जो लीपापोती करनी चाही, हाइननें यहाँ उसका सुन्दर खाका खींचा है।

---

[१] (Germany, Heine; works, Vol. V.)

§ २. सन्देहवाद

ह्यूम (१७११-७६ ई०)—डेविड ह्यूम् एडिनबर्ग (स्काटलैंड)में, कान्टसे १३ साल पहिले पैदा हुआ था। इसने कानूनका अध्ययन किया था। पहिले जेनरल सेन्टक्लेर फिर लार्ड हर्टफोर्डका सेक्रेटरी रहा, और अन्तमें १७६७-६में इंगलैंडका अण्डर-सेक्रेटरी (=उपमंत्री) रहा। इस प्रकार ह्यूम् शासक वर्गका सदस्य ही नहीं, खुद एक शासक तथा सम्पत्तिवाली श्रेणीसे संबंध रखता था। मध्यम तथा उच्चवर्गीय शिक्षित लेखक सदा यह दिखलाना चाहते हैं, कि वह वर्ग और वर्गस्वार्थसे बहुत ऊपर उठे हुए हैं; लेकिन कोई भी आँख रखनेवाला इस धोकेमें नहीं आ सकता। अक्सर जान-बूझकर—कभी-कभी अनजाने भी—लेखक अपनी चेष्टाओंसे उस स्वार्थकी पुष्टि करते हैं, जिससे उनकी "दाल-रोटी" चलती है। हम बिशप् बर्कलेको देख चुके हैं, कि किस तरह बुद्धिकी आँखमें धूल झोंक, प्रत्यक्ष—अनुमानगम्य—बुद्धिगम्य—भौतिक तत्त्वोंसे इन्कारकर उसने लंबे-चौड़े आकर्षक विज्ञानतत्त्वका समर्थन किया। और जब लोग वस्तु-सत्त्यको छोड़ इस ख्याली विज्ञानको एक मात्र तत्त्व मानकर आँख मूँद झूमने लगे, तो फिर ईश्वर, धर्म, आत्मा, फिरिश्तोंको चुपकेसे सामने ला बैठाया। कान्टको बर्कलेकी यह चेष्टा कुछ बोदी तथा गँवारूपन लिये हुए मालूम हुई। उसने उसे और ऊपरी तलपर उठाया। भौतिक तत्व साधारण बुद्धि (=समझ) गम्य है, उनकी सत्ता भी आंशिक सत्त्य हो सकती है, किन्तु असली तत्त्व वस्तु-अपने-भीतर (=वस्तुसार) है, जिसकी सत्ता शुद्ध-बुद्धिसे सिद्ध होती है। समझ द्वारा ज्ञेय वस्तुओंसे कहीं अधिक सत्त्य है, शुद्ध-बुद्धिगम्य वस्तुसार। तर्क, तजर्बे, समझ, साधारण बुद्धिके क्षेत्रकी सीमा निर्धारित कर उनकी गतिको रोक कान्टने समझसे परे एक सुरक्षित क्षेत्र तैयार किया, और इस प्रशान्त, झगड़े-झंझट-रहित स्थानमें लेजाकर ईश्वर, आत्मा, धर्म, आचार (वैयक्तिक सम्पत्ति, सड़ी सामाजिक व्यवस्था) को बैठा दिया। यह था कान्टकी अप्रतिम प्रतिभाका चमत्कार।

आइये अब हम इंगलैण्डके टोरी शासक (अन्डर-सेक्रेटरी) ह्यमको भी देखें। कान्टसे पहिलेके साइंसजन्य विचार-स्वातंत्र्यके प्रवाहसे पुरानी नींवकी रक्षा करनेके लिए पहिलेके दार्शनिकोंके प्रयत्नको उसने देखा था, और यह भी देखा था, कि वस्तु-जगत् और उससे प्राप्त सच्चाइयाँ इतनी प्रबल हैं, कि उनका सामना उन हथियारोंसे नहीं किया जा सकता, जिनसे द-कार्त, लाइप्निट्ज़, बर्कलेने किया था। भौतिक तत्त्वोंको गलत साबित करनेसे ह्यूम् सहमत था, किन्तु इसे वह फ़जूलकी जवाबदेही समझता था, कि सामने देखी जानेवाली वस्तुको तो इन्कार कर दिया जाये, और इन्द्रिय अनुभवसे परे किसी चीज़—विज्ञान—को सिद्ध करनेकी जिम्मेवारी ली जाये। ह्यूम पूँजीवादी युगके राजनीतिज्ञोंका एक अच्छा पथप्रदर्शक था। उसने कहा—भौतिकतत्त्वोंको सिद्ध मत होने दो; विज्ञानको सिद्ध करके जिस ईश्वर या धर्मको लाना चाहते हो, वह समाजके ढाँचेको क्रान्तिकी लपटसे बचानेके लिए ज़रूरी हैं, किन्तु उनका नाम लेते ही लोग हमारी नेकनीयतीपर शक करने लगेंगे, इसलिए अपनेको और सच्चा साबित करनेके लिए उनपर भी दो चोट लगा देनी चाहिए और इस प्रकार अपनेको दोनोंसे ऊपर रखकर मध्यस्थ बना देना चाहिए। यदि एक बार हम भौतिक तत्वोंके अस्तित्वमें सन्देह पैदा कर देंगे और बाहरी प्रकाशको रोक देंगे, तो फिर अँधेरेमें पड़ा जनसमुद्र किस्मतपर बैठ रहेगा। और फिर इस सन्देहवादसे हमारी हानि ही क्या है—उससे न हमारे क्लाइव झूठे हो सकते हैं और न माखन-रोटी या शम्पेन ही।

अब जरा इस मध्यस्थ, दूधका दूध पानीका पानी करनेवाले राजमंत्रीकी दार्शनिक उड़ानको देखिए।

(१) दर्शन—हम जो कुछ जान सकते हैं, वह है हमारी अपनी मानसिक छाप—संस्कार। हमें यह अधिकार नहीं है कि भौतिक या अभौतिक तत्त्वोंकी वास्तविकता सिद्ध करें। हम उतनेहीको जान सकते हैं, जितनोंको कि इन्द्रियाँ और मन ग्रहण करते हैं, और इस क्षेत्रमें भी सम्भावनामात्रके बारेमें हम कह सकते हैं। इस अनुभव (=प्रत्यक्ष, अनुमान) से बढ़कर ज्ञान प्राप्त करनेका हमारे पास कोई साधन नहीं है।

(२) **स्पर्श**—हमारे ज्ञानकी सारी सामग्री बाहरी (वस्तु द्वारा प्राप्त) और भीतरी वस्तुओंके स्पर्शों[1]—छापों—से प्राप्त होती है। जब हम देखते, अनुभव, प्यार, शत्रुता, इच्छा या संकल्प करते हैं, यानी हमारी सभी वेदनाएं, आसक्तियाँ और मनोभाव जब आत्मामें पहिले-पहिल प्रकट होते हैं, तो हमारे सबसे सजीव साक्षात्कार स्पर्श ही हैं। बाहरी स्पर्श या वेदनाएं आत्माके भीतर अज्ञात कारणोंसे उत्पन्न होती हैं। भीतरी स्पर्श अधिकतर हमारे विचारोंसे आते हैं, अर्थात् एक स्पर्श हमारी इन्द्रियों-पर चोट करता है, और हम सर्दी-गर्मी, सुख-दुख अनुभव करते हैं।

(३) **विचार**—स्पर्शोंके बाद ज्ञानसे संबंध रखनेवाली दूसरी महत्त्व-पूर्ण चीज़ विचार[2] हैं। हमारे विचार बिलकुल ही भिन्न-भिन्न असंबद्ध संयोग-वश मिले पदार्थ नहीं हैं। एक दूसरेसे मिलते वक्त उनमें एक खास दर्जे तक नियम और व्यवस्थाकी पाबन्दी देखी जाती है। वह एक तरहकी एकताके सूत्रमें बद्ध दीख पड़ते हैं, जिन्हें कि हम **विचार-संबंध** कहते हैं।

(४) **कार्य-कारण**—कार्य कारणसे एक बिलकुल ही अलग चीज़ है, कारणको हम कार्यमें हर्गिज नहीं पा सकते। कार्य-कारणके संबंधका ज्ञान हमें निरीक्षण और अनुभवसे होता है। कार्य-कारणका संबंध यही है, कि एकके बाद दूसरा आता है—कार्य-नियत-पूर्व-वृत्ति कारण, कारण-नियत-पश्चाद्-वृत्ति कार्य—हम यहाँ एक घटनाके बाद दूसरीको होते देखते हैं।

(५) **ज्ञान**—हम सिर्फ प्रत्यक्ष (साक्षात्) मात्र करते हैं, हम इससे अधिक किसी चीज़का पूर्ण ज्ञान रखते हैं, यह गलत है। जो प्रत्यक्ष है, वही वह वस्तु नहीं है, जिसकी कि एक तेज झाँकी हमें उस रूपमें मिलती है। वस्तुकी सिर्फ बाहरी सतह और उससे भी एक भाग मात्रका प्रत्यक्ष होता है। दार्शनिक विचार या आत्मानुभूतिसे और अधिक जान सकेंगे, इसकी कोई आशा नहीं, क्योंकि दार्शनिक निर्णय और कुछ नहीं, सिर्फ नियमित तथा शोधित साधारण जीवनका प्रतिबिंब मात्र है। इस तरह

---

[1] Impressions. [2] Ideas.

हमारा ज्ञान **सतही**—ऊपर-ऊपरका है, और उससे किसी चीजकी वास्तविकता स्थापित नहीं की जा सकती।

(६) आत्मा—"जब मैं खूब नज़दीकसे उस चीजपर विचार करता हूँ, जिसे कि मैं **अपनी आत्मा** कहता हूँ, तो वहाँ सदा एक या दूसरी तरहका प्रत्यक्ष (=अनुभव) सामने आता है। वहाँ कभी मैं **अपनी आत्मा**को नहीं पकड़ पाता।" आत्मापर भीतरसे चिन्तन करनेपर वहाँ मिलता है—गर्मी-सर्दी, प्रकाश-अन्धकार, राग-द्वेष, सुख-पीड़ाका अनुभव। इन्हें छोड़ वहाँ शुद्ध अनुभव कभी नहीं मिलता। इस प्रकार **आत्मा**को साबित नहीं किया जा सकता।

(७) ईश्वर—जब ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता, तो उसके होनेका प्रमाण क्या है? उसके गुण आदि। किन्तु ईश्वरके स्वभाव, गुण, आज्ञा और भविष्य योजनाके संबंधमें कुछ भी कहनेके लिए हमारे पास कोई भी साधन नहीं है। घड़ेसे कुम्हार—अर्थात् कार्यसे कारण—के अनुमानसे हम ईश्वरको सिद्ध नहीं कर सकते। जब हम एक घरको देखते हैं, तो पक्की तौरसे इस निश्चयपर पहुँचते हैं, कि इसका कोई बनानेवाला मिस्त्री या कारीगर था। क्योंकि हमने सदा मकान-जातिके कार्योंको कारीगर-जातिके कारणों द्वारा बनाये जाते देखा है। किन्तु विश्व-जातिके कार्योंको ईश्वर-जातिके कारणों द्वारा बनते हमने कभी नहीं देखा, इसलिए यहाँ घर और कारीगरके दृष्टान्तसे ईश्वरको नहीं सिद्ध कर सकते। आखिर अनुमानमें, जिस जातीय कार्यको जिस जातीय कारणसे उत्पन्न होता देखा गया, उसी जातिके भीतर ही रहना पड़ता है। ईश्वर पूर्ण, अचल, अनन्त है, ये ऐसे गुण हैं, जिन्हें निरन्तर परिवर्त्तनशील—क्षण-क्षण पैदा होने तथा मरनेवाला—मन नहीं जान सकता; जब एक मन दूसरे क्षण रहता ही नहीं, तो नया आनेवाला मन कैसे जान सकता है, कि ईश्वरका अमुक गुण पहिले भी मौजूद था। मनुष्य अपने परिमित ज्ञानसे ईश्वरका अनुमान कर ही नहीं सकता, यदि उसके अज्ञानसे, अनुमान करनेका आग्रह किया जाये, तो फिर यह **दर्शन** नहीं हुआ।

विश्वके स्वभावसे ईश्वरके स्वभावका अनुमान बहुत घाटेका सौदा रहेगा। कार्यके गुणके अनुसार ही हम कारणके गुणका अनुमान कर सकते हैं। कार्य-जगत् अनन्त नहीं सान्त, अनादि नहीं सादि है, इसलिए ईश्वरको भी सान्त और सादि मानना पड़ेगा। जगत् पूर्ण नहीं अपूर्ण, क्रूरता, संघर्ष, विषमतासे भरा हुआ है; और यह भी तब जब कि ईश्वरको अनन्तकालसे अभ्यास करते हुए बेहतर जगत्के बनानेका मौक़ा मिला था। ऐसे जगत्का कारण ईश्वर तो और अपूर्ण, क्रूर, संघर्ष-विषमता-प्रेमी होगा।

मनुष्यकी शारीरिक और मानसिक सीमित अवस्थाओंके कारण सदाचार, दुराचारका भी उसपर दोष उतना नहीं आ सकता; आखिर वह ईश्वर हीकी देन है।

(८) **धर्म**—अटकलबाज़ी, कुतूहल, या सत्यताका शुद्ध प्रेम भी धर्म और ईश्वर-विश्वासको पैदा करता है, किंतु इनके मुख्य आधार हैं—सुखके लिए भारी चिन्ता, भविष्यकी तकलीफोंका भय, बदला लेनेकी जबर्दस्त इच्छा, पान-भोजन और दूसरी आवश्यक चीजोंकी भूख।

ह्यूम्ने यद्यपि बर्कले, कान्ट जैसोंके तर्कोंपर भी काफी प्रहार किया है, और दर्शनको धर्मका चाकर बननेसे रोकना चाहा; किन्तु दूसरी तरफ ज्ञानको असंभव मानकर उसने कोई भावात्मक दर्शन नहीं पेश किया। दर्शनका प्रयोजन सन्देह मात्र पैदा करना नहीं होना चाहिए, क्योंकि जीवनके होनेमें सन्देहकी गुंजाइश नहीं है।[1]

§ ३–भौतिकवाद

अठारहवीं सदीमें भौतिकवादी विचारों, तथा सामाजिक परिवर्तन संबंधी ख्याल जोर पकड़ रहे थे, इसे हम कह चुके हैं। इस शताब्दीमें

---

[1] **साधु शान्तिनाथ भी अपने** "Critical Examination of the philosophy of Religion" (2 vols.) **में ह्यूम्का ही अनुसरण करते हैं।**

भौतिकवादी दार्शनिक भी काफी हुए थे, जिनमें प्रमुख थे—हर्टली (१७०४-५७ ई०), ला मेत्री (१७०६-५१), हल्वेशियो (१७१५-७१), दा-अलेम्वर (१७१७-८३), द्'ोल्वाश् (१७२३-८६), दीदेरो (१७३१-८४), प्रीस्टली (१७३३-१८०४), कबानी (१७५७-१८०८)।

भौतिकवादका समर्थन सिर्फ दार्शनिकोंके प्रयत्नपर ही निर्भर नहीं था, बल्कि सारा साइंस—साइंसदानोंके वैयक्तिक विचार चाहे कुछ भी हों—भौतिकवादी प्रवृत्ति रखता था, इसीलिए यह अकेला अस्त्र दार्शनिकोंके हजारों दिमागी तर्कोंको काटनेके लिए पर्याप्त था। इसीलिए अठारहवीं सदीकी भौतिकवादी प्रगति इसपर निर्भर नहीं है कि उसके दार्शनिकोंकी संख्या कितनी है, या वह कितने शिक्षितोंको प्रिय हुआ।

हर्टली मनोविज्ञानको शरीरका एक अंश मानता था। दे-कार्त यद्यपि द्वैतवादी ईश्वर-विश्वासी कट्टर कैथलिक ईसाई था, लेकिन उसके दर्शनने अनजाने फ़्रांसमें भौतिकवादी विचारोंके फैलानेमें सहायता की। दे-कार्तका मत था कि निम्न श्रेणीके प्राणी चलते-फिरते यंत्र भर हैं; यदि प्राणीके सभी अंग ठीक जगहपर लगे हों, तो बिना आत्माके सिर्फ इन्द्रियों द्वारा उत्पादित उत्तेजनासे भी शरीर चलने फिरने लगेगा। इसीको लेकर ला-मेत्री और दूसरे फ़्रेंच भौतिकवादियोंने आत्माको अनावश्यक साबित किया, और कहा कि सभी सजीव वस्तुएं भौतिक तत्वोंसे बने चलते-फिरते स्वयं वह यंत्र हैं। ला मेत्रीने कहा—जब दूसरे प्राणी, दार्शनिक दे-कार्तके मतसे, बिना आत्माके भी चल-फिर, सोच-समझ सकते हैं, तो मनुष्यमें ही आत्माकी क्यों जरूरत है? सभी प्राणी एक ही विकासके नियमोंका अनुसरण करते हैं, अन्तर है तो उनके विकासके दर्जेमें। कबानीके ग्रन्थ फ़्रांसमें भौतिकवादके प्रचारमें सहायक हुए थे। उसकी कितनीही कहावतें बहुत मशहूर हैं। "शरीर और आत्मा एक ही चीज हैं।" "मनुष्य ज्ञानतंतुओंका गट्ठा है।" "पित्ता जिस तरह रस-प्रस्राव करता है, वैसे ही दिमाग विचारोंका प्रस्राव करता है।" "भौतिक तत्त्वोंके नियम मानसिक आचारिक घटनाओंपर भी लागू हैं।"

भौतिकवादपर एक आक्षेप किया जाता था, कि उसके अनुसार ईश्वर, परलोकका न डर होनेसे दुनियामें दुराचार फैलने लगेगा, लोग स्वार्थान्ध हो दूसरेकी धन-सम्पत्तिको लूटनेमें नहीं हिचकिचायेंगे। किन्तु, अठारहवीं सदीने इसका जवाब भौतिकवादियोंके आचार-विचारसे दे दिया। ये भौतिकवादी सबसे ज्यादा वैयक्तिक सम्पत्ति और सामाजिक असमानताके विरोधी थे, व्यक्ति नहीं सारे समाजके कल्याणपर जोर देते थे। हेल्वेशियो ने कहा था—प्रबोधपूर्ण आत्म-स्वार्थ, आचारकी सबसे अधिक दृढ़ बुनियाद बन सकता है।

द्वादश अध्याय

उन्नीसवीं सदीके दार्शनिक

अठारहवीं सदी साइंसका प्रारंभिक काल था, लेकिन उन्नीसवीं सदी उसके विकासके विस्तार और गति दोनोंमें ही पहिलेसे तुलना न रखती थी। अब साइंस पर्वतका आरंभिक चश्मा नहीं बल्कि एक महानदी बन गया था। अब उसे दर्शनकी पर्वाह नहीं थी, बल्कि अपनी प्रतिष्ठा कायम रखनेके लिए दर्शनको साइंसकी सहायता आवश्यक थी, और इस सहायताको बिना उसकी मर्जीके लेनेमें दर्शनने परहेज नहीं किया।

उन्नीसवीं सदीमें ज्योतिष-शास्त्रने ग्रहों-उपग्रहोंकी छान-बीन ही नहीं पूरी की, बल्कि सूर्यकी दूरी ज्यादा शुद्धतासे मालूम की। स्पेक्ट्रस्कोप (वर्ण-रश्मि-दर्शक-यंत्र) की मददसे सूर्य, तारोंके भीतर मौजूद भौतिक तत्त्वों, उनके ताप, घनता आदि तथा दूरी मालूम हुई और तारोंके बारेमें चले आते कितने ही भ्रम और मिथ्याविश्वास दूर हो गए।

गणितके क्षेत्रमें लोबाचेस्की, रीमान आदिने ओकलेदिससे अलग तथा अधिक शुद्ध ज्यामितिका आविष्कार किया।

भौतिक साइंसमें यूल, हेल्महोल्ट्ज़, केल्विन्, एडिंग्टनने नये आविष्कार किये। वैज्ञानिकोंने सिर्फ परमाणुओंकी ही छानबीन नहीं की बल्कि टाम्सन परमाणुओंको भी तोड़कर एलेक्ट्रनपर पहुँच गया।[1] बिजलीसे परिचय ही नहीं बल्कि शताब्दीके अन्त तक सड़कों और घरोंको बिजली प्रकाशित करने लगी।

रसायन-शास्त्रमें परमाणुओंकी नाप-तोल होने लगी, और हाइड्रोजन-

---

[1] देखो "विश्वकी रूपरेखा"।

को बटखरा बना परमाणु-तत्त्वोंके भार आदिका पता लगाया गया। १८२८ ई०में वोलरने सिर्फ प्राणियोंमें मिलनेवाले तत्त्व ऊरियाको रसायनशालामें कृत्रिम रूपसे बनाकर सिद्ध कर दिया, कि भौतिक नियम प्राणि-अप्राणि दोनों जगतमें एकसे लागू हैं। शताब्दीके आरंभमें ३० के करीब मूल रसायन तत्त्व ज्ञात थे, किन्तु अन्तमें उनकी संख्या ८० तक पहुँच गई।

प्राणिशास्त्रमें अनुवीक्षणसे देखे जानेवाले बेक्टीरिया और दूसरे कीटाणुओंकी खोज उनके गुण आदिने विज्ञानके ज्ञान-क्षेत्रको ही नहीं बढ़ाया, बल्कि पास्तोरकी इन खोजोंने घाव आदिकी चिकित्सा तथा, टीनबंद खाद्यपदार्थोंकी तैयारीमें बड़ी सहायता पहुँचाई। डेवीने बेहोशीकी दवा निकालकर चिकित्सकोंके लिए आपरेशन आसान बना दिया। शताब्दीके मध्यमें डार्विनके **जीवन-विकास**के सिद्धान्तने विचारोंमें भारी क्रान्ति पैदा की, और जड़-चेतनकी सीमाओंको बहुत नजदीक कर दिया।

इस तरह उन्नीसवीं सदीने विश्व-संबंधी मनुष्यके ज्ञानमें भारी परिवर्त्तन किया, जिससे भौतिकवादको जहाँ एक ओर भारी सहायता मिली, वहाँ "दार्शनिकों"की दिक्कतें बहुत बढ़ गईं। इसी तरह फिख़्टे, हेगेल्, शोपनहार जैसे विज्ञानवादियोंने भौतिकतत्त्वोंसे भी परे विज्ञानतत्त्वपर पहुँचनेकी कोशिश की। शेलिङ्, नीट्शेने द्वैतवादी बुद्धिवादका आश्रय ले भौतिकवाद-की बाढ़को रोकना चाहा। स्पेन्सरने ह्यूम्के मिशनको सँभाला और अपने अज्ञेयतावाद द्वारा समाजके आर्थिक-सांस्कृतिक ढाँचेको बरकरार रखनेकी कोशिश की। लेकिन इसी शताब्दीको मार्क्स जैसे प्रखर दार्शनिकको पैदा करनेका सौभाग्य है, जिसने साइंससे अपने दर्शनको सुव्यवस्थित किया; और उसके द्वारा दर्शनको समाजके बदलनेका साधन बनाया।

§ १—विज्ञानवाद

१—फ़िख़्टे (१७६५-१८१४ ई०)

योहन गॉटलीप् फिख़्टे सेक्सनी (जर्मनी)में एक गरीब जुलाहेके घर पैदा हुआ था।

परमतत्त्व--कान्टने बहुत प्रयत्नसे **वस्तुसार** (वस्तु-अपने-भीतर)को समझकी सीमाके पार **बुद्धि**-अगम्य वस्तु साबित किया था। फ़िख़्टेने कहा, कि वस्तुसार भी मनसे परेकी चीज नहीं, बल्कि मन हीकी उपज है। सारे तजर्बे तथा मनके सिर्फ आकार ही नहीं "परम-आत्मा[1]से उत्पन्न हुए हैं, बल्कि उत्पत्तिमें वैयक्तिक मनोंने भी भाग लिया है।" "परम-आत्माने अपनेको ज्ञाता (=आत्मा) और ज्ञेय (=विषय)के रूपमें विभक्त किया; क्योंकि आत्माके आचारिक विकासके लिए ऐसे बाधा डालनेवाले पदार्थोंकी ज़रूरत है, जिनको कि आत्मा अपने आचारिक प्रयत्नसे पार करे। इन्हीं कारणोंसे परम-आत्माको अनेक आत्माओंमें भी विभक्त होना पड़ता है; यदि ऐसा न हो तो उन्हें अपने-अपने कर्त्तव्योंको पूरा करनेका अवसर नहीं मिलेगा। आत्माओंके अनेक होनेपर भी वह उस एक **आचारिक विधान**के प्रकाश हैं, जिसे कि परम-आत्मा या ईश्वर कहते हैं। फिख़्टेका परमतत्त्व स्थिर नहीं, बल्कि सजीव, प्रवाह है।

ईश्वरको ठोंक-पीटकर, हर एक दार्शनिक, अपने मनका बनाना चाहता है; लेकिन सबका प्रयत्न है, इस बेचारेको खतरेसे बचाना।

(१) **श्रद्धातत्त्व**--कान्टने **आचारिक विधि**—यह आचार तुम्हें जरूर करना होगा—के बारेमें कहा, कि उसपर विश्वास करनेसे हम सन्देहवाद, भौतिकवाद और नियतिवाद[2]से बँचते हैं। चूँकि हम आचारिक विधानपर विश्वास रखते हैं, इसलिए हम उसे जानते हैं। यह आचारिक सच्चाई है, जो हमको आजाद बनाती है, और हमारे स्वातंत्र्यको सिद्ध करती है। कान्ट और फिख़्टेके इस दर्शनके अनुसार हम ज्ञानकी पर्वाह न कर विश्वासपर दृढ़ हो अपनी स्वतंत्रता पाते हैं—विश्वास करने न करनेमें जो हमें आजादी है! यदि हम दो तीन हजार वर्ष पहिले चंद आदमियों द्वारा अपने स्वार्थ और स्वार्थरक्षाके लिए बनाये गये आचारिक नियमोंको नहीं मानते, तो अपनी आजादी खो डालते हैं!!

---

[1] Absolute Self. [2] Determinism.

और हमारी आजादीके सबसे बड़े दुश्मन सन्देहवाद, भौतिकवाद हैं, जो कि आजादीके एकमात्र नुस्खे विश्वास (=श्रद्धा) पर कुठाराघात करते हुये बुद्धि और तजर्बेके बतलाये रास्तेपर चलनेके लिए जोर देते हैं !!! अक़्लको घबरानेकी ज़रूरत नहीं, "दर्शन"का मतलब उसे सहारा देना नहीं बल्कि उसे भूल-भुलैयामें डाल थकाकर बैठा देना है। और जहाँ अक़्लने ठोस पृथिवी और उसके तजर्बेको छोड़ा कि दार्शनिक अपने मतलबमें कामयाब हुए।

(२) **बुद्धिवाद**—साइंस-युगमें फिख़्टे साइंस, और प्रयोग (=तजर्बे) को इन्कारकर अपने दर्शनको सिर्फ उपहासकी चीज बना सकता था; इलीलिए दर्शन फिख़्टेकी परिभाषामें, सार्वदैशिक साइंस, साइंसोंका साइंस, (=विज़ेन्शाफ़्ट लेरे) है। प्रयोग और बुद्धिवादको पहिले मारकर फिख़्टे कहने चला है—यदि दर्शन तजर्बेसे सामंजस्य नहीं रखता, तो वह अवश्य झूठा है; क्योंकि दर्शनका काम है अनुभवके पूर्ण (रूप)को निकाल कर रखना, और बुद्धिकी आवश्यक क्रिया द्वारा उसकी व्याख्या करना। जो परम-आत्माको एकमात्र परमार्थ तत्त्व माने और "आचारिक" विश्वास (=श्रद्धा)को आजादीको एकमात्र पन्थ समझे, उसके मुँहसे तजर्बे और अक़्लकी यह हिमायत दिखावेसे बढ़कर नहीं है।

(३) **आत्मा**—आत्मा परम-आत्मासे निकला है, यह बतला आये हैं। आत्मा परम-आत्माकी क्रियाका प्राकट्य है। आत्माकी सीमाएं हैं। विचारमें वह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, और मननसे परे नहीं जा सकता, और व्यवहारमें वह (परम-आत्माके) विश्व-प्रयोजनसे परे नहीं जा सकता।

(४) **ईश्वर**—ईश्वर, एकमात्र परम-तत्त्व या परम-आत्मा है यह बतला आये हैं। आचारिक विधानपर कान्टकी भाँति फिख़्टेका कितना जोर था यह भी कहा जा चुका है। आचारिक विधानके ढाँचेको कायम रखनेकेलिए एक विश्व-प्रयोजन या ईश्वरकी ज़रूरत है। सच-मुच ही आचारिक विधान—जो कि सत्ताधारी वर्गके स्वार्थके यंत्र है—का समर्थन बुद्धि और प्रयोगसे नहीं हो सकता, उसके लिए ईश्वरका अवलंब

चाहिए। फिख़्टे और स्पष्ट करते हुए यह भी कहता है कि आचारिक विधानके लिए धार्मिक विश्वासकी भी ज़रूरत है। संसार भरमें विद्यमान आचारिक विधान (=धर्म-नियम) और उसके विधानके विपाकपर विश्वास-के बिना आचारिक विधान ठहर नहीं सकते। अन्तरात्माकी आवाज़ सभी विश्वासों और सच्चाइयोंकी कसौटी है। वह अभ्रान्त है। अन्तरात्माकी आवाज़ हमारे भीतर भगवान्की आवाज़ है। आध्यात्मिक जगत् और हमारे बीच ईश्वर बिचवई है, और वह अन्तरात्माकी आवाज़के रूपमें अपना सन्देश भेजता है।

२—हेगेल् (१७७०-१८३१ ई०)

जार्ज विल्हेल्म फ़्रीड्रिख़् हेगेल् स्टट्गार्ट (जर्मनी)में पैदा हुआ था। टुबिंगन् विश्वविद्यालयमें उसने धर्मशास्त्र और दर्शनका अध्ययन किया। पहिले ज़ेनामें दर्शनका प्रोफेसर हुआ, फिर १८०६-८ ई० तक बम्बेर्गमें एक समाचारपत्रका सम्पादक रहा। उसके बाद फिर अध्यापनका काम शुरू किया, और पहिले हाइडेल्बेर्ग फिर बेर्लिनमें प्रोफेसर रहा। ६१ वर्षकी उम्रमें हैज़ेसे उसकी मृत्यु हुई।

[विकास]—आधुनिक युगमें जो अभौतिकवादी दर्शनका नया प्रवाह आरम्भ हुआ, हेगेल्के दर्शनके रूपमें वह चरमसीमाको पहुँचा। उसके दर्शनके विकासमें अफलातूँ, अरस्तू, स्पिनोज़ा, कान्टका खास हाथ है। कान्टसे उसने लिया कि मन (=विज्ञान) सारे विश्वका निर्माता है। हमारे वैयक्तिक मन (=विज्ञान)विश्व-मनके अंश हैं। वही विश्व-मन हमारे द्वारा विश्वको अस्ति-त्वमें लानेके लिए मनन (=अभिध्यान) करता है। स्पिनोज़ासे उसने यह लिया कि आत्मिक और भौतिक तत्त्व उसी एक अनादि तत्त्वके दो रूप हैं। अफलातूँके दर्शनसे लिया—(१)विज्ञान, सामान्य विज्ञान, (आचारिक) मूल्य और यह कि पूर्णताका जगत् ही एक मात्र वास्तविक जगत् है। इन्द्रियोंका जगत् उसी **सीमा-पारी** आत्मिक जगत्की उपज है; (२) भौतिक जगत् आत्मिक जगत् (=परमतत्त्व)के स्वेच्छापूर्वक सीमित करनेका परिणाम है,

अर्थात् वह आत्मिक तत्त्वके उच्च स्थानसे नीचे पतन है। लेकिन इस विज्ञान-वादी पतनके साथ-साथ हेगेल्ने अरस्तूके आत्मिक विकासको भी लेना चाहा, यानी विश्वका हर एक कदम और ऊँचे विकासकी ओर उसे ले जा रहा है। हेगेल्की अपनी सबसे बड़ी देन है, यही द्वन्दात्मक[1] विकास।

(१) दर्शन और उसका प्रयोजन—हेगेल्के अनुसार दर्शनका काम है, प्रकृति और तजर्बेके द्वारा सारे जगत्को जैसा वह है, वैसा जानना; उसके भीतरके हेतुका अध्ययन करना और समझना—सिर्फ बाहरी चलायमान तथा संयोगसे उत्पन्न रूपोंका ही नहीं, बल्कि प्रकृतिके भीतर जो अनादि सार, समन्वयी व्यवस्था है, उसका भी। जगत्की वस्तुओंका कुछ अर्थ है, संसारकी घटनाएं बुद्धिपूर्वक हैं; ग्रह-उपग्रह-सौरमंडल बुद्धिसंगत नियमके अन्दर हैं, प्राणिशरीर सप्रयोजन, अर्थपूर्ण और बुद्धिसंगत है। चूँकि वास्तविकता अपने गर्भके भीतर बुद्धिसंगत है, इसीलिए अपने चिन्तन या ज्ञानकी प्रक्रियाको भी हम बुद्धिसंगत घटनाके रूपमें पाते हैं। चूँकि दर्शनका संबंध प्रकृतिका गंभीरतासे अध्ययन करना है, इसीलिए प्रकृतिके साथ दर्शनका विकास उच्च-से-उच्चतर होता जा रहा है।

(२) परमतत्त्व—हेगेल्ने कान्टके अज्ञात वस्तुसार (वस्तु-अपने-भीतर) या परमात्मतत्त्वको माननेसे इन्कार कर दिया, और उसकी जगह बतलाया, कि मन (=विज्ञान) और भौतिक प्रकृति ही परमतत्त्व है, प्रकृति किसी अज्ञात परम (-आत्म) तत्त्वका बाहरी आभास या दिखलावा नहीं, बल्कि वह स्वयं परमतत्त्व है। मन और भौतिक तत्त्व दो अलग-अलग चीजें नहीं, बल्कि परमतत्त्वके आत्मप्रकाशके एक ही प्रवाहके दो अभिन्न अंग हैं। मनके लिए एक भौतिक जगत्की ज़रूरत है, जिसपर कि वह अपना प्रभाव डाल सके, किन्तु भौतिक जगत् भी मनोमय है। "वास्तविक मनोमय[2] है, और मनोमय वास्तविक है।"

(३) द्वन्दात्मक परमतत्त्व—परमतत्त्व भौतिक और मानस जगत्से

---

[1] Dialectical evolution. [2] Rational.

अभिन्न है, इसे हेगेल् बहुत व्यापक अर्थमें इस्तेमाल करता है। परमतत्त्व स्थिर नहीं गतिशील, चल है।—जगत् क्षण-क्षण बदल रहा है; विचार, बुद्धि, समझ या सच्चा ज्ञान सक्रिय, प्रवाहित घटना, विकासकी धारा है। विकास नीचेसे ऊपरकी ओर हो रहा है; कोई चीज—सजीव या निर्जीव, निम्न दर्जे या ऊँचे दर्जेके जन्तु—अभी अविकसित, विशेषताशून्य, सम-स्वरूप रहती है; वह उस अवस्थासे विकसित, विशेषतायुक्त, हो विभक्त होती है, और कितने ही भिन्न-भिन्न आकारोंको ग्रहण करती है। गर्भ, अणुगुच्छक आदिके विकासमें इसे हम देख चुके हैं।[1] ये भिन्न-भिन्न आकार जहाँ पहिली अविकसित अवस्थामें अभिन्न=विशेषता-रहित थे, अब वह एक दूसरेसे स्वरूप और स्थितिमें ही भेद नहीं रखते, बल्कि वह एक दूसरेके विरोधी हैं। इन विरोधियोंका अपने विरोधी गुणों और क्रियाओंके कारण आपसमें द्वन्द चल रहा है, तो भी उस **पूर्ण**में वह एक है, जिसके कि वह अवयव हैं।—अर्थात् वास्तविकता अपने भीतर द्वन्द्व या विरोधी अवयवोंका स्वागत करती है। ऊपरकी ओर विकास करना वस्तुओंकी अपनी आन्तरिक "रुचि"का परिणाम है। इस तरह विकास निम्न स्थितिका प्रयोजन, अर्थ और सत्य है। निम्नमें जो छिपा, अस्पष्ट होता है, उच्च अवस्थामें वह प्रकट, स्पष्ट हो जाता है। विकासकी धारा अपनी हर एक अवस्थामें पहिलेकी अपनी सारी अवस्थाओंको लिये रहती है, तथा सभी आनेवाली अवस्थाओंकी झाँकी देती है। जगत् अपनी प्रत्येक स्थितिमें पहिलेकी उपज तथा भविष्य-द्राणी भी है। उच्च अवस्थामें पहुँचनेपर निचली अवस्था **अभावप्राप्त**[2] (=प्रतिषिद्ध) बन जाती है—अर्थात् इस वक्त वह वही नहीं रहती, जो कि पहिले थी; तो भी पिछली अवस्था उच्च अवस्थाके रूपमें सुरक्षित है, वह ऊपर पहुँचाई गई है। यह पहुँचाना—निम्नसे ऊपरकी ओर बढ़ना, एक दूसरी विरोधी अवस्थामें पहुँचा देता है। दो रास्ते एक जगहसे फूटते हैं, किन्तु आगे चलकर उनकी दिशा एक दूसरेसे विरोधी बन जाती

---

[1] देखो मेरी "विश्वकी रूपरेखा"।　　[2] Negated.

है। पानीकी गति उसे बर्फ बना गतिसे उलटे (कठोर, स्थिर, ज्यादा विस्तृत) रूपमें बदल देती है। पहिली अवस्थासे उसकी बिलकुल विरोधी अवस्थामें बदल जाना इसे हेगेल् **द्वन्दात्मक घटना** कहता है।

[द्वन्दात्मकता]—द्वन्द, विरोध सभी तरहके जीवन और गतिकी जड़ है। हर एक वस्तु द्वन्द है। द्वन्द या विरोधका सिद्धान्त संसारपर शासन कर रहा है। हरएक वस्तु बदलती और बदलकर पहिलेसे विरुद्ध अवस्थामें परिणत होना चाहती है। बीजोंके भीतर कुछ और बनने, अपनेपनसे लड़ने तथा बदलनेकी 'चाह' भरी है। द्वन्द (=विरोध) यदि न होता, तो जगत्में न जीवन होता, न गति, न वृद्धि, और सभी चीजें मुर्दा और स्थिर होतीं। लेकिन, प्रकृतिका काम विरोध (=द्वन्द) तक ही खतम नहीं हो जाता; प्रकृति उसपर काबू पाना चाहती है; वस्तु अपने विरोधी रूपमें परिणत ज़रूर हो जाती है, लेकिन गति वहीं रुक नहीं जाती; वह आगे जारी रहती है, और आगे भी विरोधोंको दबाया और उनका समन्वय किया जाता है; इस प्रकार विरोधी एक पूर्ण शरीरके अवयव बन जाते हैं। विरोधी, एक दूसरेसे जहाँ तक संबंध है, आपसमें विरोधी हैं; किन्तु जहाँ तक उस अपने एक पूर्ण शरीरसे संबंध है, वे परस्पर-विरोधी नहीं हैं। वहाँ तो यही परस्परविरोधी मिलकर एक पूर्ण शरीर-को बनाते हैं।

विश्व निरन्तर होते विकासोंका प्रवाह है; यही उसके लक्ष्य या प्रयोजन हैं, वही विश्व-बुद्धिके प्रयोजन हैं। परमात्मतत्त्व[१] वस्तुतः विश्वके विकास-का परिणाम है। लेकिन यह परिणाम जितना है, उतना सम्पूर्ण नहीं है। सच्चा **सम्पूर्ण** है, परिणाम (परमात्मतत्त्व) और उसके साथ विकासका सारा प्रवाह—वस्तुएं अपने प्रयोजनके साथ खतम नहीं होतीं, बल्कि वह जो बन जाती हैं, उसीमें समाप्त होती हैं। इसीलिए दर्शनका लक्ष्य परिणाम नहीं, बल्कि उसका लक्ष्य यह दिखलाना है कि कैसे एक परिणाम दूसरे

---

[१] Absolute.

परिणामसे पैदा होता है, कैसे उसका दूसरेसे प्रकट होना अवश्यंभावी है।

वास्तविकता (परमतत्त्व) मनसे कल्पित एक निराकार ख्याल नहीं, बल्कि चलता बहता प्रवाह, एक द्वन्दात्मक सन्तान है। उसे हमारे निराकार ख्याल पूरी तौरसे नहीं व्यक्त कर सकते। निराकार ख्याल एक अंश और उत्पन्न छोटे अंशके ही बारेमें बतलाते हैं। वास्तविकता इस क्षण यह है, दूसरे क्षण वह है; इस अर्थमें वह अभावों, विरोधों, द्वन्द्वोंसे भरी हुई है; पौधा अंकुरित होता है, फूलता है, सूखता और फिर मर जाता है; मनुष्य बच्चा होता फिर तरुण, जीर्ण, वृद्ध हो मर जाता है।

(४) **द्वन्द्ववाद**—वस्तु आगे बढ़ते-बढ़ते अपनेसे उलटे विरोधी रूपमें बदल जाती है। **संपूर्ण** (=अवयवी) परस्पर विरोधी अवयवोंका योग है, यह हम कह चुके। दो विरोधियोंका समागम कैसे होता है, इसे हेगेल्ने इस प्रकार समझाया है।—हमारे सामने एक चीज आती है, फिर उसकी विरोधी दूसरी चीज़ आ मौजूद होती है। इन दोनोंका द्वन्द चलता है, फिर दोनोंका समन्वय हम एक तीसरी चीजसे करते हैं। इनमें पहिली बात ***वाद*** है, दूसरी ***प्रतिवाद*** और तीसरी ***संवाद***। उदाहरणार्थ—पर्मेनिदने कहा: मूल तत्त्व स्थिर, नित्य है, यह हुआ वाद। हेराक्लितुने कहा कि वह निरन्तर परिवर्तन-शील है, यह हुआ प्रतिवाद। परमाणुवादियोंने कहा, यह न तो स्थिर ही है न परिवर्तनशील ही, बल्कि दोनों है; यह हुआ संवाद।

(५) **ईश्वर**—हेगेल्का दर्शन स्पिनोजासे अधिक क्रान्तिकारी है, किन्तु ईश्वरका मोह उसे स्पिनोजासे ज्यादा है। ईश्वर सिद्ध करनेके लिए बड़ी भूमिका बाँधते हुए वह कहता है—विश्व एक पागल प्रवाह, बिल्कुल ही अर्थहीन बे-लगामसी घटना नहीं है; बल्कि इसमें नियमबद्ध विकास और प्रगति देखी जाती है। हम वास्तविकताको आभास और सार, बाह्य और अन्तर, द्रव्य और गुण, शक्ति और उसके प्राकट्य, सान्त और अनन्त, मन (=विज्ञान) और भौतिक तत्व, लोक और ईश्वरमें विभक्त करना चाहते हैं; किन्तु इससे हमें झूठे भेद और मनमानी दिमागी कल्पनाके सिवाय कुछ

हाथ नहीं आता[1] "सार ही आभास है, अन्तर ही बाह्य है, मन ही शरीर है, ईश्वर ही विश्व है।"

हेगेल् ईश्वरको विज्ञान (=विचार) कहकर पुकारता है। विश्व जो कुछ हो सकता है, वह है; अनन्तकालमें विकासकी जितनी संभावनाएं हैं, यह उनका योग है। मन वह विज्ञान है, जो कि अब तक तैयार हो चुका है।

जगत् सदा बनाया जा रहा है। विकास सामयिक नहीं निरन्तर प्रवाहित है। ऐसा कोई समय नहीं था, जब कि विकासका प्रवाह जारी न रहा हो। परमात्मतत्त्व वह सनातन है, जिसकी ओर सारा विकास जा रहा है। विकास असत्से सत्की ओर कभी नहीं हुआ। भिन्न-भिन्न वस्तुओंका विकास क्रमशः जरूर हुआ है, उनमें कुछ दूसरोंके कारण या पूर्ववर्त्ती रहीं।

(६) आत्मा—विश्व-बुद्धि या विश्व-विज्ञान[2] प्राणिशरीरमें आत्मा बन जाता है। वह अपनेको शरीरमें बन्द करता है, अपने लिए एक शरीर बनाता, एक विशेष व्यक्ति बन जाता है। यह उत्पादन अनजाने होता है। किन्तु आत्मा, जिसने अपने लिए एक प्राणिशरीर बनाया, उससे वह हो जाता है, और अपनेको शरीरसे भिन्न समझने लगता है। चेतना उसी तत्त्वका विकास है, जिसका कि शरीर भी एक प्राकट्य है। वस्तुतः हम (=आत्मा) सिर्फ उसे ही जानते हैं, जिसे कि **हम** बनाते या पैदा करते हैं। हमारे ज्ञानका विषय हमारी अपनी ही उपज है, इसीलिए वह ज्ञानमय है।

(७) सत्त्य और भ्रम—सत्त्य और भ्रमके संबंधमें हेगेल्के विचार बड़े विचित्र-से हैं। उसके अनुसार भ्रम परमसत्त्यके प्रकट करनेके लिए आवश्यक है। यदि ऐसा न होता, तो जिसे हम गलतीसे उस समय सत्त्य कहते हैं, उससे आगे नहीं बढ़ सकते। संपूर्ण सत्त्य हर तरहके संभव भ्रमपूर्ण दृष्टिविन्दुओंसे मिलकर बना है। भ्रमकी यह क्रमागत अवस्थाएं ज़रूरी हैं;

---

[1] "Natur hat weder kern noch schale". [2] Idea.

आगे पाये जानेवाले सत्त्यका यह सार है, कि पीछे पार किये सारे भ्रमोंका सत्य—वह लक्ष्य जिसकी कि खोजमें वह भ्रममें फिर रहा था—होवे। इसीलिए **परमतत्त्व**—निम्न और सापेक्ष सत्त्यके रूपमें ही मौजूद है। अनन्त सिर्फ सान्तके सत्त्यके तौरपर ही पाया जाता है। सत्त्य पूर्ण तभी हो सकता है, जब कि अपूर्ण द्वारा की जानेवाली खोजको पूरा करता हो।

(८) हेगेल्के दर्शनकी कमज़ोरियाँ—(१) हेगेल्का दर्शन विश्वको परमविज्ञान[1]के रूपमें मानता है। इस तरह बर्कलेका विज्ञानवाद और हेगेल्के दर्शनका भाव एक ही है। दोनों मन, शुद्ध-चेतनाको भौतिक, तत्त्वोंसे **पहिले** मानते हैं।

(२) हेगेल् यद्यपि विश्वमें परिवर्त्तन, प्रवाहकी बात करता है; किन्तु वास्तविक परिवर्त्तनको वह एक तरहसे इन्कार करता है। जो भविष्यमें होनेवाला है, वह पहिले हीसे मौजूद है, यह इसी बात को प्रकट करता है; और विश्वको भाग्यचक्रमें बँधा एक निरीह वस्तु बना देता है। परमतत्त्वकी एकतामें विश्वकी विचित्रताओंको वह खपा देना चाहता है, और इस तरह भिन्न-भिन्न वस्तुओंवाले जगत्के व्यक्तित्वको एक मूलतत्त्वसे बढ़कर "कुछ नहीं" कह, परिवर्त्तन तथा विकासके सारे महत्त्वको खतम कर देता है।

(३) हेगेल् कहता है, कि सभी सत्ताओंकी एकताएं, सभी बुराईसी जान पड़ती बातें वस्तुतः **अच्छी** (=शिव) हैं। ऊँचे दृष्टिकोणसे वह बुराइयोंको उचित ठहराना चाहता है, और बुराइयोंको भ्रम कहकर उनसे ऊपर उठना चाहता है। दर्शनमें उसका यह औचित्य व्यवहारमें बहुत खतरनाक है, इसके द्वारा राजनीतिक, सामाजिक अत्याचार, वैषम्य सभीको उचित ठहराया जा सकता है।

३—शोपन्हार (१७८८-१८६० ई०)—अर्थर शोपन्हार डेन्ज़िग्में एक धनी बैंकरके घरमें पैदा हुआ था। उसकी माँ एक प्रसिद्ध उपन्यास-

[1] Idea.

लेखिका थी। गोटिंगेन (१८०९-११ ई०) और बर्लिन (१८११-१३ ई०) के विश्वविद्यालयोंमें उसने दर्शन, विज्ञान, और संस्कृत-साहित्यका अध्ययन किया। कितने ही सालों तक जहाँ-तहाँ ठोकरें खानेके बाद बर्लिन विश्वविद्यालयमें उसे अध्यापकी मिली, जहाँसे १८३१में उसने अवकाश ग्रहण किया, और फिर माइन-तटवर्ती फ़्रांकफोर्त शहरमें बस गया।

[तृष्णावाद[१]]—कान्टका दर्शन वस्तु-अपने-भीतर (वस्तु-सार) के गिर्द घूमता है, शोपन्हारका दर्शन तृष्णा—सबके—भीतर (सर्वव्यापी तृष्णा)-के गिर्द घूमता है। वस्तुएं या इच्छाएं कोई वैयक्तिक नहीं हैं, व्यक्ति केवल भ्रम है। तृष्णासे परे कोई वस्तु-अपने-भीतर नहीं है। तृष्णा ही कालातीत, देशातीत, मूलतत्त्व और कारण-विहीन क्रिया है। वही मेरे भीतर उत्तेजना, पशुबुद्धि, उद्यम, इच्छा, भूखके रूपमें प्रकट होती है। प्रकृतिके एक अंशके तौरपर, उसके आभासके तौरपर मैं अपनेपनसे आगाह हो जाता हूँ, मैं अपनेको विस्तारयुक्त प्राणिशरीर समझने लगता हूँ। वस्तुतः यही तृष्णा मेरी आत्मा है, शरीर भी उसी तृष्णाका आभास है।

जब मैं अपने भीतरकी ओर देखता हूँ, तो मुझे वहाँ तृष्णा (मानकी तृष्णा, खानेकी तृष्णा, जीनेकी तृष्णा, न जीनेकी तृष्णा) दिखाई पड़ती है। जब मैं बाहरकी ओर देखता हूँ, तो उसी अपनी तृष्णाको शरीरके तौरपर देखता हूँ। दूसरे शरीर भी मेरे शरीरकी ही भाँति तृष्णाके प्राकट्य हैं। पत्थरमें तृष्णा अंधी शक्तिके तौरपर प्रकट होती है, मनुष्यमें वह चेतनायुक्त बन जाती है। चुम्बककी सुई सदा उत्तरकी ओर घूमती है; पिंड गिरनेपर सीधे नीचेकी ओर लंबाकार गिरता है। एक तत्त्वको जब दूसरेसे प्रभावित किया जाता है, तो स्फटिक बनते हैं। यह सब बतलाते हैं, कि प्रकृतिमें सर्वत्र तृष्णाकी जातिकी ही शक्तियाँ काम कर रही हैं। वनस्पति-जगत्में भी अनजाने इसी तरहकी उत्तेजना या प्रयत्न दीखते हैं—वृक्ष प्रकाश-की तृष्णा रखता है, और ऊपरकी ओर जानेका प्रयत्न करता है। वह नमीकी

---

[१] Will. देखो पृष्ठ ५०३-४

भी तृष्णा रखता है, जिसके लिए अपनी जड़ोंको धरतीकी ओर फैलाता है। तृष्णा या आन्तरिक उत्तेजना प्राणियोंकी वृद्धि और सभी क्रियाओंको संचालित करती है। हिंस्र पशु अपने शिकारको निगलनेकी चाह (=तृष्णा) रखता है, जिससे तदुपयोगी दाँत, नख और नस-पेशियाँ उसके शरीरमें निकल आती हैं। तृष्णा अपनी जरूरतको पूरा करने लायक शरीरको बनाती है; प्रहार करनेकी चाह सींग जमाती है। जीवनकी तृष्णा ही जीवनका मूल आधार है।

जड़-चेतन, धातु-मनुष्यमें प्रकट होनेवाली यह आधारभूत तृष्णा न मनुष्य है और न कोई ज्ञानी ईश्वर। वह एक अंधी चेतनारहित शक्ति है, जो कि अस्तित्वकी चाह (=तृष्णा) रखती है। वह न देशसे सीमित है, न कालसे, किन्तु व्यक्तियोंमें देश-कालसे परिसीमित हो प्रकट होती है।

होनेकी तृष्णा, जीनेकी तृष्णा, दुनियाके सारे संघर्षों, दुःख और बुराइयों की जड़ है। तृष्णा स्वभावसे ही बुरी है, उसको कभी तृप्त नहीं किया जा सकता। निरन्तर युद्ध और संघर्षकी यह दुनिया है, जिसमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी बने रहनेकी अन्धी तृष्णाएं एक दूसरेके साथ लड़ रही हैं; यह दुनिया जिसमें छोटी मछलियाँ बड़ी मछलियों द्वारा खाई जा रही हैं। यह अच्छी नहीं, बुरी दुनिया, बल्कि जितना संभव हो सकता है, उतनी बुरी दुनिया है। जीवन अंधी चाहसे अधिक और कुछ नहीं है। जबतक उसकी तृप्ति नहीं होती, तबतक पीड़ा होती है, और जब उसकी तृप्ति कर दी जाती है, तो दूसरी पीड़ाकारक तृष्णा पैदा हो जाती है। तृष्णाओंको कभी सदाके लिए सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। हर एक फूलमें काँटे हैं। इस दुःखसे बचनेका एक ही रास्ता है, वह है तृष्णाका पूर्णतया त्याग (प्रहाण), और इसके लिए त्याग और तपस्याका जीवन चाहिए।

शोपन्हारके दर्शनपर बौद्ध दर्शन[1]का बहुत प्रभाव पड़ा है। उसके दर्शनमें तृष्णाकी व्याख्या, और प्राधान्य उसी तरहसे पाया जाता है, जैसा

---

[1] देखो आगे "बुद्ध-दर्शन" पृष्ठ ५१५,५१७

कि बुद्धके दर्शनमें। बुद्धने भी तृष्णा-निरोधपर ही सबसे ज्यादा जोर दिया है।

§ २–द्वैतवाद

निट्ज़्शे (१८४४-१९०० ई०)—फ़्रीडरिख् निट्ज़्शे जर्मन दार्शनिक था। निट्ज़्शेने कान्टसे ज्ञानकी असम्भवनीयता ली, शोपन्हारसे तृष्णा ली; किन्तु निट्ज़्शेकी तृष्णा जीनेके लिए नहीं प्रभुताके लिए है। शोपन्हार तृष्णाको त्याज्य बतलाता है, किन्तु निट्ज़्शे उसे ग्राह्य, अपने उद्देश्य—शक्तिके पानेका साधन मानता है। डार्विनसे "योग्यतम ही बँच रहते हैं" इस सिद्धान्तको लेकर उसने महान् पुरुषों हीको मानवताका उद्देश्य बतलाया।

(१) दर्शन—सोचना वस्तुतः अ-स्पष्ट साक्षात्कार है। सोचनेमें हम सिर्फ समानतापर नज़र डालते हैं, और असमानताओंपर ख्याल नहीं करते; इसका परिणाम होता है, वास्तविकताका एक गलत चित्रण। कोई भी वस्तु नित्त्य स्थिर नहीं है—नहीं, काल, नहीं **सामान्य**, नहीं कारण-संबंध। न प्रकृतिमें कोई प्रयोजन है। न कोई निश्चित लक्ष्य है। विश्व हमारे सुखकी कोई पर्वाह नहीं करता, नहीं हमारे आचारकी। प्रकृतिसे परे कोई दैवी शक्ति नहीं है, जो हमारी सहायता करेगी। ज्ञान, शक्ति, प्रभुता पानेका हथियार है। ज्ञानके साधनोंका विकास इस अभि-प्रायसे हुआ है कि उसे अपनी रक्षाके लिए हम इस्तेमाल कर सकें। दार्शनिकोंने जगत्को वास्तविक और दिखलावेके दो जगतोंमें बाँटा। जिस जगत्में मानवको जीना है, जिसके भीतर कि मानवने अपनी बुद्धि-का आविष्कार किया (परिवर्त्तन, है नहींका होना, द्वैत, द्वंन्द, विरोध युद्धकी दुनिया) उसी दुनियासे वह इन्कारी हो गया। वास्तविक जगत्-को दिखलावेकी दुनिया, मायाका संसार, झूठा लोक कहा गया। और दार्शनिकोंने अपने दिमागसे जिस कल्पित दुनियाका आविष्कार किया, वही हो गई, नित्त्य, अपरिवर्त्तनशील, इन्द्रिय-सीमा-पारी। सच्ची वास्तविक

दुनियाको हटाकर झूठी दुनियाको गद्दीपर बिठाया गया। सच्चाईको खोजकर प्राप्त किया जाता है, उसे गढ़ा-बनाया नहीं जाता। किन्तु, दार्शनिकोंने अपना कर्त्तव्य—सत्यको ढूँढ़ना-छोड़, उसे गढ़ना शुरू किया।

(२) **महान् पुरुषोंकी जाति**—निट्ज़्शे कान्ट, हेगेल् आदिके दर्शनको कितना गलत बतलाता था, यह मालूम हो चुका। वह वास्तविकतावादी था, किन्तु इस दर्शनका बहुत ही खतरनाक उपयोग करता था। प्रभुता पानेके लिए ज्ञान एक हथियार है, जिसे प्रभुता पानेकी तृष्णा इस्तेमाल करती है। तृष्णा या संकल्प विश्वासपर आश्रित होता है। विश्वास झूठा है या सच्चा, इसे हमें नहीं देखना चाहिए; हमें देखना है कि वह सार्थक है या निरर्थक, उपयोगी है या अनुपयोगी। प्रभुताका प्रेम निट्ज़्शेके लिए सर्वोच्च उद्देश्य है, और महान् पुरुष पैदा करना सर्वोच्च आदर्श है—एक महान् पुरुष नहीं महान् पुरुषोंकी जाति, एक ऊँचे दर्जेकी जाति, वीरोंकी जाति। निट्ज़्शेके इसी दर्शनके अनुसार आज हिटलर जर्मनोंको "महान् पुरुषोंकी जाति" बना रहा है; ऐसी जाति बना रहा है, जो दुनियाको विजय करे, दुनियापर शासन करे, और विश्वास रखे, कि वह शासन तथा विजय करनेके लिए पैदा हुई है। इसके लिए जो भी किया जाये, निट्ज़्शे उसे उचित ठहराता है। युद्ध, पीड़ा, आफत, निर्बलोंपर प्रहार करना अनुचित नहीं है। इसीलिए शान्तिसे युद्ध बेहतर है—बल्कि शान्तिको तो मृत्युका पूर्वलक्षण समझना चाहिए। हम इस दुनियामें अपने सुख और हर्षके लिए नहीं हैं। हमारे जीवनका और कोई अर्थ नहीं, सिवाय इसके कि हम एक अंगुल भी पीछे न हटें; या तो अपनेको ऊपर उठायें या खतम हो जायें। दया बहुत बुरी चीज है, यह उस आदमीके लिए भी बुरी है जो इसे करके अपने लक्ष्यसे विचलित होता है, और उसके लिए भी, जो कि दूसरेकी दया लेकर अपनेको दूसरोंकी नजरोंमें गिराता है। दया निर्बल और बलवान् दोनोंको कमज़ोर करती है; यह जातिके जीवन-रसको चूस लेती है।

जन्मजात रईस व्यक्तियोंको अधिक सुभीता होना चाहिए, क्योंकि साधारण निम्न श्रेणीके आदमियोंसे उनके कर्त्तव्य ज्यादा और भारी हैं।

सर्वश्रेष्ठ आदमियोंको ही शासनका अधिकार होना चाहिए और सर्वश्रेष्ठ आदमी वही हैं, जो दया-मयासे परे हैं, खुद खतरेमें पड़ने तथा दूसरोंपर उसे डालनेके लिए हर वक़्त तैयार हैं। आजके हिटलर्, गोर्यारिंग, आदि इसी तरहके सर्वश्रेष्ठ आदमी हैं।

निट्ज़्शे जनतन्त्रता, समाजवाद, साम्यवाद, अराजकवाद सबको फजूल और असम्भव बतलाता है। वह कहता है, कि यह जीवन जिस सिद्धान्त——योग्यतमका बँच रहना——पर कायम है। जो उसके बरखिलाफ हैं, वे आदर्शके विरोधी हैं। वे सबल व्यक्तियोंके विकासमें बाधा डालते हैं। "आज हमारे लिए सबसे बड़ा खतरा है यही समानताकी हवा——शान्ति, सुख, दया, आत्मत्याग, जगत्से घृणा, ज़नानापन, अ-विरोध, समाजवाद, साम्यवाद, समानता, धर्म, दर्शन और साइंस सभी जीवन-सिद्धान्तके विरोधी हैं, इसलिए उनसे कोई संबंध नहीं रखना चाहिए।"

निट्ज़्शे कहता है, महान् पुरुष उसी तरह दूसरोंको परास्त कर आगे बढ़ जायेंगे, जैसे कि मानुषने बनमानुषको।

§ ३—अज्ञेयतावाद

स्पेन्सर (१८२०-१९०३ ई०)—हर्बर्ट स्पेन्सर डर्बी (इंगलैण्ड)में एक मध्यमश्रेणीके परिवारमें पैदा हुआ था।

दर्शन—स्पेन्सर मानवज्ञानको इन्द्रियोंकी दुनिया तक ही सीमित रखना चाहता है, किन्तु इस दुनियाके पीछे एक अज्ञेय दुनिया है, इसे वह स्वीकार करता है। उसका कहना है—हम शान्त और सीमित वस्तुको ही जान सकते हैं; **परमतत्त्व, आदिकारण, अनन्त**का जानना हमारी शक्तिसे बाहर है। ज्ञान सापेक्ष होता है, और **परमतत्त्व**को किसीसे तुलना या भेद करके बतलाया नहीं जा सकता। चूँकि हम **परमतत्त्व**के बारेमें कोई ज्ञान नहीं पैदा कर सकते, इसलिए उसकी सत्तासें इन्कार करना भी ठीक नहीं है। विज्ञान और धर्म दोनों इस बातपर एकमत हो सकते हैं, कि सभी दृश्य जगत्के पीछे एक सत्ता, परमतत्त्व है। शक्तियाँ दो प्रकारकी होती हैं——वह शक्ति

जिससे प्रकृति हमें अपनी सत्ताका परिचय देती है; वह शक्ति जिससे वह काम करता हुआ दिखाई पड़ता है—अर्थात् सत्ता और क्रियाकी परिचायक शक्तियाँ।

(१) **परमतत्त्व** या **अज्ञेय** अपनेको दो परस्पर विरोधी बड़े समुदायोंमें प्रकाशित करता है, वह हैं: अन्तर और बाह्य, आत्मा और अनात्मा, मन और भौतिक तत्त्व।

(२) **विकासवाद**—हमारा ज्ञान, परमतत्त्वके भीतरी (मन) और बाहरी (जड़) प्रदर्शनतक ही सीमित है। दार्शनिकोंका काम है, कि उनमें जो साधारण प्रवृत्ति है, सभी चीजोंका जो सार्वदैशिक नियम है, उसे ढूँढ़ निकालें। यही नियम है विकासका नियम। विकासके प्रवाहमें हम भिन्न-भिन्न रूप देखते हैं—(१) **एकीकरण**[1], जैसे कि बादलों, बालुओंके टीले, शरीर या समाजके निर्माणमें देखते हैं; (२) **विभाजन**[2] या पिंडका उसकी परिस्थितिसे अलग कर, एक अलग भाग बनाना, तथा उसे एक संगठित पिंडका इस तरह अवयव बनाना, जिसमें अवयव अलग होते भी एक दूसरेसे संबद्ध हों। विकास और विनाशमें अन्तर है। विनाशमें विभाजन होता है, किन्तु संबद्धता नहीं। विकास भौतिक तत्त्वोंका एकीकरण और गतिका वितरण है; इसके विरुद्ध विनाश गतिको हज़म करता और भौतिक तत्त्वोंको तितर-बितर करता है।

जीवन है, बाहरी संबंधके साथ भीतरी संबंधका बराबर समन्वय स्थापित करते रहना। अत्यन्त पूर्ण जीवन वह है, जिसमें बाहरी संबंधोंके साथ भीतरी संबंधोंका पूर्ण समन्वय हो।

(३) **सामाजिक विचार**—स्पेन्सरके अनुसार बड़े ही निम्न श्रेणीकी सामाजिक अवस्थामें ही सर्वशक्तिमान् समाजवादी राज्य स्वीकार किया जा सकता है। जब समाजका अधिक ऊँचा विकास हो जाता है, तो इस तरहके राज्यकी ज़रूरत नहीं रहती, बल्कि वह प्रगतिमें बाधा

---

[1] Concentration. [2] Differentiation.

डालता है। राजका काम है भीतर शान्ति रखना, और बाहरके आक्रमणसे बचाना। जब समाजवादी राज्य इससे आगे बढ़ता, तथा मनुष्यके आर्थिक सामाजिक बातोंमें दखल देता है, तो वह न्यायका खून करता है, और विकासमें आगे बढ़े व्यक्तियोंकी स्वतंत्रतापर प्रहार करता है! स्पेन्सर समाजवादके सख़्त खिलाफ था, वह कहता था—वह आ रहा है, किन्तु जातिके लिए यह भारी दुर्भाग्यकी बात होगी, और बहुत दिन टिकेगा भी नहीं।

§ ४–भौतिकवाद

उन्नीसवीं सदीके दर्शनमें विज्ञानवादियोंका बड़ा जोर रहा, किन्तु मेय्, यूल, हेल्महोल्ट्ज़, श्वान आदि वैज्ञानिकोंकी खोजोंने भौतिकवादको अप्रत्यक्ष रूपसे बहुत प्रोत्साहित किया।

१—**बुख़्नेर्** (१८२४-९९)का ग्रंथ "शक्ति और **भौतिक तत्व**" भौतिकवादका एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। उसने लिखा है कि सभी शक्तियाँ गति हैं, और सभी चीजें गति और भौतिक तत्वोंके योगसे बनती हैं। गति और भौतिकतत्वोंको हम अलग समझ सकते हैं, किन्तु अलग कर नहीं सकते। आत्मा या मन कोई चीज नहीं। जीवन विशेष परिस्थितिमें भौतिक-तत्त्वोंसे ही पैदा हो जाता है। मनकी क्रिया "बाहरसे आई उत्तेजनासे मस्तिष्ककी पीली मज्जाके **सेलों** की गति है।"

मोल्शोट् (१८२२-९३ ई०), फ़ोग्ट (१८१७-९५ ई०), क्ज़ोल्बे (१८१९-७३ ई०), इस सदीके भौतिकवादी दार्शनिक थे। विरोधी भी इस बातको कबूल करते हैं, कि इस सदीके सभी भौतिकवादी दार्शनिक और साइंसवेत्ता मानवता और मानव प्रगतिके जबर्दस्त हामी थे।

२–लुड्विग् फ़्वेरबाख़ (१८०४–७२ ई०)

कान्टने अपनी "शुद्ध बुद्धि" या सैद्धान्तिक तर्कसे किस प्रकार धर्म, रूढ़ि, ईश्वरके चीथड़े-चीथड़े उड़ा दिये, किन्तु अन्तमें "भलेमानुष" बननेके

ख्यालने—अथवा भले दार्शनिकोंकी पंक्तिसे बहिष्कृत न होनेके डरने, उसे थूकेको चाटनेके लिए मजबूर किया, यह हम बतला आये हैं। हेगेल्ने शुद्ध बुद्धि भौतिक तजर्बे (=प्रयोग)के सहारे अपने दर्शन—द्वन्दात्मक विज्ञान-वाद—का विकास किया, यद्यपि भौतिक तत्त्वोंको **विज्ञान**का विकार बतला वह उल्टे स्थानपर उल्टे परिणामपर पहुँचा। हेगेल्के बाद उसके दार्शनिक अनुयायी दो भागोंमें बँट गये, एक तो डूरिंग जैसे लोग जो भौतिकवादके सख़्त दुश्मन थे और हेगेल्के विज्ञानवादको—आगे विकसित करनेकी तो बात ही क्या उसे रोककर—प्रतिगामिताकी ओर ले जा रहे थे; और दूसरा भाग था प्रगतिगामियोंका, जो कि हेगेल्के दर्शनको रहस्यवाद और विज्ञानवादसे छुड़ा उसके वास्तविक लक्ष्य **द्वन्दात्मक** (=क्षणिक) **भौतिकवाद**पर ले जा रहे थे। फ़्वेरबाख़ इस प्रगतिगामी हेगलीय दलका अगुआ था। इसी दलमें आगे मार्क्स् और एन्गेल्स शामिल हुए।

सत्ताधारी—धनिक और धर्मानुयायी—भौतिकवादको अपना परम शत्रु समझते हैं क्योंकि वह समझते हैं कि परलोककी आशा और ईश्वरके न्यायपरसे विश्वास यदि हट गया, तो मेहनत करते-करते भूखी मरनेवाली जनता उन्हें खा जायेगी, और भौतिकवादी विचारकोंके मतानुसार भूतल-पर स्वर्ग और मानव-न्याय स्थापित करने लगेगी। इसीलिए पुरोहितोंने कहना शुरू किया, कि भौतिकवादी गंदे, इन्द्रिय-लोलुप, "अधर्म"-परायण, झूठे, अविश्वासी, "ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्"-वादी हैं; उनके विरुद्ध विज्ञानवादी संयमी, धर्मात्मा, स्वार्थत्यागी, विरागी, आदर्शवादी होते हैं।

फ़्वेरबाख़का मुख्य ग्रंथ है "ईसाइयतसार"।[१] इसमें लेखकने ईसाई धर्मकी शवपरीक्षा द्वारा सारे धर्मोंकी वास्तविकता दिखलाई है। "ईसाइयत-सार"के दो भाग हैं, पहिले भागका प्रतिपाद्य विषय है "धर्मका सच्चा या मानव शास्त्रीय सार।" दूसरे भागमें "धर्मका झूठा या मज़हबी

---

[१] The Essence of Christianity.

सार" बतलाया गया है। भूमिकामें मनुष्य और धर्मके मुख्य स्वभावोंकी विवेचना की गई है। मनुष्यका मुख्य स्वभाव उसकी अपनी जातिकी चेतना **मानव-स्वभाव** है। यह चेतना कितनी है, इसका पता उसके भावुक भावों और संवेदनासे लगता है।

"तो जिसके बारेमें वह महसूस करता है, वह मानव स्वभाव क्या है, अथवा मनुष्यकी खास मानवता, उसकी विशेषता क्या है ? बुद्धि, इच्छा, स्नेह।.....

"मनुष्यके अस्तित्वके आधार, उसके मनुष्य होनेके तौरपर उसकी सर्वोच्च शक्तियाँ हैं—समझना (बुद्धिकी क्रिया), इच्छा करना और प्रेम। मनुष्य है समझने, प्रेम करने और इच्छा करनेकेलिए।...

"सिर्फ वही सच्चा, पूर्ण और दिव्य है, जो कि अपने लिए अस्तित्व रखता है। किन्तु ऐसा ही तो प्रेम है, ऐसी ही तो बुद्धि है, ऐसी ही तो इच्छा है। वैयक्तिक मानवमें मनुष्यके भीतर यह दिव्यत्रयी—बुद्धि, प्रेम, इच्छा—का समागम है। बुद्धि, प्रेम, इच्छा ऐसी शक्तियाँ नहीं हैं जिनपर मनुष्यका अधिकार है। उनके बिना मनुष्य कुछ नहीं है। वह जो कुछ है वह उनकी ही वजहसे है। यही उसके स्वभावकी बुनियादी ईंटें हैं। वह न उन्हें (स्वामीके तौरपर) रखता है, न उन्हें ऐसी सजीव, निश्चायक, नियामक शक्तियाँ—दिव्य परम शक्तियाँ—बनाता है, जिनके कि प्रतिरोधके वह खिलाफ जा सके।[1]

फ़्वेरबाख़ने बतलाया—"मनुष्यके लिए **परमतत्त्व** (श्रेष्ठतम वस्तु) उसका अपना स्वभाव है"। "मनोभावसे जिस दिव्य स्वभावका पता लगता है, वह वस्तुतः और कुछ नहीं। वह है खुद अपने प्रति आनन्दविभोर हो प्रसन्नताकी भावना, अपने ही भीतरकी आनन्दमयता।" उसने धर्मके सारके बारेमें कहा—जहाँ "इन्द्रियोंके प्रत्यक्षमें विषय (=वस्तु)-संबंधी चेतनाको अपनी ('आत्मा'की) चेतनासे फर्क किया जा सकता है; धर्ममें

---

[1] The Essence of Christianity, p. 32

विषय-चेतना और आत्मचेतना एक वना दी जाती है।" वस्तुतः मनुष्यकी आत्मचेतनाको एक स्वतंत्र अस्तित्वके तौरपर आसमानपर चढ़ाना, धर्म है। इसी तरह उसे पूजाकी वस्तु वनाया जाता है। फ़्वेरबाख़ने इसे साफ करते हुए कहा—

"किसी मनुष्यके जैसे विचार, जैसी प्रवृत्तियाँ होती हैं, वैसा ही उसका ईश्वर होता है; जितने मूल्यका मनुष्य होता है, उतना ही उसका ईश्वर होता है, उससे अधिक नहीं। ईश्वर-संबंधी चेतना (=चिन्तन) आत्म (अपनी)-चेतना है, ईश्वर-संबंधी ज्ञान (उसका) आत्म (=अपना)-ज्ञान है। उसके ईश्वरसे तू उस मनुष्यको जानता है, और उस मनुष्यसे उसके ईश्वरको; दोनों (मनुष्य और उसका ईश्वर) एक हैं।"[1]

दिव्यतत्त्व मानवीय है, इसकी आलोचना करनेके बाद वह फिर कहता है—

"धर्म (=मजहब)-संबंधी विकास · · · विशेषकर इस तरह पाया जाता है, कि मनुष्य ईश्वरको अधिकाधिक कल्पित करता है, और अधिकाधिक अपनेपर लगाता है। ईश्वरीय वाणीके संबंधमें यह बात खास तौरसे स्पष्ट है। पीछेके युग या संस्कृत जनोंके लिए जो बात प्रकृति या बुद्धिसे मिली होती है, वही बात पहिलेके युग या अ-संस्कृत जनोंको ईश्वर-प्रदत्त (मालूम होती) थी।

"इस्राइलियों (=यहूदी धर्मानुयायियों)के अनुसार ईसाई स्वतंत्र विचारवाला (=धर्मकी पाबंदीसे मुक्त) है। बातोंमें इस तरह परिवर्तन होता है। जो कल तक धर्म (=मजहब) था, आज वह वैसा नहीं रह गया है; जो आज नास्तिकवाद[2] है, कल वही धर्म होगा।"[3]

धर्मका वास्तविक सार क्या है, इसके बारेमें उसका कहना है—

"धर्म मनुष्यको अपने आपसे अलग कराता है; (इसके कारण) वह (मनुष्य) अपने सामने तथा अपने प्रतिवादीके तौरपर ईश्वरको ला रखता

---

[1] Ibid, p. 12 [2] Atheism. [3] वहीं, pp. 31-32.

है। ईश्वर वह है, जो कि मनुष्य नहीं है—मनुष्य वह है, जो कि ईश्वर नहीं है।...

"ईश्वर और मनुष्य दो विरोधी छोर हैं; ईश्वर पूर्णतया भावरूप, वास्तविकताओंका योग है; मनुष्य पूर्णतया अभावरूप, सभी अभावोंका योग है।...

"परन्तु धर्ममें मनुष्य अपने निजी अन्तर्हित स्वभावपर ध्यान करता है। इसलिए यह दिखलाना होगा, कि यह प्रतिवाद, यह ईश्वर और मनुष्य-का विभाजन—जिसे लेकर कि धर्म (अपना काम) शुरू करता है—मनुष्यका उसके अपने स्वभावसे विभाजन करता है।"[1]

अपने ग्रंथके दूसरे भागमें फ़्वेरबाख़ने धर्मके झूठे (अर्थात् मज़हबी) सारपर विवेचन करते हुए कहा है—

"धर्मके लिए संपूर्ण वास्तविक मनुष्य, प्रकृतिका वह भाग है, जोकि व्यावहारिक है, जोकि निश्चय करता है, जो कि समझ-बूझकर (स्वीकार किये) लक्ष्योंके अनुसार काम करता है....जो कि जगत्को उसके अपने भीतर नहीं सोचता, बल्कि सोचता है उन्हीं लक्ष्यों या आकांक्षाओंके संबंधसे। इसका परिणाम यह होता है कि जो कुछ व्यावहारिक चेतनाके पीछे छिपा रखा गया है, तो भी जो सिद्धान्तका आवश्यक विषय है, उसे मनुष्य और प्रकृतिके बाहर एक खास वैयक्तिक सत्ताके भीतर ले जाता है।—यहाँ सिद्धान्त बहुत मौलिक और व्यापक अर्थमें लिया गया है, जिसमें वास्तविक (जगत्-संबंधी) चिन्तन और अनुभव (=प्रयोग)के सिद्धान्त, तथा बुद्धि (=तर्क) और साइंसके (सिद्धान्त) शामिल हैं।"[2]

इसी कारणसे फ़्वेरबाख़ जोर देता है, कि हम ईसाइयत (=धर्म)से ऊपर उठें। धर्म झूठे तौरसे मनुष्य और उसकी आवश्यक सत्ताके बीचके संबंधको उलट देता है, और मनुष्यको खुद मानवीय स्वभावके सारको पूजने उसपर विश्वास करनेके लिए परामर्श देता है। ऐसी प्रवृतिका विरोध

---

[1] वहीं, p. 33. [2] वहीं, p. 187

करते हुए फ़्वेरबाख़ बतलाता है कि "मनुष्यकी उच्चतम सत्ता, उसका ईश्वर वह स्वयं है।" "धर्मका आदि, मध्य **और** अन्त मानव है।" यहाँ फ़्वेरबाख़ धर्मको एक खास अर्थमें प्रयुक्त करता है—मानवता-धर्म। वह फिर कहता है—

"धर्म आत्म-चेतनाका प्रथम स्वरूप है। धर्म पवित्र (चीज) है, क्योंकि वह प्राथमिक चेतनाकी कथाएं हैं। किन्तु जो चीज धर्ममें प्रथम स्थान रखता है—अर्थात् ईश्वर—....वह खुद और सत्यके अनुसार दूसरे (दर्जेका) है क्योंकि वह वस्तुरूपेण सोचा गया मनुष्यका स्वभाव मात्र है; और जो चीज धर्मके लिए दूसरे दर्जेकी है—अर्थात् मानव—उसे प्रथम **बनाना** और **घोषित** करना होगा। **मानव**के लिए प्रेम शाखा-स्थानीय प्रेम नहीं होना चाहिए, उसे मूलस्थानीय होना चाहिए। यदि मानवीय स्वभाव **मानव**के लिए श्रेष्ठतम स्वभाव है, तो, व्यवहारतः, **मनुष्यके प्रति मनुष्यके प्रेम**को भी उच्चतम और प्रथम नियम बनाना चाहिए। **मनुष्य मनुष्यके लिए ईश्वर है,** यह महान् व्यावहारिक सिद्धान्त है; यह धुरी है, जिसपर कि जगत्का इतिहास चक्कर काटता है।"[1]

इस उद्धरणसे मालूम होता है, कि फ़्वेरबाख़ यद्यपि धर्मकी कड़ी दार्शनिक आलोचना करता है, किन्तु साथ ही आजके नास्तिकवादको कलका धर्म भी देखना चाहता है। वह भौतिकवादको धर्मके सिंहासनपर बैठाना चाहता था।—"मानव और पशुके बीचका वास्तविक भेद धर्मका आधार है। पशुओंमें धर्म नहीं है।"[2]—यह भी इसी बातको बतलाता है।

फ़्वेरबाख़ यद्यपि धर्म शब्दको खारिज नहीं करना चाहता था, किन्तु उसके विचार धर्म-विरोधी तथा भौतिकवादके समर्थक थे—खासकर धर्मके दुर्गके भीतर पहुँचकर वह वैसा ही काम करना चाहते थे। भला यह धर्म तथा सत्ताधारियोंके पिट्ठुओंको कब पसन्द आ सकता था? प्रोफेसर

---

[1] वहीं, pp. 270-71　[2] वहीं, p. 1

डूरिंगने फ़्वेरबाख़के खिलाफ कलम चलाई थी, जिसका कि उत्तर १८८८ ई० में एन्गेल्सने अपने ग्रंथ "लुड्विग फ़्वेरबाख़"में दिया।

३—मार्क्स् (१८१८-८३ ई०)

कार्ल मार्क्स्का जन्म राइनलैण्डके ट्रेवेज़ नगरमें हुआ था। उसने बोन, बर्लिन और जेनाके विश्वविद्यालयोंमें शिक्षा पाई। जेनामें उसने "देमोक्रितु और एपीकुरुके प्राकृतिक दर्शन" पर निबंध लिखा था, जिसपर उसे पी-एच० डी० (दर्शनाचार्य)की उपाधि मिली। मार्कस् भौतिकवादी बननेसे पहिले हेगेल्के दर्शनका अनुयायी था। राजनीतिक, सामाजिक विचार उसके शुरू हीसे उग्र थे, इसलिए जर्मनीका कोई विश्वविद्यालय उसे अध्यापक क्यों रखने लगा। मार्क्स्ने पत्रकारकलाको अपनाया और २४ सालकी उम्रमें "राइनिशू ज़ाइटुङ" पत्रका संपादक बना। किन्तु, प्रुशियन सरकार उसे बहुत ख़तरनाक समझती थी, जिसके कारण देश छोड़कर मार्क्स्को विदेशोंमें मारा-मारा फिरना पड़ा। पहिले वह पेरिसमें रहा, फिर ब्रुशेल्स (बेल्-जियम)में। वहाँकी सरकारोंने भी प्रुशियाके नाराज़ होनेके डरसे मार्क्स्को चले जानेको कहा और अन्तमें मार्क्स् १८४९ में लंदन चला गया। उसने बाकी जीवन वहीं बिताया।[1]

मार्कस् दर्शनका विद्यार्थी विश्वविद्यालय हीसे था, और खुद भी एक प्रथम श्रेणीका दार्शनिक था; किन्तु उसके सामाजिक और राजनीतिक विचार इतने उग्र, अद्वितीय और दृढ़ थे, कि उसका नाम जितना एक समाजशास्त्र, अर्थनीति और राजनीतिके महान् विचारकके तौरपर मशहूर है, उतना दार्शनिकके तौरपर नहीं। इसमें एक कारण और भी है। कलाकी भाँति दर्शन भी बैठे-ठाले सम्पत्ति-शालियोंके मनोरंजनका विषय है। वह जिस तरहका दर्शन चाहते हैं, मार्कस्का दर्शन वैसा नहीं है; फिर मार्कस्को वह क्यों दार्शनिकोंमें गिनने लगे ?

---

[1] विशेषके लिए देखो मेरा "मानव समाज।" ४०९–१०

मार्क्स्‌के दर्शनके बारेमें हम खास तौरसे "वैज्ञानिक भौतिकवाद" लिखने जा रहे हैं, इसलिए यहाँ दुहरानेकी जरूरत नहीं है।

(१) मार्क्सीय दर्शनका विकास—आधुनिक युगके अभौतिकवादी यूरोपीय दर्शनोंका चरम विकास हेगेल्‌के दर्शनके रूपमें हुआ, और सारे मानव इतिहासके भौतिकवादी, वस्तुवादी दर्शनोंका चरम विकास मार्क्स्‌के दर्शनमें।

प्राचीन यूनानके युनिक दार्शनिक भौतिक तत्त्वको सभी वस्तुओंका मूल, और चेतनाके लिए भी पर्याप्त समझते थे, इसीलिए उन्हें भूतात्म-वादी[1] कहा जाता था। स्तोइक भी भौतिक तत्त्वसे इन्कार नहीं करते थे, किन्तु भौतिकवादका ज्यादा विकास देमोक्रितु और एपीकुरुने किया, जिनपर कि मार्क्स्‌ने विश्वविद्यालयके लिए अपना निबंध लिखा था। रोमके लुक्रे-शियस्‌ने अपने समयमें भौतिकवादका झंडा नीचे गिरने नहीं दिया। मध्य-युगमें विचार-स्वातंत्र्यके लिए जैसे गुंजाइश नहीं थी, उसी तरह भौतिकवाद-के लिए भी अवकाश नहीं था। मध्ययुगसे बाहर निकलते ही हम युरोपमें बारुच स्पिनोज़ाको देखते हैं, जो है तो विज्ञानवादी, किन्तु उसके विचार ज्यादातर यूनानी भूतात्मवादियोंकी तरहके हैं। इंगलैण्डमें टामस् हॉब्स (१५८८-१६७९)ने भौतिकवादको जगाया। अठारहवीं सदीमें फ्रेंच क्रान्ति (१७९२ ई०)के पहिले जो विचार-स्वातंत्र्यकी बाढ़ आई थी, उसने दी-देरो, हेल्वेशियो, दोलबाश्,[2] लामेत्री, जैसे भौतिकवादी दार्शनिक पैदा किये। उन्नीसवीं सदीमें लुड्विग् फ़्वेरबाख़्‌ने भौतिकवादपर कलम उठाई थी। फ़्वेरबाख़्‌का प्रभाव मार्क्स्‌पर भी पड़ा था। मार्क्स्‌ने हेगेल्‌की द्वन्दात्मक प्रक्रियासे मिलाकर भौतिकवादी दर्शनका पूर्णरूप हमारे सामने पेश किया, और साथ ही दर्शनको कल्पनाक्षेत्रमें बौद्धिक व्यायाम करनेवाला न बना उसका प्रयोग समाजशास्त्रमें किया।

---

[1] Hylozoist हुलो=हेवला, भूत, जोए=जीवन, आत्मा।

[2] इसका मुख्य ग्रंथ Systems de la Nature १७७० में प्रका-शित हुआ।

विज्ञानवादी धारा समाजशास्त्रमें धुंध और रहस्यवाद छोड़ और कुछ नहीं पैदा करती। वह समाजकी व्यवस्थामें किसी तरहका दखल देनेकी जगह ईश्वर, परमतत्त्व, अज्ञेयपर विश्वास, श्रद्धा रखनेकी शिक्षामात्र दे सकती है। लेकिन मार्क्सीय दर्शनके विचार इससे बिल्कुल उलटे हैं। मानव-जातिकी भाँति ही मानव समाज—उसकी आर्थिक, धार्मिक व्यवस्था—प्रकृतिकी उपज है। वह प्रकृतिके अधीन है, और तभी तक अपना अस्तित्व कायम रख सकता है, जबतक प्रकृति उसकी आवश्यकताओंको पूरा करती है। भौतिक उपज—खाना, कपड़ा आदि—तथा उस उपजके साधनोंपर ही मानव-समाज कायम है।

"महान् मानसिक संस्कृति," "भव्य विचार," "दिव्य चिन्तन"—चाहे कैसे ही बड़े-बड़े शब्दोंको इस्तेमाल कीजिए; हैं वह सभी भौतिक उपजकी करतूतें।

"ना कुछ देखा भाव-भजनमें ना कुछ देखा पोथी में।
कहैं कबीर सुनो भाई सन्तो, जो देखा सो रोटी में॥"

अथवा—

"भूखे भजन न होय गोपाला। लेले अपनी कंठी माला॥"

दर्शनके लिए अवसर कब आया? जब कि प्रकृतिपर मनुष्यकी शक्ति ज्यादा बढ़ी, मनुष्यके श्रमकी उपजमें वृद्धि हुई; उसका सारा समय खाने-पहननेकी चीजोंके संपादनमें ही नहीं लगकर कुछ बचने लगा, तथा बैठे-ठाले व्यक्तिके लिए दूसरे भी काम करनेको तैयार हुए। जब इस तरह आदमी कामसे मुक्त रहता है, उसी समय वह सोचने, तर्क-वितर्क करने, योजना बनाने, "भव्य संस्कृति," "ब्रह्म-ज्ञान" पैदा करनेमें समर्थ हो सकता है। और जगहोंकी भाँति समाजमें भी भौतिक तत्व या प्रकृतिही मनकी माँ है, मन प्रकृतिका जनक नहीं।

भौतिकवाद "मानस-जीवन"की विशेषताओंकी व्याख्या जितना अच्छी तरह कर सकता है, विज्ञानवाद वैसा नहीं कर सकता; क्योंकि विज्ञानवाद समझता है, कि विचार या विज्ञानका पृथिवी और उसकी वस्तुओंसे कोई

संबंध नहीं है, वह अपने भीतरसे उत्पन्न होता है। हेगेल् अपने "दर्शन-इतिहास" में कैसी ऊल-जलूल व्याख्या करता है—"यह अच्छा (=शिव), यह बोध....ईश्वर है। ईश्वर जगत्पर शासन करता है। उसके संस्कारका स्वरूप, उसकी योजनाकी पूर्ति विश्व इतिहास है।" बूढ़े ईश्वरने एक ही साथ बाबा आदम, बीबी हौआ, अथवा ऋषि-मुनि, वेश्याएं, हत्यारे, कोढ़ी, पैदा किये; साथ ही भूख और दरिद्रता, आतशक और ताड़ीको पापियों-के दंडके लिए पैदा किया। उन्हें खुद उस तरहका पैदा किया गया हो, कि वह उन पापोंको करें, और फिर न्यायका नाटच किया जाये और उन्हें दंड दिया जाये, क्या मज़ाक है!! और वह भी एक दिनका नहीं, अनादिसे अनन्त कालतक यह प्रहसन-लीला चलती रहेगी। यह है ईश्वर, जिसे कि विज्ञानवादी दार्शनिक फाटकसे नहीं खिड़कीके रास्ते द्रविड़-प्राणायाम द्वारा हमारे सामने रखना चाहते हैं।

यूनानी दार्शनिक पर्मेनिद—इलियातिकोंके नेता—की शिक्षा थी, कि हर एक चीज अचल-अनादि, अनन्त, एकरस, अपरिवर्तनशील, अविभाज्य, अविनाशी है। ज़ेनो (३३६-२४६ ई० पू०) ने वाणके दृष्टान्तको देकर सिद्ध करना चाहा, कि वाण हर क्षण किसी न किसी स्थानपर स्थित है, इसलिए उसकी गति भ्रमके सिवा कुछ नहीं है। इस प्रकार जिसके चलनेको लोग आँखोंसे साफ देखते हैं, उसने उससे भी इन्कार कर स्थिरवादको दृढ़ करना चाहा। इसके विरुद्ध हेराक्लितुको हम यह कहते देख चुके हैं, कि संसारमें कोई ऐसा पदार्थ नहीं जो गतिशील न हो। 'हर एक चीज बह रही है, कोई चीज खड़ी नहीं है' ("पान्त रेह")। उसी नदीमें हम दो बार नहीं उतर सकते, क्योंकि दूसरी बार उतरते वक्त वह दूसरी ही नदी होगी। उसके साथी क्रातिलोने कहा, "उसी नदीमें दो बार उतरना असंभव है, क्योंकि नदी लगातार बदल रही है।" परमाणुवादी देमोक्रितुने गति—खासकर परमाणुओंकी गति—को सभी वस्तुओंका आधार बत-लाया। हेगेल्ने गति तथा भवति (=अ-वर्तमानका वर्त्तमान होना) का समर्थन किया।

(२) **दर्शन**—गति, परिवर्तनवाद हेगेल्के दर्शनका आधार है हेगेल्के इस गतिवादका और संस्कार करके मार्क्स्ने अपने दर्शनकी स्थापना की। विश्व और उसके सजीव—निर्जीव वस्तुओं और समाजको भी दो दृष्टियोंसे देखा जाता है, एक तो पर्मेनिद या ज़ेनोकी भाँति उन्हें स्थिर अचल मानना—स्थिरवाद; दूसरे हेराक्लितु और हेगेल्का गतिवाद (क्षणिक वाद(=क्षण-क्षण परिवर्तनवाद)। प्रकृति स्थिरवादके विरुद्ध है, इसे जैसे राहका सीधा सादा बटोही कह सकता है, वैसे ही आइन्स्टाइन भी बतलाता है। जिन तारोंको किसी समय अचल और स्थिर समझा जाता था, आज उनके बारेमें हम जानते हैं, कि वह कई हजार मील प्रति घंटेकी चालसे दौड़ रहे हैं। पिंडोंके अत्यंत सूक्ष्म अंश परमाणु दौड़ रहे हैं, और उनके भी सबसे छोटे अवयव एलेकट्रन परमाणुके भीतर चक्कर काटते तथा कक्षासे दूसरी कक्षाकी ओर भागते देखे जाते हैं।[1] वृक्ष, पशु आज वही नहीं हैं, जैसा कि उन्हें "ईश्वरने" कभी बनाया था। आजके प्राणी वनस्पति बिल्कुल दूसरे हैं, इसे आप भूगर्भशास्त्रसे जानते हैं। आज कहाँ पता है, उन महान् सरीसृपोंका जो तिमहले मकानके बराबर ऊँचे तथा एक पूरी मालगाड़ी-ट्रेनके बराबर लम्बे होते थे[1]। करोड़ों वर्ष पहिले यह पृथिवी जिनकी थी, आज उनका कोई नामलेवा भी नहीं रह गया। उस समय न आमका पता था, न देवदारका, न उस वक्तके जंगलोंमें हिरन, भेड़, बकरी, गाय, या नीलगायका पता था। बानर, नर-बानर और नर तो बहुत पीछे आये। सर्वशक्तिमान् खुदा बेचारा सृष्टि बनाते वक्त इन्हें बनानेमें असमर्थ था। आज मनुष्य प्रयोग करके इस लायक हो गया है, कि वह यार्कशायरके सूअरों, अनरस-स्ट्राबरी, काले गुलाबको पैदा कर उनकी नसलको जारी रख सकता है।

इस प्रकार इसमें कोई शक नहीं है, कि विश्वमें कोई स्थिर वस्तु नहीं है। मैं जिस चीड़के बक्सको चौकी बनाकर इस वक्त लिख रहा हूँ, वह भी क्षण-

---

[1] देखो "विश्वकी रूपरेखा।"

क्षण बदल रही है, किन्तु बदलना जिन परमाणुओं, एलेक्ट्रनोंके रूपमें हो रहा है, उन्हें हम आँखोंसे देख नहीं सकते। यदि हमारी आँखोंकी ताकत करोड़गुना होती है, तो हम अपनी इस छोटीसी "चौकी"को उड़ते हुए सूक्ष्म कणोंका समूह मात्र देखते। ये कण बहुत धीरे-धीरे, और अलग-अलग समय "चौकी"की सीमा पार करते हैं, इसीलिए चौकीको जीर्ण-शीर्ण होकर टूटनेमें अभी देर लगेगी, शायद तबतक यहाँ देवलीमें रहकर लिखनेकी मुझे जरूरत नहीं रहेगी।

निरन्तर गतिशील भौतिकतत्त्व इस विश्वके मूल उपादान हैं। किसी बाह्य दृश्यको देखते वक्त हमको बाहरी दिखलावटी स्थिरताको नहीं लेना चाहिए, हमें उसे उसके भीतरकी अवस्थामें देखना चाहिए। फिर हमें पता लग जायेगा, कि गतिवाद विश्वका अपना दर्शन है। गतिवादको ही द्वन्दवाद भी कहते हैं।

(क) द्वन्दवाद[1]—हेराक्लितु और हेगेल्—और बुद्धको भी ले लीजिये—गतिवाद, अनित्यतावाद, क्षणिकवादके आचार्य थे, दर्शनकी व्याख्या करते वक्त वे द्वन्दवादपर पहुँचे। हेराक्लितुने कहा—"विरोधिता (=द्वंद्व) सभी सुखोंकी माँ है।" हेगेल्ने कहा "विरोध वह शक्ति है, जो कि चीजोंको चालित करती है।" विरोध क्या है? पहिलीकी स्थितिमें गड़बड़ी पैदा करना। इसे द्वंद्ववाद इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इस वादमें परिवर्तनका कारण वस्तुओं, सामाजिक संस्थाओंमें पारस्परिक विरोध या द्वन्द्वको मानते हैं। हेगेल्ने द्वन्द्ववादको सिर्फ विचारोंके क्षेत्र तक ही सीमित रखा, किन्तु मार्कस्ने इसे समाज और, उसकी संस्थाओं तथा दूसरी जगहोंमें भी एकसा लागू बतलाया। वाद, प्रतिवाद, संवादका दृष्टान्त हम दे चुके हैं।[2] द्वन्द्ववादके इन अवयवोंका उपयोग प्राणिविकासमें देखिए : लंकाशायरमें सफेद रंगके तेलचट्टे जैसे फतिंगे थे। वहाँ मिलें खड़ी हो जाती हैं, जिनके धुएँसे धरती, वृक्ष, मकान सभी काले रंगके हो जाते हैं। जितने तेलचट्टे अब भी

---

[1] Dialectic. [2] देखो "वैज्ञानिक भौतिकवाद" पृष्ठ १४

सफेद हैं, उन्हें उस काली जमीनमें दूरसे ही देखकर पक्षी तथा दूसरे कृमि-भक्षी प्राणी खा रहे हैं, डर है, कि कुछ ही समयमें "तेलचट्टे" नामशेष रह जायेंगे। उसी समय उसी धुएंका एक ऐसा रासायनिक प्रभाव पड़ता है, कि उनमें **जाति-परिवर्तन** होकर स्थायी पुश्तोंके लिए काले तेलचट्टे पैदा हो जाते हैं। धीरे-धीरे उनकी औलाद बढ़ चलती है। इस बीचमें सफेद तेलचट्टे बड़ी तेजीके साथ भक्षक प्राणियोंके पेटमें चले जाते हैं। दस वर्ष बाद लोग प्रश्न करते हैं—"पहिले यहाँ सफेद तेलचट्टे बहुत थे, कहाँ गये वह ? और ये काले फतिंगे कहाँसे चले आये ?" यहाँ भी द्वन्द्ववाद हमारे काम आता है।—(१) सफेद "तेलचट्टा" था, (२) फिर प्रतिकूल परिस्थिति—सभी चीजोंका काला होना—उपस्थिति हुई और परिस्थिति-का उनसे द्वन्द्व चला; (३) अन्तमें जाति-परिवर्तनसे काले तेलचट्टे पैदा हुए, जिनका रंग काली परिस्थितिमें छिप जाता है, और भक्षकोंको उनके ढूँढ़नेमें काफी श्रम और समय लगाना पड़ता है। इसलिए वह बचकर बढ़ने लगते हैं। पहिली अवस्था **वाद**, दूसरी विरोधी अवस्था **प्रतिवाद** है, दोनोंके द्वंद्वसे तीसरी नई चीज जो पैदा हुई, वह **संवाद** है। संवादकी अवस्थामें जो काला फतिंगा हमारे सामने आया है, वह वही सफेद फतिंगा नहीं है—उसकी अगली पीढ़ियाँ सभी काले फतिंगोंकी हैं। वह एक नई चीज, नई जाति है। यह ऊपरी चमड़ेका परिवर्त्तन नहीं बल्कि अन्तस्तमका परिवर्त्तन, आनुवंशिकताका परिवर्त्तन (=जाति-परिवर्त्तन) है। इस परिवर्त्तनको "**द्वन्द्वात्मक परिवर्त्तन**"[1] कहते हैं।

हमने देखा कि गति या क्षणिकवादको मानते ही हम द्वन्द्व या विरोधपर पहुँच जाते हैं। ऊपरके फतिंगेवाले दृष्टान्तमें हमने फतिंगे और परिस्थिति-को एक समय देखा, उस वक्त इन दो विरोधियोंका समागम द्वन्द्वके रूपमें हुआ। गोया द्वन्द्ववाद इस प्रकार हमें विरोधियोंके समागम[2] पर पहुँचाता है। वाद, प्रतिवादका झगड़ा मिटा **संवादमें**, जिसे कि द्वंद्वात्मक परिवर्त्तन

---

[1] Dialectical change. [2] Union of opposits.

हमने बतलाया। यह परिवर्त्तन मौलिक परिवर्त्तन है। यहाँ वस्तु ऊपरसे ही नहीं बल्कि अपने गुणोंमें परिवर्त्तन हो जाती है—जैसे कि अगली सन्तानों तकके लिए भी बदल गये लंकाशायरके तेलचट्टोंने दिखलाया। इसे **गुणात्मक-परिवर्त्तन** कहते हैं। वादको मिटाना चाहता है प्रतिवाद, प्रतिवादका प्रतिकार फिर संवाद करता है। इस प्रकार वादका अभाव प्रतिवादसे होता है, और प्रतिवादका अभाव संवादसे अर्थात् संवाद अभावका अभाव या **प्रतिषेधका प्रतिषेध**[1] है। बिच्छूका बच्चा माँको खाकर बाहर निकलता है, यह कहावत गलत है, किन्तु "प्रतिषेधका प्रतिषेध"को समझनेकेलिए यह एक अच्छा उदाहरण है। पहिले दादी बिच्छू थी, उसको खतम (=प्रतिषेध) कर माँ बिच्छू पैदा हुई, फिर उसे भी खतमकर बेटी बिच्छू पैदा हुई। पहिली पीढ़ीका प्रतिषेध दूसरी पीढ़ी है, और दूसरीका तीसरी पीढ़ी प्रतिषेधका प्रतिषेध है। चाहे विचारोंका विकास हो चाहे प्राणीका विकास, सभी जगह यह प्रतिषेधका प्रतिषेध देखा जाता है।

विरोधि-समागम, गुणात्मक-परिवर्त्तन, तथा प्रतिषेधका प्रतिषेधके बारेमें हम अपनी दूसरी पुस्तक[2]में लिखनेवाले हैं, इसलिए यहाँ इसे इतने पर ही समाप्त करते हैं।

(ख) विज्ञानवादकी आलोचना—विज्ञानवादियोंमें चाहे कान्टको लीजिए या बर्कलेको, सबका जोर इसपर है, कि साइंसवेत्ता जिस दुनिया पर प्रयोग करते हैं, वह गलत है। साइंसवेत्ताकी वास्तविक दुनिया क्या है, इसे जानते ही नहीं, वास्तविक दुनिया (=विज्ञान जगत्) का जो आभास मन उत्पन्न करता है, वह तो सिर्फ़ उसीको जान सकते हैं। वह कार्य-कारणको साबित नहीं कर सकते। लोहासे आपको दागा जा रहा है। आप यहाँ क्या जानते हैं? लोहेका लाल रंग, और बदनमें आँच। रंग और आँचके अतिरिक्त आप कुछ नहीं जानते और यह दोनों मनकी कल्पना है। इस प्रकार साइंसके नियम या संभावनाएं मनकी आदत मात्र हैं।

---

[1] Negation of negation. [2] **"वैज्ञानिक भौतिकवाद" पृष्ठ ७३**

मार्क्स्वादका कहना है: आप किसी चीजको जानते हैं, तो उसमें विचार ज़रूर शामिल रहता है, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि आप लाल और आँच मात्र ही जानते हैं। ज्ञानका होना ही असंभव हो जायगा, यदि वस्तुकी सत्तासे आप इन्कार करते हैं। जिस वक्त आप ज्ञानके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं, उसी वक्त ज्ञाता और ज्ञेयको भी स्वीकार कर लेते हैं; बिना जाननेवाले और जानी जानेवाली चीजके जानना कैसा ? बिना उसके संबंधके हम ख्यालमात्रसे विश्वके अस्तित्वके जानकार नहीं होते; फिर यह अर्थ कैसे होता है, कि आप सिर्फ़ अपने विचारोंके ही जानकार हैं। इन्द्रिय और विषयका जब सन्निकर्ष (=योग) होता है, तो पहिले-पहिल हमें वस्तुका अस्तित्वमात्र ज्ञात होता है—प्रत्यक्षको दिग्नाग और धर्मकीर्तिने भी कल्पना-अपोढ़ (=कल्पनासे रहित) माना है। लाल रंग, और आँच तो पीछेकी कल्पना है, जिसे वस्तुत: प्रत्यक्षमें गिनना ही नहीं चाहिए, प्रत्यक्ष—सारे ज्ञानोंका जनक—हमें पहिले-पहिल वस्तुके अस्तित्वका ज्ञान कराता है। यह ठीक है कि हम विषयको पूर्णतया नहीं जानते, उसके बारेमें सब कुछ नहीं जानते; लेकिन उसके अस्तित्वको अच्छी तरह जानते हैं, इसमें तो शककी गुंजाइश नहीं। इन्द्रिय-साक्षात्कार हमें थोड़ासा वस्तुके बारेमें बतलाता है, और जो बतलाता है वह सापेक्ष होता है। विज्ञानवादमें यदि कोई सचाई हो सकती है, तो यही **सापेक्षता** है, जो कि सभी ज्ञानोंपर लागू है।

प्रकृति बाह्य पदार्थके तौरपर मौजूद है, यह निश्चित है। लेकिन वह पूर्णरूपेण क्या है, यह उसका रहस्य है, जिसका खोलना उसके स्वभावमें नहीं है। हमें वह परिस्थितियोंको बतलाती है, उन परिस्थितियोंके रूपमें हम प्रकृतिको देखते हैं। सभी प्रत्यक्ष विशेष या वैयक्तिक प्रत्यक्ष है, जो कि खास परिस्थितियोंमें होता है। शुद्ध प्रत्यक्ष—विशेष विषय और परिस्थिति से रहित—कभी नहीं होता। हम सदा वस्तुओंके विशेष रूपको ही प्रत्यक्ष करते हैं। हम सीधी छड़ीको पानीमें खड़ा करनेपर वक्र (टेढ़ीमेढ़ी), छोटी या लाल प्रकाशसे प्रकाशित देखते हैं। यह वक्रता, छोटापन

और लाली सिर्फ़ छड़ीका रूप नहीं है, बल्कि उस परिस्थितिमें देखी गई छड़ीके रूप हैं।

अतएव ज्ञान वास्तविकताका आभास है, किन्तु आभासमात्र नहीं है। वह दृष्टिकोण और ज्ञाताके प्रयोजन—इसीलिए ऐतिहासिक विकासकी खास अवस्था—से बिल्कुल सापेक्ष है; देश-कालकी परिस्थितिको हटा कर वस्तुका ज्ञान नहीं हो सकता। "प्रकृतिका ज्ञान होता ही नहीं", और "वह सदा सापेक्ष ही होता है" इसमें उतना ही अन्तर है, जितना "हाँ" और "नहीं" में। मार्क्स्वाद सापेक्ष ज्ञानको बिल्कुल संभव मानता है, जिससे साइंसकी गवेषणाओंका समर्थन होता है; विज्ञानवाद वस्तुकी सत्तासे ही इन्कार करके ज्ञानको असंभव बना देता है, जिससे साइंसको भी वह त्याज्य ठहराता है।

(ग) भौतिकवाद और मन—जब हम विज्ञानवादके गंधर्व-नगरसे नीचे उतरकर जरा वास्तविक जगत्में आते हैं, तो फिर क्या देखते हैं—भौतिक तत्त्व, प्राकृतिक जगत् मनकी उपज नहीं है, बल्कि भौतिक तत्त्वकी उपज मन है। पृथिवी प्रायः दो अरब वर्ष पुरानी है। जीव कुछ करोड़ वर्ष पुराने, लेकिन उन जीवोंके पास "जगत् बनानेवाला" मन नहीं था। मनुष्यकी उत्पत्ति ज्यादासे ज्यादा १० लाख वर्ष तक ले जाई जा सकती है, किन्तु जावा, चीन या नेअन्डर्थल मानवके पास भी ऐसा मन नहीं था, जो "विश्व"को बनाता। विश्व "बनानेवाला" मन सिर्फ़ पिछले ढाई हजार वर्षसे दार्शनिकोंकी पिनक में पैदा हुआ। गोया दो अरब वर्षसे कुछ लाख वर्ष पहिले तक किसी तरहके मनका पता नहीं था, और इस सारे समयमें भौतिक तत्व मौजूद थे। फिर इस हालके बच्चे मनको भौतिक तत्वोंका जनक कहना क्या बेटेको बापका बाप बनाना नहीं है? मूल भौतिकतत्त्वोंसे परमाणु, अणु, अणु-गुच्छक, फिर आरंभिक निर्जीव क्षुद्र पिंड, तथा जीव-अजीवके बीचके **विरस**[1] और बेक्टीरिया जैसे एक सेलवाले अत्यन्त सूक्ष्म सत्त्व बने। एक सेलवाले

---

[1] Virus.

प्राणियोंसे क्रमशः विकास होते-होते अस्थि-रहित, अस्थिधारी, स्तनधारी जीव, यहाँ तक कि कुछ लाख वर्ष पहिले मनुष्य आ मौजूद हुआ। यह सारा सिलसिला यह नहीं बतलाता, कि आरम्भमें मन था, उसने सोचा कि जगत् हो जाये, और उसकी कल्पना जगत् रूपमें देखी जाने लगी। सारा साइंस तथा भूगर्भशास्त्र एवं **विकास** सिद्धान्त हमें यही बतलाते हैं, कि भौतिक तत्त्व प्राणीसे पहिले मौजूद थे, प्राणी बादकी परिस्थितिकी उपज है। मन प्राणीकी भी पिछली अवस्थामें उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार साफ है कि मन भौतिक तत्त्वोंकी उपज है।

उपज होनेका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए, कि मन भौतिक तत्त्व है। भौतिक तत्त्व सदा बदल रहे हैं, जिससे परिस्थितिमें गड़बड़ी, विरोध (=द्वन्द्व) शुरू होता है, जिससे द्वन्द्वात्मक परिवर्त्तन—गुणात्मक-परिवर्त्तन—होता है। गुणात्मक-परिवर्त्तन हो जानेके बाद हम उसे "वही चीज" नहीं कह सकते, क्योंकि गुणात्मक-परिवर्त्तन एक बिल्कुल नई वस्तु हमारे सामने उपस्थित करता है। मन इसी तरहका भौतिकतत्त्वोंसे गुणात्मक-परिवर्तन है। वह भौतिक तत्त्वोंसे पैदा हुआ है, किन्तु भौतिक तत्त्व नहीं है।

त्रयोदश अध्याय

बीसवीं सदीके दार्शनिक

बीसवीं सदीमें साइंसकी प्रगति और भी तेज हुई। मनुष्य हवामें उसी तरह बेधड़क उड़ने लगा है, जिस तरह अबतक वह समुद्रमें "तैर" रहा था। उसके कानकी शक्ति इतनी बढ़ गई है, कि वह हज़ारों मीलों दूरके शब्दों—खबरों, गानों—को सुनता है। उसकी आँखकी ज्योति इतनी बढ़ रही है, कि हज़ारों मील दूरके दृश्य भी उसके सामने आने लगे हैं, यद्यपि इसमें अभी और विकासकी ज़रूरत है। पिछली शताब्दीने जिन शकलों और स्वरोंको अचल पत्थरकी मूर्ति तथा गुफाकी प्रतिध्वनिकी भाँति हमारे पास पहुँचाया था, अब हम उन्हें अपने सामने सजीव-सा चलते-फिरते, बोलते-गाते देखते हैं। अभी हम इसे प्रतिचित्र और प्रति-ध्वनिके रूपमें देख रहे हैं, लेकिन उस समयका भी आरंभ हो गया है, जिसमें आमतौरसे रक्त-मांसके रूपको सीधे अपने सामने सजीवता प्रदर्शन करते देखेंगे। यह सभी बातें कुछ शताब्दियाँ पहिले दैवी चमत्कार, अमानुषिक सिद्धियाँ समझी जातीं थीं।

मनुष्यका एक ज्ञान-क्षेत्र है, और एक अज्ञान-क्षेत्र। उसका अज्ञानक्षेत्र जब बहुत ज्यादा था, तब ईश्वर, धर्मकी बहुत गुंजाइश थी। अज्ञान-क्षेत्रके खंडोंको जब ज्ञानने छीनकर अपना क्षेत्र बनाना चाहा, तो अज्ञान-क्षेत्रके वासियों—धर्म और ईश्वरकी स्थिति खतरेमें पड़ गई। उस वक्त अज्ञान-राज्य की हिमायतकेलिए "दर्शन"का खास तौरसे जन्म हुआ। उसका मुख्य काम था, खुली आँखोंमें धूल झोंकना—नामसे बिल्कुल उल्टा जो बात दर्शनने ईसा-पूर्व सातवीं-छठीं सदीमें अपने जन्मके समयकी थी, वही उसने अब

भी उठा रखा है। इसमें शक नहीं, दर्शनने कभी-कभी धर्म और ईश्वरका विरोध किया है, किन्तु वह विरोध नामका था, वह बदली हुई परिस्थितिके अनुसार "अर्ध तजहिं बुध सर्बस जाता"की नीतिका अनुसरण करनेकेलिए था।

बीसवीं सदीने सापेक्षता, क्वन्तम्के सिद्धान्त, एलेक्ट्रन, न्यूट्रन, एक्स-रे, आदि कितने ही साइंसके क्रान्तिकारी सिद्धान्त प्रदान किये हैं, इसका वर्णन हम "विश्वकी रूपरेखा"में कर चुके हैं। इन सबने ईश्वर, धर्म, परमात्म-तत्त्व, वस्तु-अपने-भीतर, विज्ञानवाद सभीकेलिए खतरा उपस्थित कर दिया है, किन्तु ऐसे संकटके समय दार्शनिक चुप नहीं है। उसके जिस रूपका पर्दा खुल गया है, उससे तो लोगोंको भरमाया नहीं जा सकता; इसलिए धर्म, ईवर, चिरस्थापित आचारका पोषण, उनके ज़रिये नहीं हो सकता। कान्टको हम देख चुके हैं, कैसे बुद्धि-सीमा-पारी वस्तु-अपने-भीतरको मनवाकर उसने धर्म, ईश्वर, आचार सबको हमारे मत्थे थोपना चाहा। यही बात फिख़्टे, हेगेल्, स्पेन्सरमें भी हम देख चुके हैं।

बीसवीं सदीके दार्शनिकोंमें कहीं राधाकृष्णन्के "लौटो उपनिषदोंकी ओर"की भाँति, "लौटो कान्टकी ओर" कहते हुए जर्मनीमें कोहेन, विन्डेल्-वान्ट, हुस्सेर्लको देख रहे हैं; कहीं यूकेन और बर्गसाँको अध्यात्म-जीवन-वाद और सृजनात्मक जीवनवादका प्रचार करते देखते हैं। कहीं विलियम् जेम्सको "प्रभाव (मनुष्यमाप)वाद"[1], बर्टरेंड रसलको भूत और विज्ञान दोनोंसे भिन्न अनुभयवादको पुष्ट करते पा रहे हैं। ये सभी दार्शनिक अतीतके मोहमें पड़े हैं।—"ते हि नो दिवसा गताः"[2] बड़ी बुरी बीमारी है। किन्तु यह सभी बातें दिमागी बुनियादपर नहीं हो रही हैं। मानव समाजके प्रभुवोंके वर्गस्वार्थका यह तकाजा है, कि वह अतीत न होने पाये, नहीं तो वर्तमानकी मौज उनके हाथसे जाती रहेगी।

यहाँ हम बीसवीं सदीके शरीरवाद[3], विज्ञानवाद, द्वैतवाद, अनुभयवाद-का कुछ परिचय देना चाहते हैं।

---

[1]Pragmatism. [2]"हाय! वे हमारे दिन चले गये"। [3]Organism.

§१–ईश्वरवाद

१–ह्वाइटहेड् (जन्म १८६१ ई०)

ए० एन्० ह्वाइटहेड् इंगलैंडके मध्यम श्रेणीके एक धर्म-विश्वासी गणितज्ञ हैं।

दर्शन—ह्वाइटहेड्को इस बातका बहुत क्षोभ है, कि प्रत्यक्ष करनेमें इतनी समृद्ध प्रकृति "शब्दहीन, गंधहीन, वर्णहीन, व्यर्थ ही निरन्तर दौड़ते रहनेवाला भौतिकतत्त्व" बना दी गई। ह्वाइटहेड् अपने दर्शन—शरीरवाद—द्वारा प्रकृतिको इस अधःपतनसे बचाना चाहता है। उसका दर्शन कार्य-गुणों—शब्द, गंध, वर्ण आदि—को ही नहीं, बल्कि मनुष्यके कला, आचार, धर्म संबंधी जीवनसे संबंध रखनेवाली बातोंका समर्थन करना चाहता है, साथ ही अपनेको विज्ञानका समर्थक भी जतलाना चाहता है। हमारे तजर्बे (=अनुभव) सदा साकार घटनाओंके होते हैं। यह घटनाएं अलग-अलग नहीं, बल्कि एक **शरीर**के अनेक अवयवोंकी भाँति हैं। शरीर अपने स्वभावसे सारे अवयव, तत्त्व या घटनाओंको प्रभावित करता है। ह्वाइटहेड् यहाँ **शरीर**को जिस अर्थमें प्रयुक्त करता है, वह सारे वस्तु-सत्य—वास्तविकता—का बोधक है, और वह सिर्फ़ चेतन प्राणी शरीर तक ही सीमित नहीं है। सारी प्रकृतिका यही मूल स्वरूप है। ह्वाइटहेड्के अनुसार भौतिकशास्त्र अतिसूक्ष्म "शरीर" (एलेक्ट्रन, परमाणु आदि),का अध्ययन करता है, और प्राणिशास्त्र बड़े "शरीर"का। ह्वाइटहेड् प्राणी-अप्राणीके ही नहीं मन और कायाके भेदको भी नहीं मानता। मन शरीरका ही एक खास घटना-प्रबंध है, और उसका प्रयोजन है उच्च क्रियाओंका संपादन करना। भौतिकशास्त्रकी आधुनिक प्रगतिको लेते हुए ह्वाइटहेड् मन या कायाको वस्तु नहीं घटनाओं—बदलती हुई वास्तविकता—को विश्वका सूक्ष्मतम अवयव या इकाई मानता है। इकाइयों और उनके पारस्परिक संबंधका योग विश्व है। बड़ी **घटनाएं** छोटी घटनाओंकी अवयवी

(=अवयव वाले) हैं, और अन्तमें सबके नीचे मूल आधार या इकाई परमाणुवाली **घटनाएं** हैं। इस प्रकार ह्वाइटहेड् वास्तविकताको प्रवाह या दीपकलिकाकी भाँति निरन्तर परिवर्त्तनशील मानता है, किन्तु साथ ही आकृति[1] को स्थायी मानकर एक नित्य पदार्थ या अफलातूँके **सामान्यको** साबित करना चाहता है, "न बचनेवाले प्रवाहमें एक चीज है, जो बनी रहती है, नित्यताको नष्ट करनेमें एक तत्त्व है जो कि प्रवाहके रूपमें बँच रहता है।"

जिसे एक वस्तु या व्यक्ति कहा जाता है, वह वस्तुतः घटनाओंका समाज, या व्यवस्थित प्रवाह है, और उसमें कार्यकारण-धारा जारी रहती है। सूक्ष्मतम इकाई, परमाणु आदिकी घटना, विश्वमें सारी दूसरी प्राथमिक—परमाणवीय—घटनाओंसे अलग-थलग नहीं, बल्कि परस्पर-संबद्ध घटनाओंका संगठित परिवार है। और इस पारस्परिक संबंध और संगठनके कारण यह कहा जा सकता है, कि "हर एक चीज हर समय हर जगह है।"[2] प्रत्येक प्राथमिक (=परमाणवीय) **घटना**, अपनेसे पहिलेकी प्राथमिक घटनाकी उपज है, और उसी तरह आनेवाली **घटना**की पूर्वगामिनी है। इस प्रकार प्रत्येक प्राथमिक घटना, प्रवाहरूप होनेपर भी "पदार्थरूपेण अविनाशी" है।

ईश्वर—विश्वका "साथ होना", संबद्ध होना ही ईश्वर है। अलग-अलग वस्तुमें ईश्वर नहीं है, बल्कि वह उनका आधार "शरीर" है। "विश्व पूर्ण एकताके लानेमें तत्पर सान्तोंका बहुत्व है।" ईश्वर "भौतिक बहुत्वकी खोजमें तत्पर दृष्टिकी एकता है, वह वेदना (=एहसास) केलिए बंसी या अंकुशी, तथा इच्छाकी अनन्त भूख है।"

अपने सारे "साइंस-सम्मत" दर्शनका अन्त, ह्वाइटहेड, ईश्वर धर्म और आचारके समर्थनमें करता है। यह क्यों?

---

[1] Form.

[2] **मिलाओ जैन-दर्शन पृष्ठ४९६-७**

२. युकेन् (१८४६-१९२६)

यह जर्मन दार्शनिक था।

युकेनके अनुसार सर्वोच्च वास्तविकता **आत्मिक जीवन**[१], या **सजीव आत्मा** है। यह आत्मिक जीवन प्रकृति (=विश्व)से ऊपर है, किन्तु वह उसमें इस तरह व्याप्त है, कि उसकेलिए सीढ़ीका काम दे सकता है। यह **आत्मिक जीवन** कूटस्थ एकरस नहीं, बल्कि अधिक ऊँची अधिक गंभीर आत्मिकताकी ओर बढ़ रहा है। ऐसी चमत्कारिक (योग जैसी) प्रक्रियाएं हैं, जिनकी सहायतासे मनुष्य **आत्मिक जीवन**का ज्ञान प्राप्तकर सकता है; मनुष्य स्वयं इस **आत्मिक जीवन**की प्रगतिमें सहायक हो सकता है। साइंस, कला, धर्म, दर्शन आदिको अन्तःप्रेरणा इसी **आत्मिक जीवन**की तरफसे मिलती है, और वह उसकी प्रगतिमें भाग लेता है। सत्य मनुष्यकी कृति नहीं है, वह **आत्मिक लोक**में मौजूद है, जिसका मनुष्यको पता भर लगाना है। ऐसे स्वयंसिद्ध, स्वयंभू सत्यकी ज़रूरत है, क्योंकि उसके विना श्रद्धा संभव नहीं है। सत्य मनुष्यकी नाप है, मनुष्य सत्त्यकी नाप नहीं है। सत्त्य बाध्य करके अपने अस्तित्वको मनवाता है। सत्त्य आत्मिक जीवनके अस्तित्वका प्रमाण है। उसका दूसरा प्रमाण यह है, जो कि कष्टके वक्त लोग आत्मिक लोक या स्वर्गिक राज्यकी शरण लेते हैं।

प्रकृति भी उपेक्षणीय नहीं है। इसके भीतर भी काफी बोध है। मनुष्यका मन स्वयं प्रकृतिकी उपज है। तो भी प्रकृति मन (=आत्मा)से नीचे है, अधिक-से-अधिक यही कह सकते हैं कि प्रकृति **आत्मिक जीवन**के मार्गकी पहिली मंज़िल है। **आत्मिक जीवन** प्रकृतिकी उपज नहीं, बल्कि उसका मौलिक आधार तथा अन्तिम लक्ष्य है।

आत्मिक जीवनका ज्ञान साइंस या बौद्धिक तर्क-वितर्कसे नहीं हो सकता, इसके लिए आत्मिक अनुभव—उस **आत्मिक जीवन**की अपने भीतर

---

[१] Spiritual Life.

सर्वत्र उपस्थितिके अनुभव––की ज़रूरत है।

यही **आत्मिक जीवन** ईश्वर है। धर्म मानव जीवनको **आत्मिक जीवन**के उच्च शिखरपर ले जाता है, उसके बिना मनुष्यका अस्तित्व खोखला सारहीन है। यूकेन्‌ने इस प्रकार भौतिकवादके प्रभावको हटाकर दम तोड़ते ईश्वर और धर्मको हस्तावलंब देना चाहा।

§ २–अन्-उभयवाद

१. बेर्गसाँ (१८५९-१९४१ ई०)

फ़्रेंच दार्शनिक था। हाल (१९४० ई०) में जर्मनी द्वारा फ़्रांसके पराजित होनेके बाद उसकी मृत्यु हुई।

बेर्गसाँकी कोशिश है, कि प्रकृति और प्राकृतिक नियमोंको इन्कार किये बिना विश्वकी आध्यात्मिकताको सिद्ध किया जाये। इसके दर्शनकी विशेषता है परिवर्त्तन (=क्षणिकता), क्रिया, स्वतंत्रता, सृजनात्मक विकास[1], स्थिति,[2] आत्मानुभूति। बेर्गसाँके दर्शनको आमतौरसे "परिवर्तनका दर्शन" या "सृजनात्मक विकास" कहते हैं।

(१) **तत्त्व**—बेर्गसाँके अनुसार असली तत्त्व न भौतिक है, न मन (=विज्ञान), बल्कि इन दोनोंसे भिन्न=अन्-उभय तत्त्व है, जिससे ही भौतिक तत्त्व तथा मन दोनों उपजते हैं। यह मूल तत्त्व सदा परिवर्त्तन-शील, घटना-प्रवाह, लहराता जीवन, सदा नये रूपकी ओर बढ़ रहा जीवन है।

(२) **स्थिति**––बेर्गसाँ स्थिति[2]को मानता है, किन्तु स्थिरताकी स्थितिको नहीं बल्कि प्रवाहकी स्थितिको। "स्थिति अतीतकी लगातार प्रगति है, जो कि भविष्यके रूपमें बदल रही है, और जैसे-जैसे वह आगे बढ़ रही है वैसे-ही-वैसे उसका आकार विशाल होता जा रहा है।" इस प्रकार बेर्गसाँ

---

[1] Creative evolution. [2] Duration.

यहाँ खामखाह "स्थिति" शब्दको घसीट रहा है, क्योंकि स्थिति परिवर्तनसे बिल्कुल उलटी चीज है। वह और कहता है—"हमने अपने अत्यन्त बाल्यसे जो कुछ अनुभव किया है, सोचा और चाहा है; वह यहाँ हमारे वर्त्तमान के ऊपर झुक रहा है, और वर्त्तमान जिससे तुरन्त मिलनेवाला है।... जन्मसे लेकर—नहीं, बल्कि जन्मसे भी पहिलेसे क्योंकि अनुवंशिकता भी हमारे साथ है—जो कुछ जीवनमें हमने किया है, उस इतिहासके सारके अतिरिक्त हम और हमारा स्वभाव और है ही क्या? इसमें सन्देह नहीं कि हम अपने भूतके बहुत छोटेसे भागको सोच सकते हैं, किन्तु....हमारी चाह, संकल्प, क्रिया अपने सारे भूतको लेकर होती है।" बेर्गसाँ इसे स्थिति कहता है। यह सारे अतीतका वर्तमानमें साराकर्षण है। स्थितिके कारण सिर्फ़ वास्तविक और निरन्तर परिवर्तन ही नहीं होता, बल्कि प्रत्येक नया परिवर्त्तन, कुछ ताजगी कुछ नवीनता लिए होता है। इसीलिए इसे सृजनात्मक विकास कहते हैं। आध्यात्मिकता (=आत्मतत्त्व) इसी प्रकारकी स्मृतिको कहते हैं; वह इस प्रकारकी निरन्तर क्रिया है, जिसमें कि अतीत वर्त्तमानमें व्याप्त है। कभी-कभी इस क्रियामें शिथिलता हो जाती है, जिससे भौतिक तत्त्व या प्रकृति पैदा होती है। चेतना (=विज्ञान) बाह्यता की अपेक्षाके बिना व्यापनको कहते हैं; और प्रकृति बिना व्यापककी बाह्यताको कहते हैं।

जीवनके विकासकी तीन भिन्न-भिन्न तथा स्वतंत्र दिशायें हैं—वानस्पतिक, पशुबुद्धिक, बुद्धिक, जो कि क्रमशः वनस्पति, पशु और मनुष्यमें पाई जाती है।

(३) **चेतना**—चेतना या आत्मिकताको, बेर्गसाँ स्मृतिसे संबद्ध मानता है, प्रत्यक्षीकरणसे नहीं। चेतना मस्तिष्ककी क्रिया नहीं, बल्कि मस्तिष्कका वह औज़ारके तौरपर इस्तेमाल करता है। "कोट और खूँटी, जिसपर कि वह टँगा है, दोनोंका घनिष्ट संबंध है, क्योंकि यदि खूँटीको उखाड़ दें, तो कोट गिर जायेगा, किन्तु, इससे क्या यह हम कह सकते हैं कि खूँटीकी शकल जैसी होती है, वैसी ही कोटकी शकल होती है?"

(४) **भौतिकतत्त्व**—बेर्गसाँके अनुसार भौतिकतत्त्वोंका काम है जीवन-समुद्रको अलग-अलग व्यक्तियोंमें बाँटना, जिसमें कि वह अपने स्वतंत्र व्यक्तित्त्वको विकसित कर सकें। प्रकृति इस विकासमें बाधा नहीं डालती, बल्कि अपनी रुकावट द्वारा उन्हें और उत्तेजितकर कार्यक्षम बनाती है। प्रकृति एक ही साथ "बाधा, साधन और उत्तेजना" है। जीवन सिर्फ़ समाजमें ही पहुँच सन्तुष्ट होता है। सर्वोच्च और अत्यन्त सजीव मनुष्य वह है "जिसका काम स्वयं ज़बर्दस्त तो है ही, साथ ही दूसरे मनुष्यके कामको भी जो ज़बर्दस्त बनाता है; जो स्वयं उदार है, और उदारताकी अँगीठीको जलाता है।"

(५) **ईश्वर**—जीवनका केन्द्रीय प्रकाश-प्रसरण ईश्वर है। ईश्वर "निरन्तर जीवन-क्रिया, स्वतंत्रता है।"

(६) **दर्शन**—दर्शन, बेर्गसाँके अनुसार, सदासे वास्तविकताका प्रत्यक्षदर्शन—आत्मानुभूति—रहा और रहेगा।—यह बात बिल्कुल शब्दशः ठीक है। आत्मानुभूति[१] द्वारा ही हम "स्थिति", "जीवन", "चेतना" का साक्षात्कार कर सकते हैं। परमतत्त्व[२] तभी अपने आपको हमारे सामने प्रकट करेगा, जब कि हम कर्म करनेके लिए नहीं बल्कि उसके साक्षात्कार करने ही केलिए साक्षात्कार करना चाहेंगे।

इस प्रकार बेर्गसाँके दर्शनका भी अवसान आत्म-दर्शन, और ईश्वर-समर्थनके साथ होता है।

२. बर्टरंड रसल् (जन्म १८७२ ई०)

अर्ल रसल एक अंग्रेज़ लार्ड तथा गणितके विद्वान् विचारक हैं।

रसलका दर्शन "अन्-उभयवाद" कहा जाता है—अर्थात् न प्रकृति मूलतत्त्व है, न विज्ञान, मूलतत्त्व यह दोनों नहीं हैं। यदि दार्शनिक गोलमोल न लिखकर स्पष्ट भाषामें लिखें, तो उन्हें दार्शनिक ही कौन

[१] Intuition. [२] Absolute.

कहेगा। दार्शनिककेलिए जरूरी है, कि वह सन्ध्या-भाषामें अपने विचार प्रकट करे, जिसमें उसकी गिनती रात-दिन दोनोंमें हो सके। रसलके दर्शनको, वह खुद "तार्किक परमाणुवाद", "अनुभयवादी अद्वैतवाद" "द्वैतवाद", "वस्तुवाद" कहता है।

रसल कहीं-कहीं हमारे सारे अनुभवोंका विश्लेषण प्रकृतिके मूलतत्त्व परमाणुओंके रूपमें करता है। दर्शन साइंसका अनुयायी हो सकता है, साइंस-की जगह लेनेका उसका अधिकार नहीं है। वस्तुओं, घटनाओंका बहुत्व विज्ञान और व्यवहार-बुद्धि दोनोंसे सिद्ध है, इसलिए दर्शनको उनसे इन्कारी नहीं होना चाहिए। किन्तु इसका मूल क्या है, इसपर विचार करते हुए रसल कहता है—विज्ञानवादका सारे बाहरी बहुत्वोंको मानसिक कहना ठीक नहीं, क्योंकि यह साइंसका अपलाप है। साथही भौतिकवादके भी वह विरुद्ध है। मूलतत्त्व तरंग—शक्ति या केवल किरण प्रसरण[1] नहीं है। मूलतत्त्व न विज्ञान है, न भौतिक तत्व, वह दोनोंसे अलग "अन्-उभय-तत्त्व" है, लेकिन "अनुभयतत्व" एक नहीं **घटनाओं**की एक किस्म है। या तत्वोंकी एक जाति है। "जगत् अनेक शायद परिसंख्यात, या असंख्य तत्त्वोंका समूह है। ये तत्त्व एक दूसरेके साथ विभिन्न संबंध रखते हैं, और शायद उनके गुणोंमें भी भेद हैं। इन तत्त्वोंमेंसे प्रत्येकको 'घटना' कहा जा सकता है।"

रसलके अनुसार "दर्शन जीवनके लक्ष्यको निश्चित नहीं कर सकता, किन्तु वह दुराग्रहों, संकीर्ण दृष्टिके अनर्थोंसे हमें बचा सकता है।"

§ ३. भौतिकवाद

बीसवीं सदीका समाजवाद जैसे मार्क्स्का समाजवाद है, वैसे ही बीसवीं सदीका भौतिकवाद मार्क्सीय भौतिकवाद है। मार्क्सवादके कहनेसे यह नहीं समझना चाहिए, कि वह स्थिर और अचल एकरस

[1] Radiation.

है। विकास मार्क्स्वादका मूल सूत्र है, इसलिए मार्क्सवादीय भौतिक दर्शन का भी विकास हुआ है। मार्क्स्वाद भौतिक दर्शनके बारेमें हम आगे अपने "वैज्ञानिक भौतिकवाद"में सविस्तर लिखने जा रहे हैं। इसलिए उसे यहाँ दुहरानेकी जरूरत नहीं।

§४–द्वैतवाद

बीसवीं सदीमें नई-नई खोजोंने साइंसकी प्रतिष्ठा और प्रभावको और बढ़ा दिया, इसीलिए केवल बुद्धिवादी दार्शनिकोंकी जगह आज प्रयोग-वादियोंकी प्रधानता ज्यादा है।

विलियम् जेम्स (१८४२-१९१० ई०)—विलियम् जेम्सका जन्म अमेरिकाके मध्यमवर्गीय परिवारमें हुआ था। दर्शन और मनोविज्ञानका वह प्रोफ़ेसर रहा। जिस तरह बुद्धके तृष्णावाद (=क्षय)वादने शोपनहारके दर्शनको प्रभावित किया, उसी तरह बुद्धके अनात्मवादी मनोविज्ञानने जेम्स पर प्रभाव डाला था।

जेम्सको भौतिकवादी तथा विज्ञानवादी दोनों प्रकारके अद्वैतवाद पसन्द न थे। भौतिक अद्वैतवादके विरुद्ध उसका कहना था कि यदि सभी चजें—मनुष्य भी—आदिम नीहारिकाओं या अतिसूक्ष्म तत्त्वोंकी उपज मात्र है, तो मनुष्यकी आचारिक जिम्मेवारी (=दायित्व), कर्म-स्वातंत्र्य, वैयक्तिक प्रयत्न और महत्त्वाकांक्षाएं बेकार हैं। यह स्पष्ट है कि भौतिकवादका विरोध करते वक्त उसके सामने सिर्फ़ यांत्रिक भौतिकवाद था। वैज्ञानिक भौतिक-वाद जिस प्रकार गुणात्मक परिवर्तन द्वारा बिल्कुल नवीन वस्तुके उत्पादनको मानता है, और परिस्थितिके अनुसार बदलती किन्तु और भी बढ़ती जिम्मे-वारियोंको अज्ञान और भयके आधारपर नहीं बल्कि और भी ऊँचे तलपर—ज्ञानके प्रकाशमें—मनुष्य होनेका नाता मानता है, और उसकेलिए बड़ीसे बड़ी कुर्बानी करनेकेलिए आदमीको तैयार करता है इससे स्पष्ट है, कि वह "आचारिक जिम्मेवारियों"की उपेक्षा नहीं करता; किन्तु "आचा-रिक जिम्मेवारियों"से यदि जेम्सका अभिप्राय पुराने आर्थिक स्वार्थों और

उसपर आश्रित समाजके ढाँचेको कायम रखनेसे मतलब है, तो निश्चय ही वह इस तरहकी जिम्मेवारीको उठानेकेलिए तैयार नहीं है। शायद, जेम्सको यदि पिछला महायुद्ध—और खासकर वर्त्तमान युद्ध—देखनेका मौका मिला होता, तो वह अच्छी तरह समझ लेता कि सामाजिक स्वार्थकी अवहेलना करते अन्धी वैयक्तिक लिप्सा—जिसे कर्म-स्वातंत्र्य, प्रयत्न, महत्त्वाकांक्षा आदि जो भी नाम दिया जावे—मानवको कितना नीचे ले जा सकती है।

(१) **प्रभाववाद**[१]—जेम्सके दिलमें साइंसके प्रयत्नों, उसकी गवेषणाओं और सच्चाइयोंके प्रति बहुत सम्मान था, इसलिए वह कोरे मस्तिष्ककी कल्पनाओं या विज्ञानवादको महत्त्व नहीं दे सकता था। उसका कहना था, किसी वाद, विश्वास या सिद्धान्तकी सच्चाईकी कसौटी वह **प्रभाव** या व्यावहारिक परिणाम जो हमपर या जगत्पर पड़ता दिखाई पड़ता है। **प्रभावपर** जोर देनेके ही कारण जेम्सके दर्शनको **प्रभाववाद**[१] भी कहते हैं।

(२) **ज्ञान**—ज्ञान एक साधन है, वह जीवनकेलिए है, जीवन ज्ञानकेलिए नहीं है। सच्चा ज्ञान या विचार वह है, जिसे हम हजम कर सकें, यथार्थ साबित कर सकें, और जिसकी परीक्षा कर सकें।

यह कहना ठीक नहीं है, कि जो कुछ बुद्धिपूर्वक है, वह वस्तु-सत् है। जो कुछ **प्रयोग या अनुभवसे सिद्ध** है, वह वस्तु-सत् है। अनुभवसे हमें सिर्फ़ उसी अनुभवको लेना चाहिए, जो कि कल्पनासे मिश्रित नहीं किया[२] गया, जो शुद्धता और मौलिक निर्दोषितासे युक्त है। वस्तु-सत् वह शुद्ध अनुभव है, जो मनुष्यकी कल्पनासे बिल्कुल स्वतंत्र है, उसकी व्याख्या बहुत मुश्किल है। यह वह वस्तु है, जो कि अभी-अभी अनुभवमें घुस रही है, किन्तु अभी उसका नामकरण नहीं हुआ है; अथवा, यह अनुभवमें कल्पनारहित[२] ऐसी आदिम उपस्थिति है, जिसके बारेमें अभी कोई श्रद्धा

---

[१] Pragmatism.

[२] **"कल्पना-अपोढ"—दिङ्नाग और धर्मकीर्ति।**

या विश्वास उत्पन्न नहीं हो पाया है; जिसपर कोई मानवी कल्पना चिपकाई नहीं गई है।

(३) **आत्मा नहीं**—मानसी वृत्तियों और कायाको मिलानेवाले माध्यम—आत्मा—का मानना बेकार है, क्योंकि वहाँ ऐसे स्वतंत्र तत्त्व नहीं हैं, जिनको मिलानेकेलिए किसी तीसरे पदार्थकी ज़रूरत हो। **वास्तविकता**, एक अंशमें हमारी वेदनाओं[1]का निरन्तर चला आता प्रवाह है, जो आते और विलीन होते ज़रूर हैं, किन्तु आते कहाँसे हैं, इसे हम नहीं जानते; दूसरे अंशमें वह वे संबंध हैं, जो कि हमारी वेदनाओं या मनमें उनके प्रतिबिंबोंके बीच पाये जाते हैं; और एक अंशमें वह पहिलेकी सच्चाइयाँ हैं।

(४) **सृष्टिकर्त्ता . . . . नहीं**—प्रकट घटनाओंके पीछे कोई छिपी हुई **वस्तु नहीं** है, **वस्तु-अपने-भीतर** (वस्तुसार), **परमतत्व**, **अज्ञेय** कल्पनाके सिवा कोई हस्ती नहीं रखते। यह बिल्कुल फजूल बात है, कि हम मौजूद स्पष्ट वास्तविकताकी व्याख्या करनेकेलिए एक ऐसी कल्पित वास्तविकताका सहारा लें, जिसको हम ख्यालमें भीं नहीं ला सकते, यदि हम खुद अपने अनुभवसे ही निकले कल्पित चित्रोंका सहारा न लें। मनसे परे भी सत्ता है, इसे जेम्स इन्कार नहीं करता था लेकिन साथ ही; शुद्ध आदिम अनुभवको वह मनःप्रसूत नहीं बल्कि वस्तु-सत् मानता था—आदिकालीन तत्त्व ही विकसित हो चेतनाके रूपमें परिणत होते हैं।

(५) **द्वैतवाद**—जेम्सका उग्र प्रभाववाद द्वैतवादके पक्षमें था—अनुभव हमारे सामने बहुता, भिन्नता, विरोधको उपस्थित करता है। वहाँ न हमें कहीं पता मिलता है कूटस्थ विश्वका, नहीं परमतत्त्व (=ब्रह्म)-वादियों अद्वैतियोंके उस पूर्णतया संगठित परस्पर स्नेहबद्ध जगत्-प्रबंधका, जिसमें कि सभी भेद और विरोध एक मत हो जायें। अद्वैतवाद, हो सकता है, हमारी ललित भावनाओं और चमत्कार-प्रिय भावुकताओंको अच्छा मालूम हो; किन्तु

[1] Sensations.

वह हमारी चेतना-संबंधी गुत्थियोंको सुलझा नहीं सकता; बल्कि बुराइयों (=पाप)के संबंधकी एक नई समस्या ला खड़ा करता है—अद्वैत शुद्धतत्त्वमें आखिर जीवनकी अशुद्धताएं, शुद्ध अद्वैत विश्वमें विषमताएं—क्रूरताएं कहाँसे आ पड़ीं ? अद्वैतवाद इस प्रश्नके हल करनेमें असमर्थ है, कि कूटस्थ एकरस अद्वैत तत्त्वमें परिवर्त्तन क्यों होता है। सबसे भारी दोष अद्वैत-वादमें है, उसका भाग्यवादी (=नियतिवादी) होना—वह एक है, उसकी एक इच्छा है, वह एकरस है, इसलिए उसकी इच्छा—भविष्य—नियत है। इसके विरुद्ध द्वैतवाद प्रत्यक्षसिद्ध घटनाके प्रवाहकी सत्ताको स्वीकार करता है, उसकी तथता (=जैसा-है-वैसेपन)का समर्थक है, और, कार्य-कारण संबंध(=परिवर्त्तन) या इच्छा-स्वातंत्र्य (=कर्म-स्वातंत्र्य)की पूर्णतया संगत व्याख्या करता है—द्वैतवादमें परिवर्त्तन, नवीनताकेलिए स्थान है।

(६) **ईश्वर**—जेम्स भी उन्नीसवीं सदीके कितने ही उन दब्बू, अधि-कारारूढ़-वर्गसे भयभीत दार्शनिकोंमें हैं, जो एक वक्त सत्यसे प्रेरित होकर बहुत आगे बढ़ जाते हैं, फिर पीछे छूट गये अपने सहकर्मियोंकी उठती अँगु-लियोंको देखकर "किन्तु, परन्तु" करने लगते हैं। जेम्सने कान्टके वस्तु-अपने-भीतर, स्पेन्सरके अज्ञेय, हेगेल्के तत्त्वको इन्कार करनेमें तो पहिले साहस दिखलाया; किन्तु फिर भय खाने लगा कि कहीं "सभ्य" समाज उसे नास्तिक, अनीश्वरवादी न समझ ले। इसलिए उसने कहना शुरू किया—**ईश्वर** विश्वका एक अंग है, वह सहानुभूति रखनेवाला शक्तिशाली मददगार है, तथा महान् सहचर है। वह हमारे ही स्वभावका एक चेतन, आचार-परायण व्यक्तित्वयुक्त सत्ता है, उसके साथ हमारा समागम हो सकता है, जैसा कि कुछ अनुभव(यकायक भगवानसे वार्तालाप, या श्रद्धासे रोगमुक्ति) सिद्ध करते हैं।—तो भी यह ईश्वरवादी मान्यताएं पूर्णतया सिद्ध नहीं की जा सकतीं, लेकिन यही बात किसी दर्शनके बारेमें भी कही जा सकती है।—किसी दर्शनको पूर्णतया सिद्ध नहीं किया जा सकता, प्रत्येक दर्शन श्रद्धा करनेकी चाहपर निर्भर है। श्रद्धाका सार

या समझ महसूस करना नहीं है, बल्कि वह है चाह—उस बातके विश्वास करनेकी चाह, जिसे हम साइंसके प्रयोगों द्वारा न सिद्ध कर सकते और न खंडित कर सकते हैं।

उत्तरार्ध

४–भारतीय दर्शन

४. भारतीय दर्शन

चतुर्दश अध्याय

प्राचीन ब्राह्मण-दर्शन (१०००—६०० ई० पू०)

हम बतला चुके हैं कि दर्शन मानव मस्तिष्कके बहुत पीछेकी उपज है। यूरोपमें दर्शनका आरंभ छठीं सदी ईसा पूर्वमें होता है। भारतीय दर्शनका आरंभ-समय भी करीब-करीब यही है, यद्यपि उसकी स्वप्न चेतना वेदके सबसे पिछले मंत्रोंमें मिलती है, जो ईसा पूर्व दसवीं सदीके के आस-पास बनते रहे।

प्राकृतिक मानव जब अपने अज्ञान एवं भयका कारण तथा सहारा ढूँढ़ने लगा, तो वह देवताओं और धर्म तक पहुँचा। जब सीधे-सादे धर्म-देवता-संबंधी विश्वास उसकी विकसित बुद्धिको सन्तुष्ट करनेमें असमर्थ होने लगे, तो उसकी उड़ान दर्शनकी ओर हुई। प्राकृतिक मानवको यात्राके आरंभसे धर्म तक पहुँचनेमें भी लाखों वर्ष लगे थे, जिससे मालूम होता है कि मनुष्यकी सहज बुद्धि प्रकृतिके साथ-साथ रहना ज्यादा पसन्द करती है। शायद धर्म और दर्शनको उतनी सफलता न हुई होती, यदि मानव समाज अपने स्वार्थोंके कारण वर्गोंमें विभक्त न हुआ होता। वर्ग-स्वार्थको जगत्की परिवर्त्तनशीलता द्वारा परिचालित सामाजिक परिवर्तनसे ज़बर्दस्त खतरा रहता है, इसलिए उसकी कोशिश होती है कि परिवर्तित होते जगत्में अपने-को अक्षुण्ण रक्खे। इन्हीं कारणोंसे पितृसत्ताक समाजने धर्मकी स्थायी बुनि-याद रक्खी, और प्राकृतिक शक्तियों एवं मृत-जीवित प्राणियोंके आतंकसे उठाकर उसे वैयक्तिक देवताओं और भूतोंके रूपमें परिणत किया। शोषक

वर्गकी शक्तिके बढ़नेके साथ अपने समाजके नमूनेपर उसने देवताओं की परम्परा और सामाजिक संस्थाओंकी कल्पना की। यूरोपीय दर्शनोंके इतिहासमें हम देख चुके हैं, कि कैसे विकासके साथ स्वतंत्र होती बुद्धिको घेरा बढ़ाते हुए लगातार रोक रखनेकी कोशिश की गई। लेकिन जब हम दर्शनके उस तरहके स्वार्थपूर्ण उपयोगके बारेमें सोचते हैं, तो उस वक्त यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि दर्शनकी आड़में वर्ग-स्वार्थको मजबूर करनेका प्रयत्न सभी ही दार्शनिक जान-बूझकर करते हैं यह बात नहीं है; कितने ही अच्छी नियत रखते भी आत्म-संमोहके कारण वैसा कर बैठते हैं।

§ १. वेद (१५००–१००० ई० पू०)

"मानव-समाज"में हम बतला आये हैं, कि किस तरह आर्योंके भारतमें आनेसे पूर्व सिन्धु-उपत्यकामें असीरिया (मसोपोतामिया) की समसामयिक एक सभ्य जाति रहती थी, जिसका सामन्तशाही समाज अफ़गानिस्तानमें दाखिल होनेवाले आर्योंके **जन**प्रभावित पितृसत्ताक समाजसे कहीं अधिक उन्नत अवस्थामें था। असभ्य लड़ाकू जन-युगीन जर्मनोंने जैसे सभ्य संस्कृत रोमनों और उनके विशाल साम्राज्यको ईसाकी चौथी शताब्दीमें परास्त कर दिया, उसी तरह इन आर्योंने सिन्धु-उपत्यकोंके नागरिकोंको परास्त कर वहाँ अपना प्रभुत्व १८०० ई० पू०के आसपास जमाया। यह वही समय था, जब कि—थोड़े ही अन्तरसे—पश्चिममें भी हिन्दी-यूरोपीय जातिकी दूसरी शाखा यूनानियोंने यूनानको वहाँके भूमध्यजातीय निवासियोंको हराकर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। यद्यपि एकसे देश या कालमें मानव प्रगतिकी समानताका कोई नियम नहीं है, तो भी यहाँ कुछ बातोंमें हिन्दी-यूरोपीय जातीय दोनों शाखाओं—यूनानियों और हिन्दियों—को हम दर्शन-क्षेत्रमें एक समय प्रगति करते देख रहे हैं; यद्यपि यह प्रगति आगे विषम गति पकड़ लेती है। हाँ, एक विशेषता ज़रूर है, कि समय बीतनेके साथ हिन्दी-आर्योंकी सामाजिक प्रगति रुक गई, जिससे उनके समाज-शरीरको सुखंडी मार गई। इसका यदि कोई महत्त्व है तो यही कि उनका समाज जीवित फोसील बन

गया, आज वह चार हज़ार वर्ष तककी पुरानी बेवकूफियोंका एक अच्छा म्यूज़ियम है, जब कि यूनानी समाज परिस्थितिके अनुसार बदलता रहा—आज जहाँ नव्य शिक्षित भारतीय भी वेद और उपनिषद्के ऋषियोंको ही अनन्तकाल तकके लिए दार्शनिक तत्त्वोंको सोचकर पहिलेसे रख देनेवाला समझते हैं; वहाँ आधुनिक यूरोपीय विद्वान अफलातूँ और अरस्तूको दर्शनकी प्रथम और महत्त्वपूर्ण ईटें रखनेवाले समझते हुए भी, आजकी दर्शन विचार-धाराके सामने उनकी विचारधाराको आरंभिक ही समझता है।

प्राचीन सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यताका परिचय वर्त्तमान शताब्दीके द्वितीयपादके आरम्भसे होने लगा है, जब कि मोहेनजो-डरो, और हड़प्पाकी खुदाइयोंमें उस समयके नगरों और नागरिक जीवनके अवशेष हमारे सामने आये। लेकिन जो सामग्री हमें वहाँ मिली है, उससे यही मालूम होता है, कि मेसोपोतामियाकी पुरानी सभ्य जातियोंकी भाँति सिन्धुवासी भी सामन्तशाही समाजके नागरिक जीवनको बिता रहे थे। वह कृषि, शिल्प, वाणिज्यके अभ्यस्त व्यवसायी थे। ताम्र और पित्तलयुगमें रहते भी उन्होंने काफ़ी उन्नति की थी। उनका एक सांगोपाँग धर्म था, एक तरहकी चित्र-लिपि थी। यद्यपि चित्र-लिपिमें जो मुद्राएं और दूसरी लेख-सामग्री मिली है, अभी वह पढ़ी नहीं जा चुकी है; लेकिन दूसरी परीक्षाओंसे मालूम होता है कि सिन्धु-सभ्यता असुर और काल्दी सभ्यताकी समसामयिक ही नहीं, बल्कि उनकी भगिनी-सभ्यता थी, और उसी तरहके धर्मका ख्याल उसमें था। वहाँ लिंग तथा दूसरे देव-चिह्न या देव-मूर्तियाँ पूजी जाती थीं, किन्तु जहाँतक दर्शनका संबंध है, इसके बारेमें इतना ही कहा जा सकता है कि सिन्धु-सभ्यतामें उसका पता नहीं मिलता। यदि वह होता तो आर्योंको दर्शनका विकास शुरूसे करनेकी जरूरत न होती।

१. आर्योंका साहित्य और काल

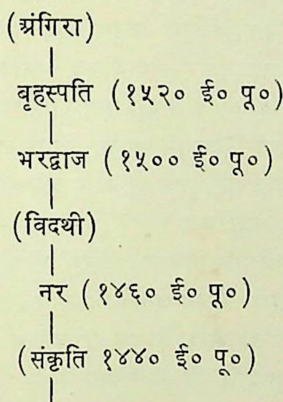
आर्योंका प्राचीन साहित्य वेद, जैमिनि (३०० ई०)के अनुसार मंत्र और ब्राह्मण दो भागोंमें विभक्त है। मंत्रोंके संग्रहको संहिता कहते हैं।

ऋग्, यजुः, साम, अथर्वकी अपनी-अपनी मंत्रसंहिताएं हैं, जो शाखाओं के अनुसार एकसे अधिक अब भी मिलती हैं। बहुत काल तक—बुद्ध (५६३-४८३ ई० पू०)के पीछे तक—ब्राह्मण (और दूसरे धर्मवाले भी) अपने ग्रंथोंको लिखकर नहीं कंठस्थ करके रखते थे; और इसमें शक नहीं, उन्होंने जितने परिश्रमसे वेदके छन्द, व्याकरण, उच्चारण और स्वर तकको कंठस्थ करके सुरक्षित रखा, वह असाधारण बात है। तो भी इसका मतलब यह नहीं कि आज भी मंत्र उसी रूपमें, शुद्धसे-शुद्ध छपी पोथीमें भी, मौजूद हैं। यदि ऐसा होता तो एक ही शुक्ल यजुर्वेद संहिताके माध्यन्दिन और काण्व शाखाके मंत्रोंमें पाठभेद न होता। आर्योंके विचारों, सामाजिक व्यवस्थाओं तथा आरंभिक अवस्थाकेलिए जो लिखित सामग्री मिलती है, वह मंत्र (=संहिता), ब्राह्मण, आरण्यक तीन भागोंमें विभक्त है। वैदिक साहित्य तथा कर्मकाण्डके संरक्षक ब्राह्मणोंके तत् तत् मतभेदोंके कारण अलग-अलग संप्रदाय हो गये थे, इन्हींको शाखा कहा जाता है। हर एक शाखाकी अपनी-अपनी अलग संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक थे; जैसे (कृष्ण) यजुर्वेदकी तैत्तिरीय शाखाकी तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यक। आज बहुतसी शाखाओंके संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक लुप्त हो चुके हैं।

वेदोंमें सबसे पुरानी ऋग्वेद मंत्र-संहिता है। ऋग्वेदके मंत्रकर्ता ऋषियों में सबसे पुराने विश्वामित्र, वशिष्ठ, भारद्वाज, गोतम (=दीर्घतमा), अत्रि आदि हैं। इनमें कितने ही विश्वामित्र, वशिष्ठकी भाँति हैं समसामयिक पर-स्पर, और कुछमें एक दो पीढ़ियोंका अंतर है। अंगिराके पौत्र तथा बृहस्पतिके पुत्र भरद्वाजका समय[1] १५०० ई० पू० है। भारद्वाज उत्तर-पंचाल (=वर्त्त-मान रुहेलखंड)के राजा दिवोदास्के पुरोहित थे। विश्वामित्र दक्षिण-पंचाल (=आगरा कमिश्नरीका अधिक भाग)से संबद्ध थे। वशिष्ठका संबंध कुरु (=मेरठ और अम्बाला कमिश्नरियोंके अधिक भाग)-राजके

[1] देखिए मेरा "सांकृत्यायन-वंश।"

पुरोहित थे। सारा ऋग्वेद छै सात पीढ़ियोंके ऋषियोंकी कृति है, जैसा कि बृहस्पतिके इस वंशसे पता लगेगा--



इनमें बृहस्पति, भारद्वाज, नर और गौरवीति ऋग्वेदके ऋषि हैं। बृहस्पतिसे गौरवीति (=साँकृत्यायनोंके एक प्रवर पुरुष) तक छै पीढ़ियाँ होती हैं। मैंने अन्यत्र[1] भारद्वाजका काल १५०० ई० पू० दिखलाया है, और पीढ़ीके लिए २० वर्षका औसत लेनेपर बृहस्पति (१५२० ई० पू०)से गौरवीति के समय (१४२० ई० पू०)के अंदर ही ऋषियोंने अपनी रचनाएं कीं। ऋषियोंकी परम्पराओंपर नज़र करनेपर हम इसी नतीजेपर पहुँचते हैं कि ऋग्वेदका सबसे अधिक भाग इसी समय बना है। ब्राह्मणों और आरण्यकोंके बननेका समय इससे पीछे सातवीं और छठीं सदी ईसा पूर्व तक चला आता है। प्राचीन उपनिषदोंमें सिर्फ़ एक (ईश) मंत्र-संहिता (शुक्ल यजुर्वेद)का भाग (अन्तिम चालीसवाँ) अध्याय है; बाकी सातों ब्राह्मणोंके भाग हैं, या आरण्यकोंके।

---

[1] देखिए मेरा "सांकृत्यायनवंश।"

ऋग्वेद प्रधानतया कुरु, उत्तर-दक्षिण-पंचाल देशों अर्थात् आजकलके पश्चिमी युक्त-प्रान्तमें बना, जो कि आर्योंके भारतमें आगमनके बाद तीसरा बसेरा है—पहिला बसेरा मंज़िल काबुल और स्वात नदियोंकी उपत्यकाओं (अफ़गानिस्तान)में था, दूसरा सप्त-सिन्धु (पंजाब)में, और यह तीसरा बसेरा पश्चिमी युक्त-प्रान्त या यमुना-गंगा-रामगंगाकी मैदानी उर्वर उपत्यकाओंमें। इतना कहनेसे यह भी मालूम हो जायगा कि क्यों प्रयाग और सरस्वती (घाघर)के बीचके प्रदेशको पीछे बहुत पुनीत, अधिकांश तीर्थोंका क्षेत्र तथा आर्यावर्त्त कहा गया।

वेदसे आर्योंके समाजके विकासके बारेमें जो कुछ मिलता है, उससे जान पड़ता है कि "आर्यावर्त्त"में बस जानेके समय तक आर्योंमें कुरु, पाँचाल जैसे प्रभुताशाली सामन्तवादी राज्य कायम हो चुके थे; कृषि, ऊनी वस्त्र, तथा व्यापार खूब चल रहा था। तो भी पशुपालन—विशेषकर गोपालन, जो कि मांस, दूध, हल चलाना तीनोंकेलिए बहुत उपयोगी था—उनकी आर्थिक उपजका सबसे बड़ा ज़रिया था। चाहे सुवास्तु और सप्तसिंधुके समय—जो कि इससे तीन-चार सदी पहिले बीत चुका था—की ध्वनियाँ वहाँ कहीं-कहीं भले ही मिल जायें, किन्तु उनपर ऋग्वेद ज्यादा रोशनी नहीं डालता। इस समयके साहित्यसे यही पता लगता है, कि आर्यावर्त्तमें बसनेकी आरंभिक अवस्थामें उनके भीतर "वर्ण" या जातियाँ बनने ज़रूर लगी थीं, किन्तु अभी वह तरल या अस्थिर अवस्थामें थीं। अधिक शुद्ध रक्तवाले आर्य ब्राह्मण या क्षत्रिय थे। केवल विश्वामित्र ही राज-पुत्र (=क्षत्रिय) होते ऋषि नहीं हो गए, बल्कि ब्राह्मण भरद्वाजके पौत्रों सुहोत्र और शुनहोत्रकी अगली सारी सन्तानें क्रमशः कुरु और पंचालके क्षत्रिय शासक थीं। भरद्वाजके प्रपौत्र संकृतिका पुत्र रन्तिदेव भी राजा और क्षत्रिय था। इस प्रकार इस समय (=कुरु-पंचालकालमें) जहाँ तक ब्राह्मण क्षत्रियों—शासकों तथा पुरोहितों—का संबंध है, वर्ण-व्यवस्था कर्म पर निर्भर थी। ब्राह्मण क्षत्रिय हो सकता था और क्षत्रिय ब्राह्मण हो सकता था। आगे जिस वक्त राजाओंकी संरक्षकतामें पुस्तैनी पुरोहित—ब्राह्मण—तथा

ब्राह्मणोंके विधानके अनुसार क्षत्रिय आनुवंशिक योद्धा और शासक बनते जा रहे थे; उस वक्त भी सप्तसिन्धु तथा काबुल-स्वातमें ब्राह्मणादि भेद नहीं कायम हुआ। पूरबमें भी मल्ल-वज्जी आदि प्रजातंत्रोंमें भी यही हालत थी, यह हम अन्यत्र[1] बतला चुके हैं। इसी पुरोहित-शाहीके कारण इन देशोंके आर्योंको—जो रक्तमें "आर्यावर्त्त"के ब्राह्मण-क्षत्रियों (=आर्यों)से कहीं अधिक शुद्ध थे—व्रात्य (=पतित) कहा जाता था। किन्तु यह "क्रियाके लोप" या "ब्राह्मणके अदर्शनसे नहीं" था, बल्कि वहाँ वह अपने साथ लाई पुरानी व्यवस्थापर ज्यादा आरूढ़ रहना चाहते थे। आर्योंकि सामन्तवादके चरम विकासकी उपज ब्राह्मणादि भेदको मानना नहीं चाहते थे।

ऋग्वेदके आर्यावर्त्त (१५००-१००० ई० पू०)में, जैसा कि मैं अभी कह चुका, कृषि और गोपालन जीविकार्जनके प्रधान साधन थे। युक्त-प्रान्त अभी घने जंगलोंसे ढँका था, इसलिए उसके वास्ते वहाँ बहुत सुभीता भी था। उस वक्तके आर्योंका खाद्य रोटी, चावल, दूध, घी, दही, मांस—जिसमें गोमांस (बछड़ेका मांस, प्रियतम)—बहुप्रचलित खाद्य थे; मांस पकाया और भुना दोनों तरहका होता था। अभी मसाले और छौंक-बघाड़का बहुत ज़ोर न था। गर्मागर्म सूप (मांसका रस) जो कि हिन्दी-युरोपीय जातिके एक जगह रहनेके समयका प्रधान पेय था, वह अब भी वैसा ही था।[2] सोम (=भाँग)का रस हिन्दी-ईरानी कालसे उनके प्रिय पानोंमें था, वह अब भी मौजूद था। पानके साथ नृत्य उनके मनोरंजनका एक प्रिय विषय था। देशवासी लोहार (=ताम्रकार), बढ़ई (=रथकार), कुम्हार अपने व्यवसायको करते थे। सूत (ऊनी) कातना और बुनना

---

[1] "वोलगासे गंगा" पृष्ठ २१६-१८।

[2] **संकृतिके पुत्र दानी रन्तिदेवके दो सौ रसोइये, प्रतिदिन दो हज़ारसे अधिक गायोंके मांसको पकाकर भी, अतिथियोंसे विनयपूर्वक कहते थे—"सूपं भूयिष्टमश्नीध्वं नाद्य मांसं यथा पुरा।" महाभारत, द्रोण-पर्व ६७।१७,१८। शान्ति-पर्व २९।२८**

प्रायः हर आर्यगृहमें होता था। ऊनी कपड़ोंके अतिरिक्त चमड़ेकी पोशाक भी पहनी जाती थी।

सिन्धुकी पुरानी सभ्यतामें मेसोपोतामिया और मिश्रकी भाँति वैयक्तिक देवता तथा उनकी प्रतिमाएं या संकेत भी बनते थे किन्तु आर्योंको वह पसन्द न थे—खासकर अपने प्रतियोगी सिन्धुवासियोंकी लिंगपूजाको घृणाकी दृष्टिसे देखते हुए, वह उन्हें "शिश्नदेवा:" कहते थे। आर्यावर्त्तीय आर्योंके देवता इन्द्र, वरुण, सोम, पर्जन्य आदि अधिकतर प्राकृतिक शक्तियाँ थे। उनके लिए बनी स्तुतियोंमें कभी-कभी हमें कवित्व-कलाका चमत्कार दिखाई पड़ता है, किन्तु वह सिर्फ़ कविताएं ही नहीं बल्कि भक्तकी भावपूर्ण स्तुतियाँ हैं। वायुकी स्तुति करते हुए ऋषि कहता है[1]—

"वह कहाँ पैदा हुआ और कहाँसे आता है ?
वह देवताओंका जीवनप्राण, जगत्की सबसे बड़ी सन्तान है।
वह देव जो इच्छापूर्वक सर्वत्र घूम सकता है।
उसके चलनेकी आवाज़को हम सुनते हैं, किन्तु उसके रूपको नहीं।"

२. दार्शनिक विचार

(१) ईश्वर—ऋग्वेदके पुराने मंत्रोंमें यद्यपि इंद्र, सोम, वरुणकी महिमा ज्यादा गाई गई है, किन्तु उस वक्त किसी एक देवताको सर्वेसर्वा माननेका ख्याल नहीं था। ऋषि जब भी किसी देवताकी स्तुति करने लगता तन्मय होकर उसीको सब कुछ सभी गुणोंका आकर कहने लगता। किन्तु जब हम ऋग्वेदके सबसे पीछेके मंत्रों (दशम मंडल) पर पहुँचते हैं, तो वहाँ बहुदेववादसे एकदेववादकी ओर प्रगति देखते हैं। सभी जातियोंके देव-लोकमें उनके अपने समाजका प्रतिबिंब होता है। जहाँ आरंभकालमें देवता, पितृसत्ताक समाजके नेता पितरोंकी भाँति छोटे-बड़े शासक थे; वहाँ आगे नियंत्रित सामन्त या राजा बनते हुए, अन्तमें

---

[1] ऋग्वेद १०।१६८।३,४